प्राक्कथन

इस बात पर सभी शिक्षा-शास्त्री एकमत हैं कि मातृभाषा के माध्यम से दी गयी शिक्षा छात्रों के सर्वांगीण विकास एवं मौलिक चिन्तन की अभिवृद्धि में अधिक सहायक होती है। इसी कारण स्वातंत्र्य आन्दोलन के समय एवं उसके पूर्व से ही स्वामी श्रद्धानन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं महात्मा गांधी जैसे देशमान्य नेताओं ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने की दृष्टि से आदर्श शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी देश में शिक्षा सम्बन्धी जो कमीशन या समितियाँ नियुक्त की गयीं, उन्होंने एक मत से इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया।

इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा थी—श्रेष्ठ पाठ्य-ग्रन्थों का अभाव। हम सब जानते हैं कि न केवल विज्ञान और तकनीक, अपितु मानविकी के क्षेत्र में भी विश्व में इतनी तीव्रता से नये अनुसंधानों और चिन्तनों का आगमन हो रहा है कि यदि उसे ठीक ढंग से गृहीत न किया गया तो मातृभाषा से शिक्षा पाने वाले अंचलों के पिछड़ जाने की आशंका है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने इस बात का अनुभव किया और भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में विश्वविद्यालयीन स्तर पर उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रन्थ तैयार करने के लिए समुचित आर्थिक दायित्व स्वीकार किया। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय की यह योजना उसके शत-प्रतिशत अनुदान से राज्य अकादमियों द्वारा कार्यान्वित की जा रही है। मध्य प्रदेश में हिन्दी ग्रन्थ अकादमी की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी है।

अकादमी विश्वविद्यालयीन स्तर की मौलिक पुस्तकों के निर्माण के साथ, विश्व की विभिन्न भाषाओं में बिखरे हुए ज्ञान को हिन्दी के माध्यम से प्राध्यापकों एवं विद्यार्थियों को उपलब्ध करेगी। इस योजना के साथ राज्य के सभी महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय सम्बद्ध हैं। मेरा विश्वास है कि सभी शिक्षा-शास्त्री एवं शिक्षा-प्रेमी इस योजना को प्रोत्साहित करेंगे। प्राध्यापकों से मेरा अनुरोध है कि वे अकादमी के ग्रन्थों को छात्रों तक पहुँचाने में हमें सहयोग प्रदान करें जिससे बिना और विलम्ब के विश्वविद्यालयों में सभी विषयों के शिक्षण का माध्यम हिन्दी बन सके।

जगदीशनारायण अवस्थी

शिक्षा मंत्री,

अध्यक्ष मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

प्रस्तावना

शिक्षण के सम्बन्ध में आधुनिक युग में बहुत से नये प्रयोग किये गये हैं और अब यह विषय सर्वांगपूर्ण शास्त्र का रूप ले चुका है। शिक्षा-मनोविज्ञान, पाठ्यपुस्तक निर्माण, सहायक पाठ्यक्रम, शारीरिक प्रशिक्षण, शाला प्रशासन एवं पर्यवेक्षण आदि सभी शैक्षणिक अंगों पर बराबर नयी खोजें जारी हैं और उनके परिणामस्वरूप नित नयी जानकारी प्राप्त होती जा रही है। स्वयं भारत में अनेकों संस्थाएँ इस दिशा में कार्यरत हैं और पुस्तक निर्माण के कार्य-समूहों (Workshop) से लेकर प्रश्न-पत्र निर्माण तक के लिए प्रायः हर राज्य में वर्कशाप चलते रहे हैं। कई संस्थाएँ केवल भाषा-शिक्षण पर कार्य कर रही हैं और इधर मातृभाषा के शिक्षण के सम्बन्ध में भी बहुत से नये प्रयोग किये गये हैं।

शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार के साथ शाला-पर्यवेक्षण और प्रशासन का काम भी दिन-पर-दिन अधिक महत्व का होता जा रहा है। अब यह कार्य औपचारिक खाना-पूरी का नहीं रह गया है। प्रशासक और पर्यवेक्षक को व्यवस्था और स्तर के उन्नयन में सीधा योग देना पड़ता है। हमारे देश में इस दिशा में जो कार्य हुआ है उसका अधिकांश पश्चिम का अनुकरण है। भारतीय वातावरण, साधनों तथा उद्देश्य को व्यावहारिक रूप देने में संलग्न कार्यकर्ताओं की दृष्टि से यूरोप और अमेरिका से बहुत कुछ भिन्नता है। इसलिए यह आवश्यक है कि भारतीय शालाओं के पर्यवेक्षक और प्रशासक भारतीय परम्पराओं और परिस्थितियों के अच्छे जानकार हों। उनका व्यक्तित्व ईमानदार हो और यदि सम्भव हो तो, समर्पित भी।

श्री मलैया दम्पत्ती का प्रस्तुत ग्रन्थ विषय की व्यापक विवेचना कर अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों को पाठक के समक्ष उपस्थित करता है। श्री के० सी० मलैया और उनकी धर्मपत्नी डा० विद्यावती मलैया को शालाओं के शिक्षण एवं प्रशिक्षण का दीर्घकालीन अनुभव प्राप्त है। आशा है, उनकी यह पुस्तक प्रशिक्षण महाविद्यालयों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

(डा० प्रभुदयालु अग्निहोत्री)
संचालक
मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

खण्ड अ—शिक्षा प्रशासन

खण्ड ब—शिक्षा पर्यवेक्षण

अध्याय | पृष्ठ

खण्ड स—शिक्षा-नियोजन तथा वित्त

खण्ड अ

शिक्षा-प्रशासन

अध्याय १

शिक्षा-प्रशासन—आवश्यकता, महत्व तथा अर्थ

शिक्षा राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य हेतु आवश्यक

लोकतंत्रीय तथा सार्वजनिक शिक्षा वर्तमान युग की विशेषता है। आज शिक्षा सबसे बड़ा राष्ट्रीय प्रतिष्ठान है। वास्तव में उन्नत देशों में तो लगभग एक-चौथाई जनसंख्या शिक्षा से संबंधित कार्यों में संलग्न है। अमेरिका में बच्चों की कुल संख्या का ५२ प्रतिशत भाग माध्यमिक शिक्षा स्तर पर अध्ययन कर रहा है। भारत में भी राष्ट्रीय बजट का लगभग २० प्रतिशत भाग शिक्षा हेतु व्यय किया जाने लगा है। मध्यप्रदेश, केरल तथा अन्य राज्यों में तो राज्य बजट का लगभग ३३ प्रतिशत भाग शिक्षा हेतु व्यय किया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः सभी देशों में, चाहे वे उन्नत हों, विकसित हो रहे हों या अविकसित हों; शिक्षा की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाने लगा है तथा यह अधिक सजगता से अनुभव किया जाने लगा है कि शिक्षा ही विकास की नींव है। यही कारण है कि शिक्षा के माध्यम से ठीक युवकों के बहुमुखी विकास में अधिकाधिक रुचि ली जाने लगी है। शिक्षा में अधिक रुचि लिये जाने का कारण यह है कि जनता में यह विश्वास सुदृढ़ होता जा रहा है कि राष्ट्रीय हित बालक-बालिकाओं को अच्छी तरह शिक्षित करने में ही निहित है। यदि देश में अधिक बच्चों का जीवन सुखी, स्वस्थ तथा संतोषपूर्ण है तो देश का भविष्य निश्चित ही उज्ज्वल होगा।

शिक्षा-प्रशासन की आवश्यकता तथा महत्व

विकसित, विकासशील तथा अविकसित सभी प्रकार के राष्ट्र शिक्षा पर अधिक से अधिक व्यय करने में संलग्न हैं। करोड़ों व्यक्ति बच्चों की शिक्षा से संबंधित कार्यों में जुटे हुये हैं। करोड़ों बच्चे विभिन्न प्रकार की शालाओं में शिक्षा पा रहे हैं। इन सभी कारणों से यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन उत्तम तथा उचित हो जिससे शिक्षा व्यवस्था समुचित रहे। शिक्षा-प्रशासन उत्तम होने से शिक्षा में असमानता नहीं रहेगी। लोकतंत्र में यह अति आवश्यक है कि सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराये जायें। कोई भी क्षमतावान बच्चा शिक्षा से वंचित न रह सके। इसी प्रकार गरीबी, जाति-भेद, लिंग-भेद आदि भी शिक्षा में किसी प्रकार बाधक तत्वों के रूप में न रहें। इन सभी की उचित व्यवस्था हेतु

उत्तम तथा समुचित शिक्षा-प्रशासन अति आवश्यक है। शिक्षा में समानता तथा स्वतंत्रता तभी सम्भव है जबकि शिक्षा प्रशासन उत्तम और समुचित हो। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा प्रशासन उत्तम लोकतांत्रिक तथा समुचित रूप से व्यवस्थित रहे।

लोकतंत्र में राजनीतिक पार्टियाँ अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन तंत्र चलाती हैं। इन राजनीतिक पार्टियों के विचारों, कार्यविधियों, नीतियों आदि में अन्तर भी रहता है तथा समयानुसार इनमें परिवर्तन भी होते रहते हैं। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन ठोस आधारों पर विकसित किया जाये जिससे शासन में राजनीतिक दलों के परिवर्तन से शिक्षा व्यवस्था में कोई अव्यवस्था न आ सके। परिवर्तन के समय में कोई ठोस, व्यवस्थित तथा उत्प्रेरक तत्वों का आधार तथा सहारा अति आवश्यक रहा है। शिक्षा क्षेत्र में उत्तम शिक्षा-प्रशासन ही इस प्रकार का आवश्यक ठोस आधार तथा सहारा प्रदान कर सकता है। इस दृष्टि से भी हम देखते हैं कि उत्तम, व्यवस्थित, ठोस शिक्षा-प्रशासन अति आवश्यक है।

प्रशासन किसी भी संगठन या संस्था को उसके आदर्श तक पहुँचने में सहायक होता है। अतः प्रशासन जिस स्तर का होता है, संगठन या संस्था उतनी ही अधिक कुशलता से कार्यरत रहती है। शालाओं तथा शिक्षण संस्थाओं को व्यवस्थित तथा अपनी सम्पूर्ण क्षमता से कार्यरत रखने के लिये उत्तम शिक्षा-प्रशासन अति आवश्यक है। उत्तम शिक्षा प्रशासन ही शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षकों, अन्य कर्मचारियों, बच्चों तथा जनता सभी को व्यवस्थित तथा समुचित ढंग से कार्यरत रख सकता है। अतः शिक्षण संस्थाओं के समुचित विकास तथा व्यवस्थित रूप से गतिशील एवं कार्यशील रखने के लिये उत्तम शिक्षा-प्रशासन अति आवश्यक है।

शिक्षा-प्रशासन का महत्वपूर्ण कार्य तथा उद्देश्य है—शिक्षा-प्रक्रिया से संबंधित मानवीय साधनों तथा भौतिक साधनों को व्यवस्थित ढंग से कार्यशील करके बालक-बालिकाओं तथा प्रौढ़ों का समुचित विकास करने में सहायक होना। शिक्षा में मानवीय तथा भौतिक दोनों प्रकार के साधन अत्यन्त अधिक संख्या में आवश्यक रहते हैं। जीवन तथा समाज के किसी भी क्षेत्र में इतनी अधिक संख्या में इतने अधिक साधन जुटाना आवश्यक नहीं रहता है। केवल साधन जुटाना ही शिक्षा में आवश्यक नहीं है। इन साधनों में समन्वय भी अति आवश्यक है। शिक्षण प्रक्रिया के विभिन्न तत्वों को जुटाने एवं इनमें समन्वय स्थापना हेतु शिक्षा-प्रशासन अति आवश्यक है। उत्तम शिक्षा-प्रशासन के अभाव में शिक्षा से संबंधित मानवीय तथा भौतिक साधनों में समन्वय एवं उपयोगी उपलब्धि तथा सम्बन्ध सम्भव ही नहीं है।

उत्तम तथा अधिकतम उपलब्धियों हेतु यह आवश्यक है कि किसी भी प्रक्रिया से अपव्यय कीं न्यूनतम किया जाये। शिक्षा-प्रक्रिया में धन, बच्चे, पालक, शिक्षक, पुस्तकें, पाठ्यक्रम, परीक्षण, शिक्षण विधियाँ, ईमारतें, उपकरण, आदि बहुत अधिक संख्या में संलग्न

रहते हैं। उत्तम शिक्षा-प्रशासन के माध्यम से ही इन सभी के अपव्यय को न्यूनतम कर अधिकतम उपलब्धियों की आशा की जा सकती है। इस दृष्टि से भी उत्तम शिक्षा-प्रशासन अत्यन्त आवश्यक है। इन सभी तत्वों को जितने अच्छे ढंग से इकट्ठा किया जायेगा तथा जितना अधिक समन्वय इनमें स्थापित किया जायेगा, शिक्षा-प्रशासन उतना ही अधिक सफल समझा जायेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों तथा प्रौढ़ों की संख्या, राष्ट्रीय धन के व्यय, लोकतंत्र में विभिन्न समयों में विभिन्न राजनीतिक दलों के सत्तारूढ़ होते रहने, अत्यधिक संख्या में मानवीय तथा भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उनमें समन्वय स्थापना करने, शिक्षण प्रक्रिया में अपव्यय को न्यूनतम रखने आदि सभी दृष्टियों से उत्तम शिक्षा-प्रशासन का महत्व एवं आवश्यकता अत्यधिक है। बिना उत्तम शिक्षा-प्रशासन के शिक्षा की समुचित एवं उत्तम व्यवस्था करना सम्भव ही नहीं है। यही कारण है कि वर्तमान में शिक्षा-प्रशासन पर अत्यधिक ध्यान दिया जाने लगा है तथा इसे शिक्षा का आवश्यक तत्व माना जाने लगा है।

शिक्षा-प्रशासन—अर्थ

शिक्षा-प्रशासन सामान्य प्रशासन के विस्तृत क्षेत्र का ही एक भाग है। इसीलिए सामान्य प्रशासन के तत्वों तथा शिक्षा-प्रशासन के तत्वों में समानता रहती है। लोकतंत्र में शिक्षा की उपादेयता तथा महत्व को दृष्टिगत रखते हुए यह अति आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन का स्तर उच्च हो तथा शिक्षा में इसकी उपयोगिता को स्पष्ट समझा जाय।

शिक्षा के क्षेत्र में प्रशासन का अध्ययन नवीन ही है यद्यपि प्रारम्भ से ही व्यवहार में शिक्षा-प्रशासन का उपयोग होता रहा है। सामान्यतः शिक्षा के क्षेत्र में प्रशासन से तात्पर्य शिक्षा-व्यवस्था या शिक्षा-संगठन से रहा है। परन्तु शिक्षा-प्रशासन केवल शिक्षा-व्यवस्था ही नहीं है। इसका संबंध शिक्षा-नियोजन, शिक्षा-संगठन, शिक्षा-निर्देशन, शिक्षा-विधि एवं शिक्षा-पर्यवेक्षण आदि से भी है। शिक्षा-प्रशासन शिक्षा-प्रबन्धकों तथा शिक्षा-उपकरणों से संबंधित है। इसके साथ ही शिक्षा की प्रक्रिया से संबंधित व्यक्तियों, कर्मचारियों तथा अधिकारियों का भी शिक्षा-प्रशासन से संबंध है। शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र विस्तृत है तथा इसके अर्थ भी अनेक हैं। इसके अर्थ में विभिन्नता का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि शिक्षा-प्रशासन के अन्तर्गत शिक्षा-परिषद् के सदस्यों, शिक्षा-विभाग के उच्च शिक्षा-अधिकारियों से लेकर प्रत्येक शाला के शिक्षक, बालक तथा अन्य कर्मचारी आदि सभी सम्बंधित व्यक्तियों का समावेश रहता है।

किसी भी प्रशासनीय कार्य में निम्नलिखित तीन क्रियाएँ शामिल रहती हैं :

(१) योजना तैयार करना तथा नीति निर्धारण करना।

(२) योजनाओं तथा नीतियों को जनता के माध्यम से कार्यान्वित करना ।

(३) योजनाओं तथा नीतियों संबंधी कार्यावलि एवं उपलब्धियों का स्तर उच्च रखना ।

शिक्षा-प्रशासन में भी इन्हीं तीनों क्रियाओं का समावेश रहता है शिक्षा-प्रशासन का संबंध शिक्षा से ही रहता है। शैक्षणिक उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु यह शिक्षा-संबंधी योजनाओं तथा नीतियों का निर्धारण करके उन्हें कार्यान्वित करने की स्थितियों का विकास करता है। शिक्षा-प्रशासन (१) शिक्षा-उद्देश्यों, (२) शिक्षा-संगठन तथा (३) शिक्षा-अभ्यासों संबंधी योजनाओं तथा नीतियों का निर्धारण एवं कार्यान्वियन विशेष रूप से करता है। इन तीनों क्षेत्रों के अतिरिक्त शिक्षा-प्रशासन सेवा में नियुक्त अधिकारियों एवं कर्मचारियों के संबंधों की भी देख-रेख रखता है। योग्य नेतृत्व का चुनाव तथा व्यवस्था, शैक्षणिक कार्यक्रम की रचना, संगठन तथा कार्यान्विति, छात्र-शिक्षक संबंधों की व्यवस्था, शाला के भौतिक साधनों की व्यवस्था, शाला की आर्थिक स्थिति ठीक बनाये रखने हेतु व्यवस्था एवं शिक्षा-शोध आदि अनेक अन्य बातों के संबंध में नीति निर्धारण एवं योजना निर्माण का संबंध भी शिक्षा-प्रशासन से रहता है। इस प्रकार शिक्षा प्रशासन इन विभिन्न प्रकार के क्षेत्रों के संबंध में (१) नीति निर्धारित तथा योजना का निर्माण करता है, (२) इन्हें कार्यान्वित करता है तथा (३) इनकी कार्यान्विति का उचित मूल्यांकन करता है। ये तीनों प्रकार की क्रियाएँ शिक्षा-प्रशासन द्वारा शाला तथा शिक्षा के संबंध में सम्पन्न की जाती हैं।

शिक्षा-व्यवस्था तथा शाला-संचालन संबंधी इन्हीं बातों तथा क्रियाओं को ध्यान में रख कर अनेक विद्वानों ने शिक्षा-प्रशासन की अनेक परिभाषाएं प्रस्तुत की हैं :

फाक्स, विश तथा रफनर ने *School Administration—Principles & Procedures* नामक पुस्तक में शिक्षा-प्रशासन को "सेवा करने वाली ऐसी गतिविधि माना है जिसके माध्यम से शैक्षणिक प्रक्रिया के लक्ष्य प्रभावकारी ढंग से प्राप्त किये जाते हैं।" ("Educational administration is a service activity through which the objectives of the educational process may be effectively realized." p. 2)

मिल्मर ने अपनी पुस्तक *Local Public School Administration* में शिक्षा-प्रशासन का अर्थ व्यक्त करते हुए लिखा है कि "शाला-प्रशासन शाला में नियुक्त कर्मचारियों का चुनाव, नियुक्ति तथा कार्य निर्धारण है तथा शाला संबंधित व्यक्तियों का—कर्मचारीगण, छात्र, परिषद्-सदस्य, समाज के सदस्य—के बीच समन्वय तथा नेतृत्व करना है जिससे उचित तथा सक्षम शिक्षा की दिशा में नीतियों का निर्माण, कार्यान्वयन तथा उन्नयन हो।" ("School administration may be defined as the selection, appointment and assignment of the School's employed personnel and the coordination and leadership of all school-associated personnel—employees, pupils,

Board members, and members of the committee—in creating, executing, and improving policies which make for sound and efficient education." p. 7)

फ्रेंच हल तथा डाडस् ने *American High School Administration* पुस्तक में कहा है कि "शिक्षा प्रशासन अन्य शैक्षणिक, धार्मिक या मानव सेवा करने वाले समाज-सेवा संगठनों के प्रशासन के समान अर्ध-सार्वजनिक स्वरूप का है तथा इसे लोक प्रशासन ही मानना चाहिये।" ("Educational administration, therefore, along with the administration of social service organisations of an educational, religious or philanthropic nature, quasi-public in character may be considered as public administration." p. 19)

ग्राईडर तथा रोसेनस्टेनगेल ने अपनी पुस्तक *Public School Administration* में व्यक्त किया है कि "सार्वजनिक शाला प्रशासन लोक प्रशासन के वृहत क्षेत्र का ही एक अंग है। फिर भी, लोकतंत्र में सभी सार्वजनिक सेवाओं में शिक्षा का महत्व तथा स्वरूप, अद्वितीय है। अतः यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि आदर्श रूप में स्वीकृत शाला प्रशासन के गुणात्मक तत्व, सार्वजनिक शिक्षा के कार्य, प्रक्रियाओं तथा उद्देश्यों के समतुल्य हों।" ("Public school administration is only one part of the vast realm of public administration .....However, the significance and nature of education, among all public services in a democracy, are unique. Therefore, it is of extraordinary importance that the qualitative characteristics of school administration, as it is ideally conceived, should be compatible with the role, the processes, and goals of public education." p. 81)

डा० एस० एन० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक *Secondary School Administration—Its Principles and Functions in India* में शाला प्रशासन के संबंध में लिखा है कि "शिक्षा-प्रशासन वस्तुओं के साथ-साथ मानवीय संबंधों की व्यवस्था से संबंधित है, अर्थात् व्यक्तियों के मिलजुलकर और अच्छा कार्य करने से। वास्तव में, इसका संबंध मानवीय जीवों से अपेक्षाकृत अधिक है तथा अमानवीय वस्तुओं से कम।" ("Educational administration is concerned with the management of things as well as with human relationship, i.e. the better working together of people. In fact, it is more concerned with human beings and less with inanimate things." p. 4)

डा० एस० पी० सुखिया ने अपनी पुस्तक "विद्यालय प्रशासन एवं संगठन" में लिखा है "शिक्षा प्रशासन का अर्थ, शिक्षा के लिए संचालित संस्थाओं अथवा विद्यालयों के लिए उनके उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु आवश्यक सभी साधनों, सामग्रियों, परिस्थितियों एवं व्यक्तियों का सुसंगठन कर शिक्षा प्रक्रिया की समुचित व्यवस्था करना है।"

एल० एस० चन्द्रकान्त ने *The Education Quarterly* (September, 1957) में व्यक्त किया है कि "यद्यपि प्रशासन की कोई एक स्वीकृत परिभाषा नहीं है फिर भी इसका संबंध व्यक्तियों के अपने समूह से संबंध रखने तथा उनकी क्रियाओं के समन्वय से रहता है।"

मोर्ट महोदय ने कहा है कि "शाला-प्रशासन का उत्तरदायित्व है कि वह जीवन के मौलिक प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर कार्य करे। शिक्षा-प्रशासन का कार्य दार्शनिकों के चिन्तन तथा सामान्य प्रगति के बीच सेतु बनने का है।"[१]

शिक्षा-प्रशासन के संबंध में उपर्युक्त विचारों पर ध्यान देने से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(१) शिक्षा-प्रशासन सामान्य प्रशासन का अंग है।

(२) शिक्षा-प्रशासन का संबंध शिक्षा संबंधी योजनाओं तथा नीतियों के निर्माण, कार्यान्विति तथा शिक्षा से संबंधित व्यक्तियों का समुचित विकास करने से है।

(३) शिक्षा-प्रशासन ऐसी गतिविधि है जिसके माध्यम से शैक्षणिक प्रक्रिया के लक्ष्य प्रभावी ढंग से प्राप्त किये जा सकते हैं।

(४) शिक्षा-प्रशासन वस्तुओं के साथ-साथ मानवीय संबंधों की व्यवस्था से है।

(५) शिक्षा-प्रशासन अन्य क्षेत्रों के प्रशासन से भिन्न है क्योंकि इसमें शिक्षा क्षेत्र में कार्य करने वालों के व्यक्तित्व विकास का भी ध्यान रखना पड़ता है। अन्य क्षेत्रों के प्रशासन में केवल स्वस्थ एवं उन्नत परिस्थितियाँ रखना ही पर्याप्त रहता है।

(६) शिक्षा-प्रशासन का कार्य शिक्षा-दार्शनिकों के चिन्तन तथा शिक्षा संबंधी सामान्य प्रगति के बीच सेतु बनने का है।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा-प्रशासन सामान्य सार्वजनिक प्रशासन का एक अंग है तथा इसका संबंध शिक्षा संबंधी नीतियों का निर्धारण एवं योजनाओं का निर्माण और कार्यान्विति इस दृष्टि से करना है जिससे शैक्षणिक प्रक्रिया उत्तम ढंग से चल सके। साथ ही साथ इससे शैक्षणिक प्रक्रिया में संलग्न व्यक्तियों के आपसी संबंध उन्नत हों तथा उनके व्यक्तित्व का विकास भी हो। शिक्षा-प्रशासन एक ऐसा साधन है जो शिक्षा संबंधी दार्शनिक चिन्तन की ओर प्रगति करने हेतु वर्तमान वास्तविक शैक्षणिक गतिविधियों को उत्प्रेरणा देता है।

---

[1] Mort, *Principles of School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1946, pp. 1-8.

अध्याय २

शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र एवं उद्देश्य

भारत तथा अन्य सभी विकसित तथा विकासशील देशों में जब शिक्षित किये जा रहे बालकों तथा इनकी शिक्षा पर किये जा रहे व्यय पर विचार किया जाता है तब यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एक बृहत् औद्योगिक प्रयास है। शिक्षा के क्षेत्र में लाखों शिक्षक, प्राचार्य, निरीक्षक तथा अन्य कर्मचारी कार्यरत हैं। इनके अतिरिक्त शिक्षा परिषदों तथा शिक्षा विभाग के प्रशासनीय कार्यों में भी लाखों व्यक्ति सेवारत हैं। समाज के लाखों-करोड़ों व्यक्ति शिक्षा की व्यवस्था तथा संचालन के लिए कर देते हैं तथा करोड़ों बच्चों के पालकों के रूप में कार्यरत हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कोई भी निजी या शासकीय उद्योग समाज के इतने अधिक सदस्यों से संबंधित नहीं है और न इतने अधिक व्यक्तियों को अपने क्षेत्र में संलग्न किये हुए है। आर्थिक दृष्टि से यदि विचार किया जाये तब भी यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा एक बहुत बड़ा उद्योग है। विभिन्न राष्ट्र शिक्षा पर अपनी सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का २० से ३० प्रतिशत तथा अधिक भी व्यय करते हैं। राष्ट्रीय स्तर पर इस व्यय के अतिरिक्त पालक गण और भी व्यय करते हैं। शाला-इमारतों तथा उपकरणों के रूप में शिक्षा के क्षेत्र में लगी सम्पत्ति तो बहुत ही अधिक है। सन् १९४५-४६ में अमेरिका में यह सम्पत्ति ८,२००,०००,००० डालर[1] आँकी गयी थी। वर्तमान में तो यह सम्पत्ति और भी अधिक हो गयी है। प्रत्येक राष्ट्र में शालाओं तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं में दर्ज संख्या द्रुतगति से बढ़ रही है। अतः स्वाभाविक है कि शिक्षा बजट में वृद्धि हो। भारत में प्रयास किये जा रहे हैं कि देश के प्रत्येक भाग में शाला स्थापित हो जाय।

शिक्षा-प्रशासन अपने सरलतम रूप में अनेक शिक्षकों की गतिविधियों को एक निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर उन्मुख करता है और उन कार्यों को सम्पन्न कराता है। इस प्रकार एक क्षेत्र में कार्य करने वाले अनेक व्यक्तियों की क्रियाओं को किसी सामान्य लक्ष्य की ओर उन्मुख किया जाता है। परन्तु अपने जटिल रूप में शिक्षा-प्रशासन के अन्तर्गत शिक्षा नियोजन,

---

1 Benjamin Floyd Pittanger, *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, p. 9. Quoted from *Statistics of State School Systems*, pp. 13 and 79.

विभिन्न स्तरों पर शिक्षा की व्यवस्था, एक ही स्तर पर विभिन्न योग्यता वालों को विभिन्न कार्यों में संलग्न करना, निर्देशन देना तथा आवश्यकतानुसार शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों की गतिविधियों तथा कार्यों को समन्वित करना सम्मिलित है। शिक्षा-प्रशासन के ये कार्य सदियों के अभ्यास के बाद विकसित हुए हैं। इनमें से शिक्षा-प्रशासन के अनेक कार्य अभ्यास तथा भूल के नियम के अनुसार अनुभव द्वारा विकसित हुए हैं। पिछले १०० वर्षों से तो शिक्षा-प्रशासन का विधिवत् अध्ययन प्रारम्भ हो गया है तथा इसे एक अनुशासन के रूप में मान्य किया जाने लगा है।

शिक्षा का संबंध जीवन से रहता है तथा उसमें मानवीय तथा भौतिक दोनों पक्ष शामिल हैं। इसीलिए शिक्षा-प्रशासन में शिक्षा के मानवीय पक्ष जैसे शिक्षक, बालक, पालक तथा भौतिक पक्ष जैसे शाला-इमारत, वित्त, खेल के मैदान, साज-सज्जा आदि दोनों का समावेश होता है। शिक्षा-प्रशासन शिक्षा के मानवीय तथा भौतिक साधनों की समुचित व्यवस्था से संबंधित रहता है। इन दोनों प्रकार के साधनों के अतिरिक्त समाज के विचार, आदर्श, आवश्यकताएँ, शिक्षण-प्रक्रिया में शोध या अनुभव के आधार पर विकास-पाठ्यक्रम आदि का अत्यन्त अधिक प्रभाव शिक्षा पर पड़ता है। अतः शिक्षा-प्रशासन का कार्य इन सभी में समन्वय स्थापित करना भी रहता है।

शिक्षा-प्रशासन—कला

ग्लेडन महोदय का कथन है कि "कला से मानवीय कौशल का बोध होता है। इसमें यद्यपि ज्ञान अपेक्षित रहता है तथापि इसमें सिद्धान्त की अपेक्षा अभ्यास पर अधिक जोर रहता है।"[1] शिक्षा-प्रशासन इस दृष्टि से अपने सार्वजनिक कार्यों को मस्तिष्क तथा प्राप्त साधनों से सम्पन्न करता है। वह शिक्षा से संबंधित व्यक्तियों को निर्देश देता है तथा शिक्षण-प्रक्रिया को अच्छी तरह पूर्ण करने की प्रेरणा देता है। *Public Administration* में व्हाइट महोदय ने व्यक्त किया है कि "प्रशासन की कला किसी ध्येय या उद्देश्य की प्राप्ति हेतु निर्देशन, सहयोग तथा नियंत्रण है।"[2] सामान्य प्रशासन के अनुरूप शिक्षा-प्रशासन में भी कला की आवश्यकता होती है। शिक्षा-प्रशासन में भी बुद्धिमानी तथा चतुराई से निर्देशन, सहयोग तथा नियंत्रण आदि करना आवश्यक रहता है। शिक्षा-प्रशासन में दक्ष होने के लिए चातुर्य, अभ्यास तथा परिश्रम की आवश्यकता होती है। शिक्षा-प्रशासन की क्रिया गतिशील भी है। जैसे-जैसे साधनों, अभ्यास तथा ज्ञान का अधिक विकास होता जाता है, वैसे-वैसे शिक्षा-प्रशासन में भी निपुणता का विकास होता जाता है। कुशल शिक्षा-प्रशासन अपनी परिवर्तित स्थितियों तथा अनुभवों से लाभान्वित होने के लिए तत्पर रहता है तथा अन्य

---

[1] Gladden, "An art presupposes human skill, and although, it calls for knowledge, its emphasis is upon practice rather than theory."

[2] White L. D., *Public Administration*, p. 4. "The art of administration is the direction, coordination and control of many persons to achieve some purpose or objective."

कलाकारों की भाँति अभ्यास तथा अनुभव से दक्षता और निपुणता का विकास करता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रशासक निर्मित नहीं किये जाते वरन् जन्म से ही उनमें प्रशासकीय क्षमताएँ रहती हैं। परन्तु यह सिद्धान्त वर्तमान समय में मनोविज्ञान की शोधों के आधार पर अमान्य किया जाने लगा है। मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव प्रवृत्ति का दास होकर ही कार्य नहीं करता है वरन् परिस्थितियों तथा समय के अनुसार उसे काय करना पड़ता है। अंग्रेजी के महान कवि शेक्सपियर ने भी कहा है "Some are born great, some achieve greatness and some have greatness thrust upon them." इसी तरह कला भी अनुभव, अभ्यास, ज्ञान-वृद्धि आदि से विकसित होती है।

शिक्षा-प्रशासन वैज्ञानिक प्रक्रिया के रूप में

विज्ञान में नियमानुकूल निरीक्षण किया जाता है, विधिवत् अध्ययन करके निष्कर्ष निकाले जाते हैं। थामसन महोदय ने कहा है कि "All knowledge communicable and variable, which is reached by methodical observation, experiment and which admits of concise, consistent and connected formulation" is Science.

शिक्षा-प्रशासन में भी शिक्षा-क्षेत्र के प्रशासन से सम्बंधित बातों या ज्ञान को एकत्र कर उसको एक साथ विश्लेषित, सम्बद्ध तथा व्यवस्थित किया जाता है। शिक्षण-प्रक्रिया का वैज्ञानिक अध्ययन, मनोविज्ञान के अनेक सिद्धान्तों का उपयोग, शिक्षा-प्रशासन के प्रभावों की जाँच, शालाओं का परीक्षण आदि सभी कार्य वैज्ञानिक ढंग से किये जाते हैं। शिक्षा एक समाज-शास्त्र है तथा समाज-शास्त्रों का अध्ययन क्रमबद्ध रूप से किया जाता है। इसलिए शिक्षा तथा शिक्षा-प्रशासन विज्ञान की भाँति उन्नत हो रहे हैं।

शिक्षा-प्रशासन-कौशल का विकास पूर्वजों तथा उच्च अधिकारियों के अनुभवों से होता है। शिक्षा-प्रशासन के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान के बिना कोई भी शिक्षा प्रशासक अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों का समुचित रूप से निर्वाह नहीं कर सकता है। हेलन, लार्ड मिलवर आदि का विचार है कि प्रशासन की शिक्षा उसी प्रकार दी जा सकती है जिस प्रकार बच्चों को शालाओं में शिक्षा दी जाती है।

शिक्षा-प्रशासन के उद्देश्य तथा कार्य

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका में "प्रशासन" शब्द का अर्थ "कार्यों का प्रबन्ध या उनको पूरा करना"[1] दिया गया है। शिक्षा-प्रशासन सामान्य प्रशासन का ही एक अंग है। अतः शिक्षा-प्रशासन का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा संबंधी कार्यों का प्रबन्ध करना या इन्हें पूरा करना है। शिक्षा के द्वारा बालक, बालिकाओं, प्रौढ़ या युवकों को समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप विकसित किया जाता है। अतः शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य समाज के बच्चों के

[1] Encyclopaedia Britannica, Vol. I, p. 150.

समुचित विकास की स्थितियाँ प्रस्तुत करना तथा शिक्षा क्षेत्र में कार्य कर रहे व्यक्तियों को अपने कार्य को पूर्ण करने में समुचित तथा आवश्यक सहायता प्रदान करना है। ग्रेहम बेल्फोर ने लिखा है कि शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य सही बालकों को सही प्रकार के शिक्षकों से, राज्य के उपलब्ध साधनों के अन्दर उसके खर्च से, सही शिक्षा लेने योग्य बनाना है जिससे बालक अपनी शिक्षा से लाभान्वित होने योग्य हों।"[1] इस दृष्टि से यदि शिक्षा-प्रशासन के उद्देश्यों पर विचार किया जाये तो यह पता चलता है कि शिक्षा-प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण उद्देश्य शैक्षणिक कार्यक्रम के विभिन्न भागों तथा अंगों को समन्वित करना है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय War Man-power Commission ने प्रशासनीय नेतृत्व के चार प्रमुख सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों को व्यक्त किया था। ये उद्देश्य तथा सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

(१) प्रत्येक व्यक्ति को यह स्पष्ट होना चाहिए कि उसकी क्या स्थिति है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पूर्ण क्षमता के अनुरूप कार्य करने के अवसर उपलब्ध कराना।

(३) जहाँ आवश्यक है वहाँ श्रेय देना तथा प्रशंसा करना।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को उसे प्रभावित करने वाले परिवर्तनों से परिचित कराना।

War Man-power Commission के द्वारा बतलाये उपरोक्त चारों सिद्धान्तों को यदि शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में लागू किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य शिक्षा से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति को उसकी स्थिति स्पष्ट करना, उसकी सम्पूर्ण क्षमता के अनुरूप कार्य करने के अवसर प्रदान करना, आवश्यकतानुसार उसकी प्रशंसा करना तथा श्रेय देना तथा व्यक्ति को प्रभावित करने वाले परिवर्तनों से उसे परिचित कराना है।

लूथर गूलिक (Luther Gulick) अमेरिकी जन-प्रशासन विज्ञान का बहुत बड़ा विद्वान माना जाता है। उसने प्रशासन के कार्यों का अत्यन्त सुन्दर विश्लेषण किया है। इस विश्लेषण को POSDCORB[2] कहते हैं। इस शब्द के प्रत्येक अक्षर एक निश्चित कार्य के लिये हैं। इसके अनुसार प्रशासन के सात कार्य हैं। इन कार्यों को शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में भी मान्य किया जा सकता है तथा इन कार्यों के आधार पर शिक्षा-प्रशासन के उद्देश्य निश्चित किये जा सकते हैं, जो निम्नानुसार होंगे :

---

[1] Sir Graham Balfour—"The purpose of educational administration is to enable the right pupils to receive the right education from the right teachers, at a cost within the means of the State, which will enable the pupils to profit by their learning."

[2] Planning, Organising, Staffing, Directing, Coordinating, Reporting, Budgeting.

(१) **नियोजना**—शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य शिक्षा संबंधी योजनाओं की रूपरेखा तैयार करके उन्हें कार्यान्वित करने की विधियाँ निश्चित करना है।

(२) **व्यवस्था**—शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य ऐसी सत्ता की स्थापना करना है जिसके माध्यम से शिक्षा-क्षेत्र के कार्यक्रम सुचारु रूप से चल सकें।

(३) **स्टाफ नियुक्ति**—शिक्षा-क्षेत्र के सभी कार्यकर्ताओं की नियुक्ति, प्रशिक्षण, सेवा-शर्तों, कार्य की अनुकूल स्थितियों के विकास आदि की व्यवस्था करना।

(४) **निर्देशन**—शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्ताओं को आवश्यकतानुसार निर्णय तथा सलाह देकर आवश्यक निर्देशन देना जिससे शिक्षा संबंधी कार्यक्रम व्यवस्थित एवं सुचारु रूप से चल सकें।

(५) **समन्वय**—शिक्षा-क्षेत्र के विभिन्न कार्यक्रमों को समन्वित करना।

(६) **सूचना**—शिक्षा-व्यवस्थापकों तथा समाज के सदस्यों को शिक्षा संबंधी सभी गतिविधियों की समय-सयय पर सूचना देना। इस हेतु अभिलेख तैयार कराना, निरीक्षण करना तथा शोध करना आवश्यक है। अतः शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य इन तीनों प्रकार की गतिविधियों को उचित ढंग से व्यवस्थित करना है।

(७) **बजट**—शिक्षा संबंधी कार्यक्रमों की व्यवस्था के लिए आवश्यक अर्थ-व्यवस्था, लेखा-जोखा तथा नियंत्रण की व्यवस्था करना है।

सीयर्स ने अपनी पुस्तक *The Nature of the Administrative Process with Special Reference to Public School Administration* में व्यावसायिक तथा सरकारी प्रशासन के उद्देश्यों तथा सिद्धान्तों को शिक्षा तथा शाला प्रशासन में अपनाने के लिए प्रयास किये हैं। उसने फेयल के पाँचों कार्यों को अपनाया है।[1] सीयर्स ने प्रत्येक कार्य को उद्देश्य, सिद्धान्त, प्रक्रिया तथा लोकतंत्रीय सामाजिक ढाँचा में लोक-शिक्षा तथा शिक्षा-प्रशासन आदि के संदर्भ में स्पष्ट किया है। सीयर्स का कथन है कि हमें प्रशासन को शैक्षणिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन के रूप में मानना चाहिये।[2] ("This means that we are to regard administration as a means to educational ends...")। इसके साथ-साथ सीयर्स का कथन है कि प्रत्येक प्रशासनीय निर्णय तथा प्रत्येक कार्य शैक्षणिक आवश्यकताओं के अनुरूप लेना अति आवश्यक है।[3] ("...we will make every administrative decision and shape every action in terms of the educational

[1] सीयर्स ने फेयल के "Command" शब्द के स्थान में "Directing" शब्द अपनाया है। परन्तु साथ में यह भी व्यक्त किया है कि दोनों का अर्थ समान है।

[2] Jesse B. Sears, *The Nature of the Administrative Process with Special Reference to Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1950, p. 24.

[3] *Ibid.*, p. 24.

need.") सीयर्स यह भी चाहता है कि प्रशासन का उद्देश्य उचित कार्य को प्रोत्साहित करना तथा गलत कार्य को रोकना भी होना चाहिये। इस प्रकार सीयर्स ने शिक्षा-प्रशासन के निम्नलिखित तीन उद्देश्यों पर अधिक बल दिया है :

(१) शिक्षा-प्रशासन को शैक्षणिक उपलब्धियों का साधन बनाना ।

(२) शैक्षणिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा-प्रशासन के प्रत्येक निर्णय लेना तथा कार्य करना ।

(३) उचित कार्य को प्रोत्साहित करना तथा गलत कार्य को रोकना ।

शिक्षा-प्रशासन के उद्देश्यों तथा कार्यों संबंधी उपरोक्त विवेचना के आधार पर शिक्षा-प्रशासन के निम्न उद्देश्य तथा कार्य मान्य किये जा सकते हैं :

(१) शिक्षा-प्रशासन की व्यवस्था संबंधी उद्देश्य निश्चित करना ।

(२) शिक्षा संबंधी प्रत्येक संगठन के लिये अलग-अलग प्रशासनीय नेतृत्व व्यवस्थित करना ।

(३) शिक्षा-क्षेत्र के प्रत्येक कार्यकर्त्ता को उसके अधिकार तथा उत्तरदायित्वों से परिचित कराना ।

(४) शिक्षा क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करना, प्रशिक्षण देना, सेवा शर्तें आदि निश्चित करना ।

(५) शिक्षा-क्षेत्र के प्रत्येक कर्मचारी, छात्र, पालक आदि में सुरक्षा की भावना विकसित करना ।

(६) शिक्षा संबंधी विभिन्न गतिविधियों, कार्यक्रमों, योजनाओं आदि में समन्वय स्थापित करना ।

(७) शिक्षा संबंधी कार्यक्रमों, योजनाओं, गतिविधियों आदि में स्थायित्व लाना जिससे इनका समुचित मूल्यांकन किया जा सके ।

(८) शिक्षा-व्यवस्था में पर्याप्त लोच विकसित करना जिससे शिक्षा कार्यक्रमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके ।

(९) शिक्षा-प्रशासन को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए कार्य-प्रणाली को प्रमाणिक बनाना ।

(१०) शिक्षा-कार्य में श्रम-विभाजन कर अधिकतम अनुरूपता तथा सामंजस्य विकसित करना ।

(११) शिक्षा संबंधी उत्तरदायित्वों को ग्रहण करना या स्वीकार करना तथा उनका उचित निर्वाह भी करना ।

(१२) शिक्षा-प्रशासन विधि, नीतियों तथा उद्देश्यों के अनुरूप विकसित करना ।

(१३) शिक्षा संबंधी बातों में प्रभावी निर्णय लेना तथा उत्तम नियोजन करना ।

(१४) शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति करना तथा शिक्षा-क्षेत्र में हो रहे अपव्यय को रोकना ।

(१५) उनकी गतिविधियों का समय-समय पर उचित मूल्यांकन करना ।

(१६) शिक्षा-क्षेत्र में अधिकतम उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिए प्रतिस्पर्धा के वातावरण का निर्माण करना ।

अध्याय ३

शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्त

विषय प्रवेश

शिक्षा-प्रशासन का देश-विदेश के समाज, संस्कृति, इतिहास, राजनीतिक संगठन आदि से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। इन सभी तत्वों का प्रभाव शिक्षा-प्रशासन पर पड़ता है। शिक्षा-प्रशासन में सफलता के लिए विस्तृत तथा विवेकपूर्ण सिद्धान्तों एवं दर्शन की आवश्यकता है। शिक्षा-प्रशासन के विस्तृत एवं विवेकपूर्ण सिद्धान्त और दर्शन हों परन्तु इनके अनुरूप कार्य न किया जाये तो समुचित लाभ नहीं होगा। इन निश्चित सिद्धान्तों के अनुरूप कार्य न करने से संगठन में शिथिलता आती है, नीतियाँ तथा अभ्यास या कार्य-विधियाँ अस्थिर रहती हैं, स्टाफ के सदस्यों में आपसी संघर्ष तथा मनमुटाव होता है। फलस्वरूप सम्पूर्ण संगठन में असन्तोष व्याप्त रहता है तथा अकुशलता दिखाई देती है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों का विवेकपूर्ण चयन किया जाये तथा इनके अनुसार कार्य भी किया जाये।

शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्त

एडमान्सन, रोमर तथा बेकन ने अपने ग्रन्थ *The Administration of the Modern Secondary School* में शाला प्रशासन के निम्नलिखित १५ सिद्धान्तों की विवेचना की है। इन सिद्धान्तों को शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों के रूप में मान्य किया जा सकता है।

(१) स्वास्थ्य, योग्यता तथा चरित्र

शिक्षा-प्रशासन का महत्वपूर्ण आधार शिक्षा-क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों का स्वास्थ्य, योग्यता तथा चरित्र है। शिक्षा संबंधी किसी भी कार्यक्रम की कल्पना स्वास्थ्य के अभाव में की ही नहीं जा सकती है। इसी प्रकार सामाजिक कौशल, योग्यता एवं चरित्र भी शिक्षा-प्रशासन के लिए आवश्यक है।

(२) पाठ्यक्रम—बालकों के विकास का साधन

शिक्षा-प्रशासन को बालकों के विकास में पाठ्यक्रम साध्य नहीं, साधन समझना चाहिये। बालकों की आवश्यकताओं, रुचियों आदि के अनुरूप पाठ्यक्रम गठन किया जाये, इसके बजाय कि पाठ्यक्रम के अनुसार बालकों को विकसित करने के प्रयास किये जायें।

(३) व्यक्तित्व संरक्षण

शिक्षा-प्रशासन बालकों तथा शिक्षकों के व्यक्तित्व के संरक्षण तथा विकास में सहायक होना चाहिये। प्रत्येक बालक तथा शिक्षक की क्षमता तथा योग्यता भिन्न होती है। अत: यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन इनकी विभिन्न विशेष योग्यता के समुचित विकास में सहायक हो। सभी का एक समान विकास करने का प्रयास शिक्षा-प्रशासन को नहीं करना चाहिये।

(४) समय, शक्ति एवं उपकरणों का प्रभावी उपयोग

शिक्षा-प्रशासन का यह महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है कि बालकों, शिक्षकों तथा शिक्षा-क्षेत्र में कार्यरत सभी व्यक्तियों के समय, और शक्ति तथा उपकरणों का समुचित एवं प्रभावी उपयोग हो। इनके अपव्यय के मान को कम से कम रखना शिक्षा-प्रशासन का महत्व-पूर्ण एवं उपयोगी सिद्धान्त है।

(५) प्रयासों का समन्वय

शिक्षा-प्रशासन की नियोजना तथा व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि शिक्षा-जगत के कार्यकर्त्ताओं, शिक्षकों तथा बालकों की गतिविधियों तथा कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित हो तथा सभी एक टीम के रूप में कार्य करते रहें। आपसी सहयोग विकसित करना शिक्षा-प्रशासन का प्रमुख उत्तरदायित्व है।

(६) नीति तथा कार्यक्रम निर्धारण में अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग

शिक्षा-प्रशासन ऐसा होना चाहिये कि लोकतंत्रीय कार्य व्यवस्था विकसित हो तथा शिक्षक एवं बालक नीतियों तथा कार्यक्रमों के निर्माण तथा विकास में अधिक से अधिक भाग ले सकें। मायर्स (Myers) का कथन है, चूँकि शालाएँ बालकों को लोकतंत्रीय समाज में समायोजित करने के लिए ही विकसित की जाती हैं अत: शिक्षा-प्रशासन तथा व्यवस्था लोकतंत्रीय होना चाहिये। लुण्ड (Lund) तथा अन्य विद्वान इस प्रकार की व्यवस्था के विरोध में हैं जिसमें मायर्स ने यह सुझाया है कि शिक्षकों की नियुक्ति, तरक्की तथा सेवा-निवृत्ति स्टाफ के सदस्यों की प्रतिनिधि सभा द्वारा की जाये। वास्तव में मायर्स तथा लुण्ड दोनों के विचार एकांगी हैं। इनका मध्य मार्ग अधिक अनुकरणीय तथा लोकतंत्रीय होगा। शिक्षकों के साथ-साथ बालकों का शिक्षा-प्रशासन में सहभागी बनना भी महत्वपूर्ण है। शिक्षा-प्रशासन को लोकतंत्रीय बनाने से न केवल शिक्षा-व्यवस्था ही उन्नत होती है वरन् शिक्षण भी उन्नत और सम्पन्न होता है। अधिनायकवादी तथा साम्यवादी देशों में राज्य सर्वोपरि माना जाता है। राज्य वहाँ सार्वभौमिक माना जाता है। अत: इस सार्वभौमिक सत्ता से ही जीवन प्राप्त कर व्यक्ति कुछ कर सकता है। अत: इन राष्ट्रों में नीति तथा कार्यक्रम निर्धारण में अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग नहीं लिया जाता है। वहाँ तो राज्य

की भावनाओं तथा विचारों से व्यक्ति को अपनी भावनाओं तथा विचारों को एकान्वित करना आवश्यक होता है । परन्तु अमेरिका, भारत, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि लोकतंत्रीय राष्ट्रों में नीति तथा कार्यक्रम निर्धारण में अधिक से अधिक व्यक्तियों का सहयोग अनेक प्रक्रियाओं के माध्यम से लिया जाता है ।

(७) सत्ता तथा उत्तरदायित्व

सत्ता सौंपने का कार्य उत्तरदायित्व के अनुरूप होना अति आवश्यक है। शिक्षा-प्रशासन को यदि सफल और प्रभावी होना है, तब यह आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र में कार्यरत विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्व सौंपे जायें तथा सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाये । उत्तरदायित्व सौंपकर सत्ता या अधिकार न देना उचित नहीं है ।

(८) विशेष प्रवृत्तियों तथा सीमाओं का ध्यान रखना

कार्य-विधि में कौशल विकास के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकर्त्ताओं की विशेष योग्यताओं तथा सीमाओं या कमियों का ध्यान रखकर कार्यक्रम अपनाये जायें ।

(९) कार्यों की अनावश्यक आवृत्ति को रोकना

शैक्षणिक कार्य-क्रम में यह आवश्यक है कि प्रत्येक अंग या क्षेत्र के कार्य निश्चित किये जायें जिससे एक समान कार्यों की विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अनावश्यक आवृत्ति सम्भव न हो । इससे समय, धन तथा शक्ति का अपव्यय न होगा । कार्य निश्चित होने से संघर्ष, द्वेष, ईर्ष्या, अविश्वास की सम्भावना भी अधिक रहती है । अतः प्रत्येक के कार्यों को निश्चित करके विभिन्न व्यक्तियों द्वारा समान कार्यों को करने की प्रवृत्ति रोकना अति आवश्यक है ।

(१०) महत्वपूर्ण निर्णय मूल्यों के सापेक्ष महत्व पर आधारित हों

शिक्षा-प्रशासन का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि सभी महत्वपूर्ण निर्णय उनके सापेक्ष महत्व के आधार पर लिये जायें । शिक्षा-कार्यक्रम-निर्धारण के समय अनेक महत्वपूर्ण समस्याएँ रहती हैं । परन्तु इनमें से पहिले कौन समस्या सुलझायी जाये इसका निर्णय शिक्षा-दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर समय की माँग के अनुरूप किया जाये ।

(११) सभी का हित सर्वाधिक महत्व का

शिक्षा-क्षेत्र के सभी कार्यकर्त्ताओं का हित साधन करना शिक्षा-प्रशासन का उद्देश्य होना चाहिये। किसी भी कार्य को करते समय यह आवश्यक है कि इस दृष्टिकोण से विचार किया जाये कि शिक्षा-क्षेत्र के सभी कार्यकर्त्ताओं तथा समाज का हित अमुक कार्य से होगा या नहीं ।

(१२) शिक्षा-दर्शन के अनुरूप शिक्षा-नीति तथा कार्यक्रम

शिक्षा-प्रशासन को सभी शिक्षा-नीतियों एवं कार्यक्रमों को राष्ट्र द्वारा मान्य शिक्षा-दर्शन के अनुरूप विकसित करना चाहिये। शिक्षा-प्रशासन के हितकारी तथा कुशल होने के लिए यह आवश्यक है कि वह मान्य शिक्षा-दर्शन के आधार पर व्यवस्थित तथा विकसित हो।

(१३) शिक्षा क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं का व्यावसायिक विकास

शिक्षा-प्रशासन ऐसा होना चाहिये कि शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं को व्यावसायिक विकास के अवसर अधिक से अधिक उपलब्ध हों तथा सभी कार्यकर्त्ता अपना व्यावसायिक विकास करने के लिये प्रेरित होते रहें।

(१४) अनुकूल समाज संबंध स्थापना

शिक्षा-प्रशासन का यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। समाज से अच्छे संबंधों की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समाज के सदस्यों को शिक्षा-नीति, कार्यक्रमों, उपलब्धियों संबंधी आवश्यक जानकारी समय-समय पर दी जाये। सामान्यत: यह गलती की जाती है कि जनता को शिक्षा संबंधी गतिविधियों से परिचित नहीं कराया जाता है तथा जनता को शिक्षा संबंधी गतिविधियों से अनभिज्ञ रखा जाता है। वास्तव में समाज को शिक्षा संबंधी नीतियों तथा कार्यक्रमों आदि से परिचित कराना शिक्षा-प्रशासन का कर्त्तव्य होना चाहिये। शिक्षा-प्रशासन को योग्य कार्यकर्त्ता को आवश्यक श्रेय, जहाँ आवश्यक हो, अवश्य देना चाहिये। शिक्षा-क्षेत्र की उपलब्धियों का समाज में समुचित प्रचार करना आवश्यक है। साथ ही साथ शिक्षा-प्रशासन को अपनी कमजोरियों का ध्यान भी रखकर उन्नत होने के प्रयास करते रहना चाहिये।

(१५) आशावान दृष्टिकोण तथा रचनात्मक नीतियाँ और कार्यविधियाँ

शिक्षा-प्रशासन को रचनात्मक तथा आशावान दृष्टिकोण रखना चाहिये। साथ ही साथ शिक्षा संबंधी नीतियाँ एवं कार्यविधियाँ भी रचनात्मक होनी चाहिये। शिक्षा-प्रशासन को अपनी नीतियाँ तथा कार्यविधियाँ ऐसी रखनी चाहिये कि सतत् उन्नति होती रहे तथा क्षेत्र में रचनात्मक प्रवृत्तियों का विकास हो।

मोर्ट महोदय ने शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों को[1] (१) मानवतावादी समूह, (२) विवेक समूह तथा (३) अनुकूलन समूह में विभक्त किया है। मानवतावादी समूह में लोकतंत्रीय भावना, क्रियात्मक प्रजातंत्र, न्याय तथा अवसर की समानता आदि सिद्धान्त रखे गये हैं। विवेक समूह के अन्तर्गत सतर्कता का विवेक तथा जनता की समझ का विवेक सम्मिलित है। अनुकूलन समूह में परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से सामंजस्य स्थापना

---

[1] Mort, *Principles of School Administration,* McGraw Hill, New York, 1946.

में सहायक सिद्धान्त आते हैं । लचीलापन स्थायित्व, परिस्थिति अनुकूल बनाना, आदि के सिद्धान्त इस समूह के अन्तर्गत आते हैं । मोर्ट महोदय के इन सिद्धान्तों के अनुसार शिक्षा-प्रशासन की व्यवस्था व्यावहारिक, लोकतंत्रीय तथा प्रभावी हो जाती है । मोर्ट महोदय के बतलाये शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों तथा एडमान्सन, रोमर एवं बेकन के बतलाये शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों में काफी साम्य है । दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का उद्देश्य शिक्षा-प्रशासन को प्रभावी, लोकतंत्रीय, रचनात्मक तथा सक्रिय बनाना है ।

अध्याय ४

शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया की प्रकृति

शिक्षा-प्रशासन एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शिक्षा-व्यवस्था की जाती है। इस प्रक्रिया का केन्द्र बालक होते हैं। चूँकि बालक जीवित, गतिशील तथा सजग जीव हैं, शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया भी सजीव तथा गतिशील रहती है। शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया को सजीव तथा गतिशील बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-क्षेत्र से संबंधित सभी व्यक्तियों—बालक, शिक्षक, पालक आदि से संबंधित नीतियों का निर्धारण तथा क्रियान्वय या संचालन स्वतंत्रता के साथ सहयोगी तथा लोकतंत्रीय ढंग से किया जाये।

शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह जानें कि (१) यह प्रक्रिया क्या है? (२) यह किस प्रकार कार्य करती है? तथा (३) इससे क्या उपलब्धि होती है? शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया द्वारा शिक्षा-संबंधी कार्य व्यवस्थित ढंग से चलता है। इस व्यवस्था की पृष्ठ-भूमि में सत्ता या शक्ति रहती है। यही सत्ता या शक्ति शिक्षा संबंधी व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों आदि को सक्रिय करने के लिए प्रयुक्त होती है तथा उन्हें एक विशेष प्रकार से कार्य करने की प्रेरणा देती है। सीयर्स (Sears) ने अपने ग्रंथ *The Nature of the Administrative Process* में व्यक्त किया है कि "This power, being applied to persons and things and ideas, causes them to behave in certain ways, as the power dictates. People take up duties; materials become buildings, playgrounds, libraries, curriculums, ideas become aims or objectives of efforts for people, plans of action, policies or reasons for doing things."[१] शिक्षा-प्रशासन की पृष्ठभूमि में स्थित सत्ता की प्रेरणा से व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का उचित पालन करते हैं। इसी सत्ता की प्रेरणा से वस्तुओं से भवन, खेल-कूद के मैदान, ग्रंथालय, पाठ्यक्रम आदि विकसित होते हैं। यही सत्ता या शक्ति विचारों को मनुष्यों के लक्ष्यों या उद्देश्यों के रूप में परिवर्तित करती है। ये ही विकसित होकर कार्य करने की नीतियाँ बनते तथा कार्य करने के प्रेरक साधन बनते हैं। शिक्षा-प्रशासन की

---

[1] Sears, Jesse B., *The Nature of the Administrative Process with Special Reference to Public School Administration*. McGraw Hill Book Co., New York, 1950, p. 30

प्रक्रिया के इस स्वरूप को देखने से पता चलता है कि यह यांत्रिक तथा स्वचालित नहीं है। वरन् शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया चेतन एवं नियंत्रित है। शिक्षा-प्रशासन की इस प्रक्रिया को करते समय जब यह सोचा विचारा जाता है कि क्या किया जाये तथा कैसे किया जाये तब शिक्षा संबंधी नियोजना का सूत्रपात्र होता है। जब इन सभी तत्वों या नियोजना से संबंधित बातों का आपसी संबंध स्थापित किया जाता है तब समन्वय की क्रिया होती है। समन्वय की स्थिति के उपरान्त जब किये जाने वाले कार्य संबंधी अच्छाई-बुराई या उसकी कार्यान्विति के फल पर हम विचार करते हैं तो हम कह सकते हैं कि हम शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया के उद्भूत परिणामों का मूल्यांकन कर रहे हैं। इस प्रकार शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया शिक्षा संबंधी गतिविधियों तथा कार्यक्रमों में उद्देश्य, नियोजना, व्यवस्था आदि लाती है तथा शिक्षा क्षेत्र में सोद्देश्य सजग चेतन कार्य चलने लगता है।

परन्तु हमें यह न सोचना चाहिए कि शिक्षा-प्रशासन एक प्रक्रिया मात्र ही है। शिक्षा-प्रशासन सत्ता है जिसमें प्रक्रिया, कार्य आदि रहते हैं। शिक्षा-प्रशासन की शक्ति या सत्ता का कोई अर्थ नहीं है यदि उससे सक्रियता नहीं आती या क्रियाएँ विकसित नहीं होतीं तथा एक प्रक्रिया इससे विकसित नहीं होती है। शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया भी अर्थहीन तथा अनुपयोगी रहेगी यदि इस प्रक्रिया को शिक्षा संबंधी कार्यों में व्यवहृत न किया जाये। इस प्रकार शिक्षा-प्रशासन में सत्ता, प्रक्रिया, कार्य आदि सभी रहते हैं। शिक्षा-प्रशासन की सत्ता का कार्य उपयोगी आवश्यक प्रक्रिया को विकसित करना है तथा प्रक्रिया का कार्य एक विधि द्वारा निर्धारित कार्यों को सम्पन्न करना है।

शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया—एक समन्वित् प्रक्रिया

शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया के उपर्युक्त विश्लेषण से यह अर्थ न लेना चाहिये कि शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया अनेक स्वतंत्र तत्वों या इकाइयों से निर्मित है। वरन् शिक्षा-प्रशासन एक समन्वित प्रक्रिया है जिसके विभिन्न तत्व आपस में संबंधित रहते हैं। यदि इनका उचित संबंध न हो या ये विभिन्न तत्व अलग-अलग बिना आपसी संबंध के कार्य करें तो शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया से जो कार्य होना चाहिए वे न होंगे तथा शिक्षा-प्रशासन निष्क्रिय और मृतप्रायः या अप्रभावी रूप से कार्य करेगा। यहाँ यह विचार करना उपयोगी होगा कि शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया के अन्तर्गत किन-किन गतिविधियों तथा क्रियाओं को किया जा सकता है तथा इनमें आपसी संबंध क्या और कैसे हैं?

शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया की क्रियाएँ

हेनरी फेयाल ने प्रशासन प्रक्रिया के अन्तर्गत निम्न पाँच क्रियाएँ[1] मान्य की हैं। शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया की भी ये पाँच क्रियाएँ मानी जा सकती हैं।

---

[1] Fayol Henri, "The Administrative Theory in State", in *Papers on the Science of Administration*, 1937.

(१) नियोजना (Planning)
(२) संगठन (Organization)
(३) संचालन (Direction)
(४) समन्वय (Coordination)
(५) नियंत्रण (Control)

इनके अतिरिक्त मूल्यांकन तथा व्यक्तित्व को भी शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया के आवश्यक तथा महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है।

(१) नियोजना

नियोजना में उद्देश्य पूर्ति के लिए किये जाने वाले कार्य, उनकी कार्यान्विति, आवश्यक सहायक सामग्री, साधन, सहयोगी व्यक्तियों आदि की निश्चित रूपरेखा विकसित की जाती है। किसी भी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिए इन सभी बातों का पूर्व निर्धारण तथा विचार अति आवश्यक है। कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही नियोजना की जानी चाहिये। कभी-कभी सम्पूर्ण विस्तृत योजना न बना कर व्यक्ति छोटी आंशिक योजना ही बना लेते हैं तथा जैसे-जैसे कार्य होता जाता है, योजना आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार शिक्षा-प्रशासन में नियोजना एक अलग स्वतंत्र क्रिया नहीं है। यह शिक्षा-प्रशासन रूपी बड़ी प्रक्रिया का एक भाग है। नियोजना भूत के अनुभवों के आधार पर भविष्य के विकास के लिए ही की जाती है। नियोजना करते समय अपने साधनों, क्षमताओं, आवश्यकताओं, सिद्धान्तों आदि का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। नियोजना का आधार लोकतंत्रीय होना चाहिये तथा नियोजना से संबंधित सभी व्यक्तियों को अपने विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिये।

(२) संगठन

शिक्षा के क्षेत्र में संगठन शिक्षा संबंधी किसी भी कार्य को करने का यंत्र सरीखा है। इस यंत्र के कल पुर्जे व्यक्ति, साधन, वस्तुएँ, विचार, नियम आदि रहते हैं। इन सभी के सहयोग से संगठन चलता है। यह संगठन अपने आप भी चल सकता है तथा शिक्षा-प्रशासक की इच्छा तथा विवेकपूर्ण निर्णय आदि के आधार पर भी। सीयर्स महोदय ने इसीलिए कहा है "संगठन कार्य करने की एक मशीन है। इसका निर्माण प्रमुखतः व्यक्तियों, वस्तुओं, विचारों, धारणाओं, प्रतीकों, स्वरूपों, नियमों एवं सिद्धान्तों के द्वारा या प्रायः इन सबके संयोग से हो सकता है। यह मशीन स्वतः ही कार्य कर सकती है या इसका संचालन मानवीय निर्णय तथा इच्छा के द्वारा हो सकता है।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि संगठन के अन्तर्गत

---

[1] Sears J. B., *The Nature of Administrative Process with Special Reference to Public School Administration,* McGraw Hill Book Co., New York, 1950, p. 33.

अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ रहती हैं। परन्तु उत्तम संगठन वही होगा जिसमें संगठक विवेकपूर्ण निर्णय लेकर कार्य करते हैं।

संगठन किसी विशेष कार्य या सेवा के लिए भी व्यवस्थित किया जा सकता है या अनेक कार्यों के लिए एक साथ भी। कुछ संगठन अल्पकालिक तथा अनेक पूर्णकालिक या अधिक समय तक चलने वाले हो सकते हैं। कुछ संगठन कार्यपालिका की सत्ता के बिना तथा कुछ सत्ता के साथ ही कार्यशील रहते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में दो प्रकार के संगठन व्यवस्थित करना आवश्यक होता है—(१) मानवीय तत्वों का संगठन तथा (२) भौतिक तत्वों का संगठन। मानवीय तत्वों का संगठन शिक्षकों, छात्रों, कक्षाओं या अन्य कर्मचारी वर्ग में किया जाता है। भौतिक तत्वों का संगठन शाला भवन, उपकरण, फर्नीचर, शिक्षण सहायक सामग्री, खेलकूद के मैदान आदि की व्यवस्था के लिए किया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक समितियाँ, कक्षाएँ, छात्र संगठन आदि शिक्षा-विचारों, सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के आधार पर व्यवस्थित करते हैं। शिक्षण-विधियाँ, टाइम टेबिल, पाठ्यक्रम आदि का संगठन भी शिक्षा-सिद्धान्तों तथा मान्य शिक्षा-दर्शन के आधार पर किया जाता है। इस प्रकार इन सभी तत्वों को संगठित करके शिक्षा का कार्य आगे बढ़ाया जाता है। ये सभी तत्व जितने अच्छे ढंग से संगठित होते हैं, शिक्षा संबंधी कार्य उतनी ही अच्छी विधि से चलता है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा से संबंधित मानवीय तथा भौतिक दोनों तत्वों का संगठन समुचित तथा उत्तम ढंग से किया जाना चाहिये।

(३) संचालन

शिक्षा-प्रशासन या किसी अन्य क्षेत्र के एक प्रशासन में संचालन बहुत महत्वपूर्ण है। संचालन में हम सत्ता या शक्ति को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। संचालन के द्वारा ही हमें क्रियार्थ, गतिविधियाँ, निर्णय आदि दृष्टिगोचर होते हैं। यही कारण है कि अनेक व्यक्ति इस तत्व पर अधिक बल तथा समय व्यय करते तथा इसे सरल समझते हैं। परन्तु संचालन का तत्व इतना सरल नहीं है। किसी भी कार्य या क्रिया के संचालन के लिए (१) निर्णय लेना, (२) निर्णयों पर अमल करने के लिए उन्हें प्रसारित या घोषित करना तथा (३) इन निर्णयों को व्यवहार में लाना आवश्यक होता है। ये तीनों प्रकार की क्रियाएँ अत्यन्त कठिन हैं तथा इनकी समुचित एवं प्रभावी ढंग से कार्यान्विति के लिए शिक्षा-प्रशासक में उच्च स्तरीय क्षमता, योग्यता, नेतृत्व-शक्ति, दूरदर्शिता, ज्ञान, विवेक आदि का होना आवश्यक है। शिक्षा प्रशासक चुनते समय यह देखा जाता है कि उसके विचार, रुझान, तकनीकी योग्यता, कौशल, व्यक्तित्व, स्वभाव, सामाजिक कौशल आदि कैसा है? चूंकि शिक्षा-प्रशासक को प्रशिक्षित तथा योग्य शिक्षकों तथा अन्य व्यक्तियों के कार्यों का संचालन करना पड़ता है, अतः यह अति आवश्यक है कि वह स्वयं बहुत योग्य तथा गतिशील हो। सीयर्स का कथन है कि "प्रशासन का संचालन वह अंश है जो निर्णय को प्रभावित करता है, कार्य करने के लिए सूचना देता है तथा इस बात का भी संकेत देता है कि कार्य को किस प्रकार करना है तथा इसको कब

प्रारम्भ या समाप्त करना है।"[१] इस प्रकार सचालन गतिविधि संबंधी सत्ता है जो अधिकारी की इच्छा द्वारा नियंत्रित तथा निर्देशित होती है। किसी भी प्रशासन में संचालन बहुत स्पष्ट तथा बहुत उपयोग में आने वाली क्रिया है। परन्तु संचालन की क्रिया अत्यन्त कठिन है। हालाँकि देखने में यह सरल दिखाई देती है।

(४) समन्वय

शिक्षा-प्रशासन में समन्वय का कार्य शिक्षा संबंधी विभिन्न गतिविधियों में आपसी संबंध स्थापित करना है। इसीलिए समन्वय का संबंध उद्देश्यों, प्रक्रियाओं, व्यक्तियों तथा वस्तुओं से रहता है। समन्वय में न केवल उद्देश्यों, प्रक्रियाओं, व्यक्तियों या वस्तुओं को आपस में एक दूसरे से संबंधित रखना आवश्यक होता है, वरन् उद्देश्यों से प्रक्रियाओं, व्यक्तियों तथा वस्तुओं को भी संबंधित करना रहता है। समन्वय से ही अनावश्यक शक्ति तथा श्रम का व्यय नहीं होता है। आपसी संघर्ष को कम करने तथा रोकने के लिए भी समन्वय आवश्यक है। सीयर्स का विचार है कि "Coordination provides a useful basis for evaluating one's actions in management."[२] इस प्रकार समन्वय शिक्षा-व्यवस्था में प्रशासक के कार्यों के मूल्यांकन में भी सहायक होता है। समन्वय में शिक्षा संबंधी कोई दो से अधिक गतिविधियों या तत्वों को व्यवस्थित कर ऐसा रखा जाता है कि वे समन्वित ढंग से कार्य करने लगते हैं। फिर इस समन्वित ढंग से कार्य करने की स्थिति बनाये रखने के लिए साधनों का उपयोग किया जाता है। सभी शक्तियाँ, जो विभिन्न तत्वों को समन्वित रखती हैं, एक वातावरण का निर्माण करती हैं। यही वातावरण विभिन्न तत्वों या भागों को प्रभावित करता है तथा इन्हें जोड़े रखने में सीमेंट का कार्य करता है। यह वातावरण जितना उन्नत और अनुकूल रहता है, उतना ही अधिक अच्छा समन्वय होता है। शिक्षा-क्षेत्र में विघटन की जो स्थितियाँ देखने को मिलती हैं वे समन्वय के अभाव या कमजोरी का ही परिणाम हैं।

(५) नियंत्रण

किसी भी प्रशासन में नियंत्रण अति आवश्यक तत्व है। बिना नियंत्रण के किसी भी कार्य की गतिविधियों को वश में नहीं रखा जा सकता है। शिक्षा-जगत में मानवीय तथा भौतिक दोनों प्रकार के साधनों के नियंत्रण की आवश्यकता है। कोई भी कार्य नियंत्रण के अभाव में बेकार हो जायेगा—जैसे बजट बनाने के बाद यदि खर्च पर नियंत्रण न रखा जाये तो बजट निर्माण बेकार है।

---

[1] Sears, J. B., *The Nature of Administrative Process with Special Reference to Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1950, p. 127.

[2] *Ibid.*, p. 164.

नियंत्रण प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रत्यक्ष नियंत्रण के लिए सतत पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण आवश्यक होता है। अप्रत्यक्ष नियंत्रण में रोक लगा कर या मूल्यांकन करके स्थिति पर अधिकार रखा जाता है। नियंत्रण शारीरिक शक्ति द्वारा या नियमों, विधियों, नीतियों आदि के माध्यम से रखा जा सकता है। दण्ड तथा पारितोषिक भी नियंत्रण के साधन हैं। समन्वित कार्य के लिए उद्देश्यों, कार्यविधियों, कार्यकर्त्ताओं, परिणामों एवं वातावरण सभी पर नियंत्रण रखा जाना आवश्यक है। कार्य के प्रारम्भ, कार्यान्विति के समय तथा अन्त में नियंत्रण आवश्यक है।

मूल्यांकन

अनेक विद्वान मूल्यांकन को शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया का महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। कार्यों के परिणामों का उचित मूल्यांकन ही हमें यह प्रदर्शित कर सकता है कि कार्य विधिवत् तथा उचित रूप से किया गया है या नहीं। मूल्यांकन हमें यह बतलाता है कि हम कितना और किस प्रकार कार्य कर सके हैं। हमारे उद्देश्यों की कितनी उपलब्धि हुई है। इस प्रकार मूल्यांकन के आधार पर हम अपनी शिक्षा-गतिविधियों की व्यवस्था कर सकते हैं। अतः निरन्तर प्रगति के लिए मूल्यांकन आवश्यक माना जाता है और, वर्तमान काल में शिक्षा प्रशासन में मूल्यांकन का महत्व बढ़ता ही जाता है।

व्यक्तित्व

प्रशासक के व्यक्तित्व का बहुत अधिक प्रभाव शिक्षा गतिविधियों पर पड़ता है। हम यह प्रायः प्रतिदिन देखते हैं कि योग्य, चरित्रवान, बुद्धिमान व्यक्तियों का व्यवहार तथा कार्य अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा भिन्न होता है। अतः शिक्षा-प्रशासन के उत्तम तथा प्रभावी होने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा प्रशासक भी उत्तम, योग्य, तथा बुद्धिमान हों। अनेक विद्वानों का विचार है कि शिक्षा-प्रशासन प्रक्रिया कार्य के आधार पर विकसित होती है, प्रशासक के आधार पर नहीं। अतः प्रशासक का व्यक्तित्व शिक्षा प्रशासन प्रक्रिया का तत्व नहीं बन सकता है। व्यक्तित्व शिक्षा प्रशासन की प्रक्रिया का तत्व न भी बने तो भी यह अति आवश्यक है कि शिक्षा प्रशासक योग्य तथा उन्नत व्यक्तित्व वाला हो।

अध्याय ५

शैक्षणिक गतिविधियों का प्रशासन

शैक्षणिक कार्यक्रम साध्य

शिक्षा-प्रशासन का बृहत् ढाँचा केवल एक ही उद्देश्य से संगठित किया जाता है : बच्चों तथा युवकों के लिए अत्यन्त प्रभावी एवं उपयोगी शैक्षणिक स्थितियों का निर्माण। शिक्षा-प्रशासन इस व्यवस्था की एक प्रक्रिया है जिसके माध्यम से शालाओं के सभी साधन प्रभावी शैक्षणिक गतिविधियों की व्यवस्था तथा संचालन के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं। इसीलिए शैक्षणिक कार्यक्रम जिनसे सीखने के अनुभव उपलब्ध होते हैं, सबसे प्रमुख हैं तथा अन्य सभी बातें गौण हैं। कभी-कभी शिक्षा-प्रशासन प्रमुख स्थान लिये हुए मिलता है परन्तु यह तो एक साधन ही है, साध्य तो शैक्षणिक कार्यक्रम ही हैं। ग्लाइडर तथा रोसेनस्टेनगेल ने इसीलिए कहा है—"The curriculum, comprising the ordered content of what is what, the experiences which children have under school auspices, and instructional services, is the end of administration."[1]

शैक्षणिक गतिविधियों संबंधी विभिन्न मत

वर्तमान समय में शैक्षणिक गतिविधियों के संबंध में विद्वानों में मतभेद हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि परम्परागत मूल विषयों का ही शिक्षण प्राथमिक शालाओं में किया जाये तथा माध्यमिक शालाएँ महाविद्यालयों के लिए तैयारी के रूप में ही शिक्षण करें। परन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि शालाओं में ऐसे शैक्षणिक अनुभव दिय जाने चाहिये जो समाज की समस्याओं को हल कर सकें तथा जिनके सहारे लोग शीघ्रता से परिवर्तित होने वाले समाज में प्रभावी ढंग से जीवन यापन कर सकें। इन दो प्रमुख विचारों के साथ-साथ अनेक विद्वानों का मत है कि शिक्षण में निर्देशित कार्य, मुखाग्र आवृत्ति, मूल्यांकन आदि को अधिक बल देना चाहिये। इस प्रकार शिक्षण के संबंध में विभिन्न मत हैं। भारत में भी शालाओं में शिक्षण संबधी अनेक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। परन्तु यह तो सर्वमान्य ही है कि संसार

---

[1] Calvin Grieder & William Everett Rosenstengal, *Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954, p. 159.

के प्रत्येक देश की शालाओं में पहिले की अपेक्षा अधिक सजगता से शिक्षण होता है तथा शिक्षण कार्य-क्रम बालक तथा समाज की आवश्यकताओं तथा रुचियों के अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल हैं । शालाओं के स्वरूप में अनेक परिवर्तन हुए हैं। परन्तु बालकों एवं वर्तमान संघर्षरत परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि शालाओं को और भी विकसित किया जाये । वर्तमान में प्रायः प्रत्येक समाज में निम्न-लिखित तत्व पाये जाते हैं जिनसे शाला-गतिविधियों में अव्यवस्था उत्पन्न होती है तथा शालाओं एवं शाला-कार्यक्रमों में जो परिवर्तन होना चाहिये, वे नहीं हो पाते हैं।

(१) अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते कि संस्कृति में परिवर्तन के साथ-साथ शिक्षा में भी परिवर्तन तथा पुनर्व्यवस्था आवश्यक रहती है।

(२) समाज के विद्वानों ने सामान्य जनता को संस्कृति के विकास के साथ शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता का बोध समुचित ढंग से नहीं कराया है।

(३) अनेक शालाओं में बिना पूर्व नियोजना तथा बिना सोचे समझे परिवर्तन किये गये हैं ।

शिक्षा में परिवर्तन की आवश्यकता को पुष्ट करने वाले कारण

इन तत्वों के होते हुए भी अनेक ऐसे कारण हैं जो इस तथ्य को पुष्ट करते हैं कि शाला कार्यक्रमों में आवश्यक परिवर्तन तथा विकास किया जाना चाहिये । आधुनिक काल में शिक्षा संबंधी अनेक शोधों ने शिक्षण प्रक्रिया संबंधी अनेक नवीन तथ्यों को स्पष्ट किया है । यही कारण है कि वर्तमान में मानसिक अनुशासन का सिद्धान्त मान्य नहीं किया जाता है। आज के विज्ञान तथा तकनीकी विकास के युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम्परा आदि के स्थान पर वैज्ञानिक विधि तथा शोध को महत्वपूर्ण माना जाता है। शिक्षा-शोधों ने इस बात के भी स्पष्ट संकेत दिये हैं कि ज्ञान की मात्रा की अपेक्षा ज्ञान-प्राप्ति की विधि अधिक उपयोगी तथा महत्वपूर्ण है । आज सहयोगी तथा लोकतंत्रीय विधियों को शिक्षण में अधिक उपयोग और महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। शैक्षणिक तथा भेषज शोधों से बाल-विकास के संबंध में अनेक नवीन बातों का पता लगा है। फलस्वरूप शिक्षण प्रक्रिया में भी इनके आधार पर आवश्यक परिवर्तन किया जाना उपयोगी होगा ।

शिक्षण-कार्यक्रमों का प्रशासन

शिक्षा-प्रशासन का प्रमुख उत्तरदायित्व शिक्षण-कार्यक्रमों का अध्ययन, व्यवस्था तथा ऐसा निर्देशन करना है कि समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षण-कार्य व्यवस्थित हो। शिक्षण-कार्य से तात्पर्य है बालक की शिक्षा से संबंधित सभी गतिविधियाँ अर्थात् शिक्षण-सिद्धान्त, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियाँ, बाल गतिविधियाँ आदि । इसके अन्तर्गत वे सभी

कार्यक्रम भी सम्मिलित हैं जो बालक शाला के बाहर करता है परन्तु उनका उपयोग कक्षा शिक्षण में किया जाता है। शिक्षा-प्रशासन का यह कर्तव्य है कि शैक्षणिक कार्यक्रम को प्रभावी, उपयोगी तथा व्यवस्थित बनाये रखे।

इस दृष्टि से शिक्षा प्रशासन के निम्न कार्यक्रमों को व्यवस्थित करना आवश्यक है:

(१) शाला शैक्षणिक कार्यक्रमों के लिए शिक्षा दर्शन को विकसित तथा व्यवहृत करना जिससे शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति हो।

(२) विभिन्न शालाओं में की जाने वाली शैक्षणिक गतिविधियों पर समुचित नजर रखना तथा इन्हें आवश्यकतानुसार परिवर्तित, परिवर्द्धित तथा उन्नत बनाते रहने की प्रेरणा देना।

(३) निश्चित किये गये उद्देश्यों की पृष्ठभूमि में शैक्षणिक कार्यक्रमों के सतत् मूल्यांकन के लिए विधियों का निर्माण करना जिससे शालाएँ इन विधियों को अपनाकर यह ज्ञात कर सकें कि क्या, कितना और कैसे किया जा रहा है।

(४) शिक्षा-जगत की उपलब्धियों को सभी रुचि रखने वाले सदस्यों में प्रचारित करना।

(५) शिक्षा-जगत से संबंधित सभी संस्थाओं के आंतरिक कार्यक्रमों पर दृष्टि रखना तथा उनमें उचित व्यवस्था के लिए प्रेरणा देना।

(६) शिक्षा-जगत को आवश्यकतानुसार सहायक सामग्रियाँ उपलब्ध या प्रदान करने की स्थितियाँ विकसित करना।

(७) शिक्षा-जगत की समस्याओं को हल करने के लिये प्रयत्नशील रहना।

(८) आवश्यक शिक्षा-शोध को प्रोत्साहन देना।

(९) शिक्षा-प्रशासन सभी शैक्षणिक गतिविधियों पर दृष्टि तो रख ही नहीं सकता है। फिर भी शिक्षा-प्रशासक को कुछ विशेष गतिविधियों पर विशेष ध्यान देते हुए भी सभी में समन्वय के प्रयास करते रहना चाहिये।

(१०) शिक्षा-प्रशासन द्वारा दिये गये सुझाव आवश्यकताओं, समस्याओं तथा सम्भावनाओं के व्यवस्थित अध्ययन पर ही आधारित होना चाहिये।

(११) सेवारत शिक्षकों के बौद्धिक विकास के प्रयास करना।

इन कार्यों को करते हुए शिक्षा-प्रशासन नियोजना पूर्व सामाजिक परिवर्तन एवं उन्नति के लिए सचेष्ट रहता है। शिक्षा-प्रशासन जिस प्रकार का नेतृत्व प्रदान कर सकेगा वैसा

ही शैक्षणिक कार्यक्रम शिक्षा संस्थाओं में होगा। शिक्षण-संस्थाओं में प्रायः दो प्रकार की प्रवृत्तियों वाले व्यक्ति पाये जाते हैं। एक तो ऐसा वर्ग होता है जो सामान्य प्रचलित कार्य करके ही सन्तोष की साँस लेता है तथा दूसरा ऐसा वर्ग होता है जो शिक्षण को और उन्नत करने के प्रयास करता है। शिक्षा-प्रशासन का कार्य दोनों प्रकार के वर्गों को शैक्षणिक गतिविधियों में उन्नति करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन देना है। शिक्षा-प्रशासन से संबंधित अधिकारी ही शैक्षणिक गतिविधियों के मार्गदर्शक होते हैं। अतः वह शाला का प्राचार्य हो या शाला-निरीक्षक—उसे उचित नेतृत्व प्रदान करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये। यदि नेतृत्व प्रदान करने वाला स्वयं ही स्थिति ज्यों की त्यों बनाये रखना चाहता है या सामान्य प्रचलित कार्यक्रमों को ही महत्वपूर्ण मानता है तब शालाएँ उन्नति करने के लिए प्रयत्नशील कैसे रहेंगी। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन से संबंधित अधिकारियों को सामान्य प्रचलित कार्यक्रमों से ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये।

शिक्षा-प्रशासन का नेतृत्व कभी-कभी ऐसा प्रतीत हो सकता है कि वह लोकतंत्रीय तथा स्वतंत्र है परन्तु वास्तव में अनेक अन्य विधियों द्वारा प्रशासक शिक्षकों को अपने ही अनुसार कार्य करने को बाध्य कर रहे हों। ऐसी स्थिति में केवल उन्हीं सदस्यों को विभिन्न समितियों में नियुक्त किया जाता है जो प्रशासक की रुचि के होते हैं तथा ऐसे व्यक्तियों को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता जो विकास या परिवर्तन चाहते हैं। मेकेन्जी तथा कोरी ने *Instructional Leadership* में लिखा है कि आधारभूत लोकतंत्रीय लोकतंत्र का प्रतिनिधित्व उस व्यक्ति के द्वारा किया जाता है जो अपने समूह तथा उसके सदस्यों को उनके उचित उद्देश्य तथा आदर्शों की प्राप्ति के लिए साधन खोजने, पहिचानने तथा उपयोग में लाने में सहायक होता है।[1] इस दृष्टि से यदि हम विचार करें तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतंत्रीय नेतृत्व प्रदान करना सरल नहीं है। शैक्षणिक क्षेत्र में विकास सरलता से नहीं आता है। इस क्षेत्र में विकास तथा परिवर्तन करने के लिए शिक्षकों, पाठ्यक्रमों, उपकरणों सभी में सतत विकास करना आवश्यक रहता है। शिक्षक तो परम्परा पर अधिक बल देने वाले ही होते हैं। ऐसी स्थितियों में शिक्षण कार्य में विकास का कार्य तो और भी कठिन रहता है। जब तक शिक्षण में संलग्न व्यक्ति आन्तरिक रूप से विकास तथा परिवर्तन के लिए उत्सुक न हों शिक्षण कार्य में सुधार होना कठिन है।

सेवारत शिक्षकों का विकास

मारफेट, जान्स तथा रेलर ने अपनी पुस्तक *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues* में लिखा है—"In every community in which

---

[1] Mackenzie & Corey, *Instructional Leadership*, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1954, p. 10.

there is an interest in better schools the need for improving teachers and teaching has been recognized."[1]

शिक्षकों तथा शिक्षण के विकास के लिए अनेक उपाय किये गये हैं। शिक्षकों तथा शिक्षण दोनों में विकास सतत प्रयासों से ही सम्भव रहता है। अतः प्रशिक्षण अवधि में उन्नत प्रशिक्षण के साथ-साथ सेवारत शिक्षकों के विकास के प्रयास अब प्रायः सभी विकसित तथा विकासमान देशों में किये जाने लगे हैं। सेवारत शिक्षकों के विकास के लिए विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम अपनाये जाते हैं जैसे शिक्षक गोष्ठी, वर्कशाप—विभिन्न विषयों की शिक्षण समस्याओं पर विचार के लिए गोष्ठी, शिक्षण के विभिन्न पक्षों पर शिक्षकों की बैठकों में विचार-विमर्श, प्रसार सेवाओं द्वारा शिक्षकों का ज्ञान-वर्धन तथा उनकी समस्याओं को सुलझाना, पाठयक्रम निर्देशिकाएँ तैयार कर वितरित करना, शिक्षण संबंधी चल-चित्र प्रदर्शन, कक्षा-शिक्षण-सहायक सामग्री निर्माण, उत्तम कक्षा-शिक्षण-अभ्यासों का पत्रिकाओं द्वारा प्रसार तथा प्रचार, क्रियात्मक अनुसंधान के लिए शिक्षकों को प्रोत्साहन देना आदि। इनमें से अनेक कार्यक्रमों में समुचित सफलता मिलती है। परन्तु सेवारत शिक्षकों के विकास के कार्यक्रम तभी सफल होते हैं जब, जैसा कि पार्कर[2] ने कहा है, कि (१) समाज सामान्य रूप से शिक्षकों से सुधार की अपेक्षा करे, (२) शिक्षण क्षेत्र के वातावरण में आपसी आदर, सद्भाव, सहायता तथा रचनात्मकता हो, (३) सभी शिक्षकों को अपना मत व्यक्त करने तथा उत्साही शिक्षकों को अपने विचार कार्यान्वित करने के लिए प्रोत्साहित किया जाये, (४) सभी शिक्षकों के व्यक्तित्व को भिन्न माना जाये तथा उन्हें अपनी क्षमता के अनुसार विकसित होने दिया जाये, (५) विकास कार्यक्रम सरल से सरल रूप में क्रमशः प्रस्तुत किये जायें, (६) समुचित साधनों को उपलब्ध तथा प्रयुक्त कराने के प्रयास किये जायें, (७) समुचित मूल्यांकन किया जाता रहे। यदि इस प्रकार से शैक्षणिक गतिविधियों तथा शिक्षकों के विकास के प्रयास किये जायें तो सफलता अवश्य मिलेगी।

शैक्षणिक गतिविधि संबंधी शिक्षा प्रशासन की समस्याएँ

शैक्षणिक गतिविधि संबंधी कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिन्हें शिक्षा प्रशासन को सुलझाना है। इन समस्याओं में निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(१) **क्या शिक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन का कार्य करे?** शिक्षा के कार्य के संबंध में दो विरोधी विचार धाराएं व्याप्त हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि शिक्षा के माध्यम से

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall, Inc., 1959, p. 315.

[2] J. Cecil Parker, *Guidelines for Inservice Education*, Chapter IV, "In-service Education for Teachers, Supervisors, and Administrators," Fifty-sixth Year Book, National Society for the Study of Education, Pt. I, 1957.

सामाजिक संस्कृति का संरक्षण ही हो सकता है; उसमें परिवर्तन तथा विकास करना शिक्षा का कार्य नहीं है। दूसरी विचार धारा के विद्वानों का कथन है कि शिक्षा के द्वारा संस्कृति का पुनर्निर्माण भी किया जा सकता है।

प्रथम विचार के अनुसार यदि शिक्षा का कार्य संस्कृति का संरक्षण ही है तब शिक्षा-प्रशासन का कार्य ऐसी स्थितियों का विकास करना है जिनसे शिक्षण संस्थाओं में उपलब्ध ज्ञान तथा संबंधित बातों का ही ज्ञान कराया जाये। तब वर्तमान पाठ्यक्रम में परिवर्तन, प्रयोग, शोध तथा नवीन व्यवस्था करना शिक्षा-प्रशासन के लिए आवश्यक नहीं रहेगा।

द्वितीय विचार के अनुसार यदि शिक्षा का कार्य संस्कृति का पुनर्निर्माण करना है तब शिक्षा-प्रशासन का कार्य ऐसी व्यवस्था का विकास करना होगा जो सम्भावित परिवर्तनों का ध्यान रखकर बालक को इस प्रकार विकसित करे जिससे वे वर्तमान से समन्वय स्थापित कर भविष्य का उचित मूल्यांकन कर सकें। इससे वे अनावश्यक परिवर्तनों से दूर रहेंगे तथा उपयोगी और आवश्यक परिवर्तनों को अपनायेंगे। वर्तमान में दबाव और प्रचार द्वारा भी अनेक कार्य किये जा रहे हैं। शिक्षा-प्रशासन को निष्पक्ष होकर ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि बालक दबाव तथा प्रचार से दूर रहकर स्थिति को समझें तथा उचित ढंग से विकसित हों। अनुपयोगी तथा अनावश्यक परिवर्तनों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन सम्पूर्ण समाज की समुचित शिक्षा की व्यवस्था करें क्योंकि बुद्धिमान तथा ज्ञानी जनता अनावश्यक एवं अनुपयोगी परिवर्तनों के विरुद्ध होती है। शिक्षा-प्रशासन के समक्ष हमेशा यह समस्या रहती है कि किस प्रकार राजनीतिक या अन्य दबावों के माध्यम से पाठ्यक्रम में अनावश्यक परिवर्तनों को बढ़ावा देने वाले तत्वों को रोका जाय। विधान सभा या शिक्षा-प्रमंडल यदि कोई अनावश्यक या अनुपयोगी परिवर्तन लाने वाला कार्य करती है तब क्या किया जाये? किस प्रकार समाज तथा शिक्षाधिकारी मिल कर शिक्षा की समस्याओं को हल कर सकेंगे? इन प्रश्नों के उचित हल पर शिक्षा-प्रशासन की सफलता निर्भर रहती है।

(२) **कितने शैक्षणिक कार्यक्रम निर्धारित किये जायें?** अमेरिका तथा रूस की आश्चर्यजनक वैज्ञानिक उपलब्धि को देखने पर यह प्रश्न और भी जोर से किया जाने लगा है कि क्या सामान्य परम्परागत पाठ्यक्रम को पढ़ा कर देश को इस योग्य वनाया जा सकता है कि वह अमेरिका तथा रूस जैसे विकसित देशों से कन्धा से कन्धा मिलाकर चल सके।

इस स्थिति में शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह समस्या है कि किस स्तर पर कितना शैक्षणिक कार्यक्रम निर्धारित किया जाये। समाज में प्रचलित शैक्षणिक कार्यक्रमों की आलोचना को कितना बल तथा महत्व दिया जाये? किस प्रकार शैक्षणिक कार्यक्रमों को प्रभावी तथा अधिक उपयोगी बनाया जाये?

(३) **शिक्षा-अभ्यास तथा सीखने संबंधी हो रहे विकास की पृष्ठभूमि में क्या-क्या विकास किये जायें?** विज्ञान तथा तकनीकी विकास ने सीखने की प्रक्रिया को तीव्र तथा गतिशील बनाने के अनेक साधन उपलब्ध करा दिये हैं। मारफेट, जान्स तथा रेलर का

विचार है कि इनमें से कुछ तो योग्य शिक्षकों की कमी तथा कुछ उत्तम प्रभावी शैक्षणिक कार्यक्रमों को विकसित करने में वास्तविक रुचियों के कारण हुए हैं।[1] शिक्षण मशीनों का उपयोग करना, सहायक शिक्षकों का उपयोग करना, बृहत् कक्षाओं को सँभालना, चल-चित्रों के माध्यम से शिक्षण को प्रभावी और रोचक बनाना, रेडियो तथा टेलीविजन के माध्यम से शिक्षण, शाला में कार्य अवधि का बढ़ाना तथा छुट्टियों को कम करना आदि ऐसे अन्य उपाय हैं, जिनकी सहायता से शैक्षणिक गति-विधियों को और अधिक प्रभावी बनाये जाने के प्रयास किये जा रहे हैं। शिक्षा-प्रशासन पर इन विभिन्न उपायों के गुण दोषों को जान कर इनके उचित उपयोग को प्रोत्साहित करने का दायित्व है। शिक्षा-प्रशासक को यह भी समझना आवश्यक है कि भविष्य में और कैसे और कौन-कौन से विकास ऐसे होंगे जो शैक्षणिक गति-विधियों को प्रभावी और रोचक बना सकेंगे। शिक्षा-प्रशासन क्या उपाय अपनाये कि इन साधनों का प्रभावी उपयोग सम्भव हो ?

(४) **बालकों की विशेष योग्यता तथा आवश्यकताओं के अनुरूप शैक्षणिक गति-विधियों की व्यवस्था कैसे हो** ? विज्ञान तथा तकनीकी विकास ने जीवन को गतिशील और संघर्षपूर्ण बना दिया है। फलस्वरूप जीवन जटिल और गतिशील हो गया है। जैसे-जैसे संस्कृति विकसित होगी वैसे-वैसे जीवन और जटिल होगा। फलस्वरूप शिक्षा में कुछ समस्याएँ विशेष रूप से महत्वपूर्ण होंगी। इन समस्याओं में दो समस्याएं विशेष रूप से विचारणीय रहेंगी—(१) व्यक्ति किस प्रकार आधारभूत-ज्ञान, अन्तर्दृष्टि एवं प्रवृत्तियों को विकसित कर सकता है जिससे वह संस्कृति के विकास में बुद्धिपूर्वक तथा रचनात्मक रूप से भाग ले सके ? तथा (२) किस प्रकार व्यक्ति विशेष प्रकार का ज्ञान, कौशल तथा सूझ-बूझ विकसित कर सकता है जिससे वर्तमान जटिल संसार में वह प्रभावी रूप से जीवन यापन कर सके ? इन दोनों समस्याओं का उपयुक्त हल खोजना शिक्षा-प्रशासन का उत्तर-दायित्व है। वर्तमान में सामान्यतः प्रारम्भिक शिक्षा-स्तर पर तो सामान्य शिक्षा तथा हाई स्कूल स्तर पर कुछ विशेषीकृत शिक्षा की आवश्यकता प्रतीत की जाती है। विशेषीकृत शिक्षा व्यवस्था के लिए सम्पूर्ण शैक्षणिक कार्यक्रम को पुनर्व्यवस्थित तथा परिवर्तित करना आवश्यक है। बालक, शिक्षक, पालक, शिक्षा-प्रशासक सभी को नियोजना बना कर कार्य करना आवश्यक है। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि प्रारम्भिक शिक्षा स्तर पर विशेष रुझानों तथा योग्यताओं का पता लगाया जाय। शिक्षा-प्रशासन की समस्या यह है कि सामान्य तथा विशेषीकृत शिक्षा दोनों में से किसे कितना तथा किस स्तर पर महत्व दिया जाये ! शिक्षा-प्रशासन का उत्तरदायित्व यह भी है कि वह ऐसी व्यवस्था विकसित करे जिसमें बालकों को शैक्षणिक कार्यक्रमों में अधिकतम भाग लेने के अधिकतम अवसर उपलब्ध हों।

विशेष योग्यता के बच्चों की विशेष शिक्षा की समस्या के साथ-साथ शिक्षा-प्रशासन के समक्ष पिछड़े बालकों की समुचित शिक्षा-व्यवस्था की समस्या भी है। समाज पिछड़े

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall, 1959, p. 322.

बालकों पर अपेक्षाकृत अधिक व्यय करना पसन्द नहीं करता है। परन्तु ये पिछड़े बालक भविष्य में राष्ट्र के नागरिक होंगे तथा इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः शिक्षा-प्रशासन का उत्तरदायित्व इन पिछड़े बालकों की विशेष शिक्षा-व्यवस्था करना भी है। शिक्षा-प्रशासन के लिए यह विचार करना भी आवश्यक है कि निर्देशन की कैसी व्यवस्था की जाय ताकि पिछड़े बालकों का उचित विकास हो सके ?

(५) **अलगाव की प्रवृत्ति कैसे दूर हो** ? शिक्षा के क्षेत्र में अलग-अलग विकसित होने की समस्या भी अनेक स्थानों में है। शालाएँ अपने आप को अलग रखना पसन्द करती हैं। एक विषय का शिक्षक अन्य विषयों का ज्ञान नहीं रखता है। उसे अन्य विषयों में क्या हो रहा है, इससे कोई वास्ता ही नहीं रहता है। अतः शिक्षा-प्रशासन की एक जटिल समस्या समन्वय तथा सहयोग की है। शिक्षा-प्रशासन की उचित नीति समन्वय स्थापना तथा अलगाव की प्रवृत्ति के निराकरण में बहुत सहायक हो सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-प्रशासन के समक्ष शैक्षणिक गतिविधियों के विकास से संबंधित अनेक ऐसी समस्याएँ रहती हैं जिनमें उचित हल से ही इन गतिविधियों तथा कार्यक्रमों का समुचित विकास हो सकता है।

अध्याय ६

छात्र-समुदाय का प्रशासन

शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य प्रत्येक बालक या छात्र का ऐसे उत्तरदायी, स्वनियंत्रित, योग्य तथा उत्साही कार्यकर्त्ता के रूप में विकास करना है जो गृह, समाज, राजनीति तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रभावी रूप से सक्रिय भाग ले सके। इसलिए यह आवश्यक है कि शाला-प्रशासन उचित नीति अपनाये तथा उसे कार्यान्वित करे। ये निर्णय तथा नीतियाँ इसीलिए महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि इनमें छात्रों के आपसी संबंध तथा शैक्षणिक कार्यक्रमों से संबंध स्थापित होते हैं। शिक्षकों तथा पालकों में छात्र-समुदाय के प्रशासन की नीतियों के संबंध में अनेक मतभेद हैं। अतः यह आवश्यक है कि इन मतभेदों को कम किया जाये।

छात्र-समुदाय के प्रशासन संबंधी क्षेत्र

सामान्य सर्वेक्षण तथा अध्ययन के आधार पर विद्वानों ने निम्नलिखित क्षेत्रों को शिक्षा-प्रशासनीय कार्य के लिए आवश्यक समझा है :

(१) छात्र-समुदाय की संख्या—अल्प तथा दीर्घ कालीन—निश्चित करना।

(२) छात्रों को शाला, कक्षा या विषय में दर्ज करना।

(३) छात्रों को दर्ज करने के पूर्व वर्गीकरण की नीतियाँ निश्चित करना।

(४) छात्रों का समय-समय पर उचित मूल्यांकन करना।

(५) छात्रों की प्रगति का प्रतिवेदन नियमित रूप से पालकों को भेजना।

(६) छात्रों की प्रगति तथा अन्य कार्यक्रमों का अभिलेख रखना।

(७) छात्रों की वर्गोन्नति करना।

(८) छात्रों को उचित निर्देश तथा परामर्श देने की व्यवस्था करना।

(९) छात्रों को जीवन में स्थापित करने में सहायता करना तथा समय-समय पर उनकी खबर लेना (follow up)।

(१०) छात्रों को अनुशासन में रखने की व्यवस्था करना।

छात्र-समुदाय की संख्या निश्चित करना

छात्र-समुदाय की अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन संख्या निश्चित करना अति आवश्यक रहता है। दीर्घकालिक संख्या-अनुमान शाला में आवश्यक भौतिक सुविधाएँ जुटाने में सहायक होते हैं। अतः प्रति ५ या १० वर्ष में छात्र संख्या का अनुमान लगाना अति आवश्यक है। सामान्यतः जीवित छात्रों के प्रतिशत के आधार पर छात्र-संख्या निश्चित की जाती है। परन्तु प्रत्येक समाज में छात्र-संख्या निश्चित करने की अलग-अलग विधियाँ रहती हैं। भारत में सम्पूर्ण जनसंख्या का १५ प्रतिशत अंश शाला जाने योग्य का माना जाता है। इसी के आधार पर माध्यमिक शालाओं तथा महाविद्यालयों में जाने योग्य छात्रों का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु छात्र-संख्या निश्चित करने में केवल प्रतिशत से काम नहीं चलता है। कई स्थानों में विशेषतः शहरों तथा उसके आसपास या औद्योगिक क्षेत्रों में जनसंख्या बहुत अधिक गतिशील रहती है। अतः ऐसे स्थानों में एक निश्चित प्रतिशत में छात्र संख्या का निर्धारण करना उपयुक्त न होगा। ऐसे स्थानों में वार्षिक अनुमान लगाना उपयुक्त होगा। दीर्घकालिक छात्र संख्या का अनुमान बजट बनाने, शैक्षणिक भार निश्चित करने, शिक्षकों की आवश्यक संख्या निश्चित करने, शालाओं में भौतिक साधनों की उपलब्धि कराने आदि अनेक कारणों के कारण आवश्यक तथा उपयोगी रहते हैं।

शाला-जनसंख्या सभी छात्रों के संबंध में आवश्यक सूचनाएँ देने वाली होना चाहिये—जैसे कितने छात्र शाला में हैं, कितने दर्ज नहीं हैं तथा कितने छात्र अभी शाला में आने की आयु से छोटे हैं आदि। यदि इन सभी बातों का पता रहे तो शाला-स्थापना तथा विकास आदि सम्बंधित योजनाएँ अच्छी तरह बनायी जा सकती हैं तथा शाला-नीति संबंधी निर्णय अधिक प्रभावी एवं कार्यकारी हो सकते हैं।

छात्रों को दर्ज करना

छात्रों को दर्ज करने की सबसे अच्छी विधि उन्हें योजना-अवधि में दर्ज करना है। यह कार्य जिस समय शालाएँ लग रही हों, करना चाहिये। शालाओं के छात्रों को दर्ज करते समय पालकों को आमंत्रित करना अच्छा रहता है। इसमें शिक्षकों को पालकों से भेंट का अवसर मिलता है तथा पालकों से अच्छे संबंध स्थापित होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं। यदि छात्रों को दर्ज करते वक्त कुछ समय छात्रों तथा पालकों के साथ व्यतीत किया जाय तो आगे आने वाली अनेक कठिनाइयाँ पहले ही हल हो जाती हैं।

छात्रों को दर्ज करते समय निर्देशन तथा परामर्श के अतिरिक्त अनेक सामान्य बातों को समझाने आदि में अपेक्षाकृत अधिक समय व्यय करना पड़ता है। छात्रों की जन्म-तिथि देखना या पुराने अभिलेख से मिलाना, स्वास्थ्य संबंधी परीक्षण कराना आदि अनेक कार्य ऐसे हैं जो इस अवसर पर ही किये जाने चाहिये। अतः छात्रों को दर्ज करते समय इन सभी कार्यों का ध्यान रखना चाहिये।

छात्रों का वर्गीकरण

छात्रों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। मार्फेट, जान्स तथा रेलर ने व्यक्त किया है कि "The findings of educational research concerning grouping are far from conclusive. Following are some of the most commonly used bases of grouping : (1) Chronological age, (2) achievement in subject matter, (3) social maturity, (4) mental ability, (5) pupil interest, and (6) a combination of these and other factors."[1] भारत में शालाओं में सामान्यत: कक्षा में उपलब्धियों के आधार पर कक्षा-वर्गीकरण किया जाता है। सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं के लिये अवश्य रुचियों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता है।

छात्र-वर्गीकरण करते समय विभिन्न उद्देश्यों के लिए छात्रों के वर्गीकरण में प्रशासकीय कठिनाई उपस्थित होती है। सामान्यत: जब शैक्षणिक कार्य के लिए वर्गीकरण किया जाता है तब उसे "कक्षा-विभाजन" कहते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक गतिविधियों—जिन्हें अब "कक्षा में चलने वाली गतिविधियाँ" (In-class) कहने लगे हैं—समितियों जैसे साहित्यिक, कलात्मक, संगीत आदि के लिए भी छात्र-वर्गीकरण करना आवश्यक रहता है। इन सभी प्रकार के वर्गीकरणों में शैक्षणिक गतिविधियों के लिए किया जाने वाला वर्गीकरण अधिक महत्व का रहता है क्योंकि शिक्षण के लिए ही छात्र प्रमुखत: शाला में आते हैं।

सामान्यत: शिक्षण के लिए परम्परागत विधि से पाठ्यक्रम को कक्षावार विभक्त करके छात्रों को उनकी योग्यता के अनुसार विभक्त किया जाता है। परन्तु आधुनिक युग में विकसित देशों में अनेक प्रकार की ऐसी विधियों का उपयोग किया जाता है जिनमें छात्रों के सामान्य तथा विशेष कौशलों या रुझानों के आधार पर विभक्त किया जाता है। डाल्टन विधि, यूनिट विधि, योजना विधि आदि ऐसी ही विधियाँ हैं जिनमें छात्रों को उनकी सामान्य तथा विशेष योग्यता के अनुसार कार्य करने के अवसर दिये जाते हैं।

शाला की सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं के लिए अवश्य सभी देशों में छात्रों की रुचियों तथा रुझानों के अनुसार विभक्त करने का प्रचलन है। परन्तु वर्तमान कक्षा-शिक्षण तथा सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं में अन्तर कम होता जा रहा है तथा इन्हें एक दूसरे का पूरक माना जाने लगा है। अत: स्वाभाविक है कि अब छात्र वर्गीकरण में शाला तथा छात्र के आपसी सामन्जस्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है।

शाला में छात्र वर्गीकरण किसी भी विधि से किया जाये प्रयास यह रहता है कि समूह एक समान हों। एकरूपता वाले समूहों के निर्माण के आधार शारीरिक, सामाजिक तथा बौद्धिक होते हैं। ओटो के द्वारा सुझाये गये वर्गीकरण में शारीरिक, सामाजिक तथा

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 376.

बौद्धिक दृष्टि से एकरूपता है। ओटो[१] का कथन है कि शैक्षणिक कार्य के लिए वर्गीकरण ऐसा होना चाहिये कि बालक उस समूह में रहना चाहे तथा समूह उसे रखना चाहे। छात्र को यह प्रतीत हो कि वह समूह के लिए कुछ कर रहा है तथा समूह में उसकी उपस्थिति महत्वपूर्ण है। समूह ऐसा हो कि वह कुछ बातों में बहुत अच्छा हो तथा कुछ बातों में समूह के अन्य व्यक्ति उससे अच्छे निकलें। वह नेतृत्व कर सके तथा किसी के नेतृत्व में वह चल भी सके। समूह ऐसा कठिन भी हो कि उसे सफलता के लिए प्रयास करना आवश्यक हो तथा ऐसा कठिन भी न हो कि असफलता लगातार हाथ लगे। सामाजिक अनुमोदन प्राप्त विधियों द्वारा वह इस समूह में उच्च स्थान भी प्राप्त कर सके तथा अन्यों से समानता का भाव भी रख सके। इस प्रकार के एकरूप समूह में महत्वपूर्ण बात व्यक्ति का समूह के साथ संबंध है। पिटनगर ने ऐसे समूह को ही शारीरिक, सामाजिक तथा बौद्धिक दृष्टि से एक रूप माना है। उसका कथन है—"The factors which determine classification into groups of this sort are physical, social and intellectual, height, weight, strength and physical abilities are among the physical factors. Capacity for leadership, enthusiasm, daring, and friendliness are included among the social factors. The intellectual factors comprise such things as mental age, intelligent quotient, and academic achievement"[2]

ओटो ने छात्र-वर्गीकरण संबंधी विचारों का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि समूह ऐसे विपरीत तत्वों से निर्मित हों कि छात्रों को विविध कार्य करने के अवसर उपलब्ध हों तथा ऐसा एक रूप हो कि छात्र हमेशा उपलब्धि की चरम सीमा या निम्नतम सीमा में ही न रहे। यीगर (Yeager) का विचार है कि "The bases most commonly used are chronological age, mental age, educational age, social age, intelligent quotient, and teacher's judgement."[3]

अयेर (Ayer) का विचार है कि व्यावहारिक दृष्टि से छात्र-वर्गीकरण करने के लिए अधिकतर उपयोग में लाये जाने वाले आधार (१) शारीरिक विकास, (२) सामाजिक विकास, (३) उपलब्धि अभिलेख, (४) सम्भावना मूल्यांकन (prediction tests), (५) मानसिक विकास तथा (६) शिक्षक निर्णय हैं।[४]

---

[1] Otto, H. J., "Use of social criteria in grouping children at school", *Childhood Education*, Vol. 22, March, 1946, pp. 326-329.

[2] Pittenger, B. F., *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, p. 296.

[3] Yeager, W. A., *Administration and the Pupil*, Harper & Brothers New York, 1949, pp. 138-139.

[4] Ayer, Fred C., *Practical Child Accounting*, The Steck Co., Austin, Texas, 1949, p. 181.

इस प्रकार हम देखते हैं कि छात्र-वर्गीकरण के लिए अनेक आधार मान्य किये गये हैं परन्तु सभी में परम्परागत मान्य आधार "बौद्धिक क्षमता" को अपेक्षाकृत अधिक मान्य किया गया है। माध्यमिक स्तर पर छात्र-वर्गीकरण प्राथमिक स्तर के छात्र वर्गीकरण से भिन्न है। माध्यमिक स्तर पर उपरोक्त दर्शाये गये वर्गीकरणों के विभिन्न आधारों को सामान्यतः मान्यता दी जाती है तथा इस स्तर पर परम्परागत वर्गीकरण को कम मान्य किया जाता है। माध्यमिक स्तर पर तो अब "यूनिट या इकाई" विचार को अधिक उपयोगी माना जाने लगा है। सामान्य साधारण माध्यमिक शाला में भी कुछ न कुछ विषय रुचि के अनुसार चुनने के लिए रहते हैं। अतः माध्यमिक स्तर पर समूह निर्माण में रुझान, रुचि योग्यता, व्यक्तिगत तथा सामाजिक आवश्यकता आदि अधिक महत्व रखते हैं।

कहीं-कहीं विशेष योग्य बालकों के लिए विशेष शिक्षा-व्यवस्था को भी छात्र-वर्गीकरण का आधार बनाया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था में विशेष योग्यता, सामान्य योग्यता, पिछड़े बालकों आदि के लिए अलग-अलग शिक्षण की व्यवस्था रहती है। इस प्रकार की व्यवस्था भी बड़ी विवादास्पद है। इस बात से तो सभी एकमत हैं कि विशेष योग्यता वाले छात्रों की शिक्षा सामान्य बच्चों से भिन्न हो परन्तु इनकी शिक्षा के लिए क्या प्रशासनीय व्यवस्था की जाये, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। विद्वानों का विचार है कि पिछड़े बच्चों की सहायता के लिए विशेष योग्य शिक्षक सामान्य शिक्षकों की सहायता करें या पिछड़े छात्रों के उचित विकास के लिए विशेष कक्षाएँ लगायी जायें। परन्तु कुशाग्र बुद्धि वालों की अलग कक्षाओं के लगाने के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं। सामान्यतः विद्वान विशेष योग्यता वालों के लिए अलग कक्षाओं के लगाने के पक्ष में नहीं पाये जाते हैं। क्योंकि यह माना जाता है कि अपवादात्मक योग्यता वाले बच्चों के शिक्षकों को इन बच्चों को सामान्य योग्यता वाले बच्चों से व्यवस्थापित होने के लिए आवश्यक सहायता प्रदान करनी चाहिये।

विकसित देशों में माध्यमिक स्तर पर छात्र-वर्गीकरण के लिए उद्देश्यों को भी आधार बनाया गया है। अनेक माध्यमिक शालाओं में विश्वविद्यालय, व्यावसायिक, सामान्य, प्राविधिक आदि के अनुरूप छात्रों को उनके उद्देश्यों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। परन्तु इनमें समूह मानसिक या विषय उपलब्धियों के आधार पर विकसित किये गये हैं। अतः इस प्रकार का छात्र-वर्गीकरण प्रचलित नहीं हो सका है। वर्तमान में तो माध्यमिक स्तर पर सभी छात्रों को सामान्य शिक्षा का एक अंश तथा रुचियों, रुझानों, आवश्यकताओं के अनुरूप विभिन्न मात्राओं में अन्य शिक्षा देने का प्रचलन ही अधिक है। आधुनिक माध्यमिक शालाओं में छात्र-वर्गीकरण विशेष कार्यों या समितियों के लिए भी किया जाता है। परन्तु यह अस्थायी होता है तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तित होता रहता है।

भारतीय शालाओं की कक्षाओं में अधिक छात्र रहते हैं। फलस्वरूप एक शिक्षक के लिए इतनी अधिक संख्या में भिन्न-भिन्न योग्यता वाले छात्रों पर ध्यान देना सम्भव नहीं

होता है। वास्तव में यदि छात्रों की संख्या कम हो तो शिक्षक सभी की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दे सकता है। परन्तु एक कक्षा में कम छात्रों का तात्पर्य है अधिक वित्तीय व्यय जो अभी तो भारत में सम्भव नहीं दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छात्र-वर्गीकरण के लिए कोई ऐसी प्रशासनीय व्यवस्था नहीं खोजी गयी है जो सर्व मान्य तथा सर्वोत्तम हो। इस स्थिति में शिक्षा-प्रशासन को पालकों तथा शालाओं से मिलकर ऐसी विधियों का विकास करना चाहिये जो बालक के विकास में अधिकतम रूप से सहायक हों।

कक्षा-उन्नति

योग्यतानुसार कक्षा में छात्रों को शिक्षण के लिए रखा जाना परम्परागत काल से चला आ रहा है। फलस्वरूप छात्रों की कक्षा-उन्नति तथा भरती भी इसी से संबंधित रही है। छात्रों की योग्यता भिन्न-भिन्न होती है तथा वे कक्षा-शिक्षण से भिन्न-भिन्न मात्राओं में लाभान्वित होते हैं। परन्तु फिर भी बालक तथा पालक दोनों कक्षा की परीक्षा में प्राप्त अंकों को बहुत महत्व देते हैं क्योंकि सफलता और असफलता इन्हीं पर आश्रित रहती है।

शिक्षकों तथा शिक्षा-प्रशासकों के समक्ष हमेशा यही समस्या रही है कि परीक्षा में प्राप्त अंक बौद्धिक योग्यता प्रदर्शित करते हैं या छात्र द्वारा प्रयास करने की योग्यता? ये अंक कक्षा में छात्र की स्थिति बतलायें या यह प्रदर्शित करें कि छात्र किस योग्यता से कार्य सम्पादन कर रहा है? क्या एक छात्र के अंक अन्य छात्रों के अंकों के समान महत्व के मान्य किये जायें या सभी के अंकों के महत्व अलग-अलग हैं? ये तथा अनेक अन्य प्रश्न कक्षा-उन्नति तथा बालकों की भरती के समय कक्षा-पदावनति से संबंधित हैं।

कक्षा-उन्नति तथा किसी कक्षा में छात्रों को बैठाने के लिए अनेक उपायों का अवलम्बन किया गया है। इन सबमें प्राचीन प्रतिशत विधि है जिसमें बालकों को १०० अंक मिलने पर यह माना जाता है कि वे पूर्ण योग्य हैं तथा ६० प्रतिशत मिलने पर ६० प्रतिशत योग्य माने जाते हैं, ३० प्रतिशत मिलने पर ३० प्रतिशत योग्य माने जाते हैं। पालक तथा बालक दोनों इस विधि को सरलता से समझ सकते हैं। परन्तु यह कहना बड़ा कठिन है कि छात्र को जो अंक दिये गये हैं वे प्रामाणिक हैं। भिन्न-भिन्न शिक्षक एक समान उत्तर पर भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न अंक देते पाये गये हैं। शोधों से यह भी पता चला है कि इस प्रकार नम्बर देना बहुत अप्रामाणिक है।

अंक देने के दोषों को दूर करने के लिए "श्रेणी-विभाजन" विधि का उपयोग किया गया। परन्तु अ, ब स, या और अधिक श्रेणियों में विभाजित करने की विधि में भी वही दोष पाये गये जो प्रतिशत विधि में पाये गये हैं। अतः सन्तोषप्रद और असन्तोषप्रद दो

श्रेणियों में ही छात्रों को रखने के प्रयास किये गये। बाद में ५ श्रेणी या अधिक श्रेणियों की सहायता से बालकों का मूल्यांकन करने के प्रयास किये गये पर सभी में कुछ न कुछ त्रुटियाँ रहीं क्योंकि अंक या श्रेणी विभाजन यह नहीं बतलाता कि कितने अंक या श्रेणी प्राप्त करने पर छात्र को एक कक्षा से ऊपरी कक्षा में पदोन्नत किया जाये। साथ ही समस्या यह भी रहती है कि भाषा में यदि छात्र को अच्छी श्रेणी मिलती है, कुछ अन्य विषयों में सामान्य, और गणित में उसे निम्नतम श्रेणी मिलती है, तब ऐसी स्थिति में क्या उसे आगे की कक्षा में पदोन्नत किया जाये ? या छात्र आयु के आधार पर आगे बढ़ा दिया जाये या बिना किसी परीक्षा के ही उसे आगे की कक्षा में पढ़ने भेजा जाये ?

कक्षा-उन्नति के संबंध में अनेक शोध कार्य किये गये हैं। कठोर प्रशासनीय व्यवस्था के अन्तर्गत तो छात्र परीक्षा में पास होने पर ही ऊपर की कक्षा में जाता है। पास होने का तात्पर्य यहाँ निर्धारित मान-स्तर प्राप्त करने से है। ऐसी व्यवस्था में निर्धारित मान-स्तर प्राप्त न होने पर छात्र को उसी कक्षा में एक वर्ष और पढ़ना पड़ता है। जो बालक बहुत योग्य होते हैं उन्हें दो कक्षाओं की परीक्षा देने की सुविधाएँ भी रहती हैं तथा दोनों परीक्षाओं में निर्धारित स्तर प्राप्त करने पर वे दो कक्षा आगे बढ़ा दिये जाते हैं।

यह विधि सरल अवश्य दिखाई देती है परन्तु शैक्षणिक दृष्टि से यह अत्यन्त अनुपयुक्त है। अतः सुधार के लिए अनेक विधियों का उपयोग किया गया तथा अनेक शोध कार्य इस क्षेत्र में किये गये। इन शोधों से अनेक तथ्यों तथा समस्याओं का पता चला जैसे फेल होने वालों की संख्या का अधिक होना, विभिन्न आधारों पर पास या फेल करना, फेल होने के कारणों का भिन्न-भिन्न होना, पास होने की अवधि भिन्न-भिन्न होना, बिल्कुल फेल न करना, कुशाग्र बुद्धि बालक की ओर ध्यान न देना, शाला में बालक के शैक्षणिक विकास तथा उसके शारीरिक एवं अन्य विकासों में कोई संबंध न होना आदि। इन सभी समस्याओं के हल मात्र से ही शिक्षा-प्रशासन शाला वर्गीकरण, भरती करने तथा पास करने संबंधी संतोषजनक नीतियाँ निर्धारित नहीं कर सकता है। प्रत्येक समस्या का अन्य समस्याओं से संबंध स्थापित कर ही कक्षा उन्नति या भरती करने की समस्या सन्तोषजनक रूप से हल की जा सकेगी। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा नीति तथा दर्शन संबंधी तथ्य निश्चित किये जायें। मारफेट, जान्स तथा रेलर[1] ने निम्नलिखित तथ्यों को मान्य किये जाने का सुझाव दिया है—(१) प्रत्येक छात्र को १२ वर्ष की शिक्षा का अधिकार है। (२) प्रत्येक छात्र शाला में उस समूह में रखा जाये जहाँ उसका अधिकतम विकास सम्भव हो। (३) प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में सभी शिक्षा पाने वाले छात्र दर्ज किये जायें चाहे उनकी मानसिक योग्यता कुछ भी हो। (४) शालाओं का उद्देश्य व्यक्तिगत छात्र की योग्यताओं का विकास

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, pp. 380-381.

करना हो न कि निर्धारित विषय का निर्धारित स्तर। (५) छात्र की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की जाये।

यदि उपर्युक्त आधारों को मान्य किया जाये तो अलग-अलग छात्रों को अलग-अलग ढंग से शिक्षित करना आवश्यक होगा। परन्तु समूह में शिक्षित करने के लाभ भी ज्ञात हुए हैं तथा शोधों ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि समूह में रहने से छात्रों में अनेक सामाजिक गुणों का विकास होता है। अतः छात्रों को एक रूप ऐसे समूह में रखकर शिक्षित किया जाये जिनमें शिक्षक उन पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दे सकें। तरक्की से अधिक लाभान्वित होने की सम्भावनाओं के प्रमाण स्पष्ट मिलने पर ही छात्रों की वर्गोन्नति की जाये। छात्रों को जाति, धर्म, रंग आदि के आधार पर वर्गीकृत न किया जाये। विषय और कार्य के आधार पर उन्हें वर्गीकृत किया जाये परन्तु ये वर्ग-भेद पक्का न रहे, अस्थायी हो। योग्य बालकों के उत्थान के लिए जब जरूरत हो तब ही उसे अन्य बालकों से अलग किया जाये। पिछड़े बालकों को भी तभी अलग किया जाये जब इस प्रकार की व्यवस्था की सबसे अधिक आवश्यकता हो। इनकी कठिनाइयाँ दूर करने के लिये इनके शिक्षकों द्वारा विशेष सहायता दी जाये। शालाओं में ऐसा सम्पन्न शिक्षण कार्यक्रम व्यवस्थित कराया जाये कि सभी प्रकार के छात्रों के अनुकूल आवश्यक कार्यक्रम उपलब्ध हो सके। परीक्षा का उपयोग निर्देशन तथा शिक्षण के लिए किया जाये, दण्ड तथा पारितोषिक देने के लिए नहीं। इस प्रकार कक्षा-उन्नति तथा कक्षा-वर्गीकरण कर छात्र का अधिक से अधिक विकास करने के प्रयास किये जा सकते हैं।

कक्षा उन्नति के लिए जो विविध उपाय अपनाये गये हैं, उनमें (१) कक्षा उन्नति की अवधि को पूर्ण वर्ष से कम कर ६ माह या ३ माह करना, (२) सभी को आगे की कक्षाओं में चढ़ाना (३) सतत् पुनः वर्गीकरण करना, आदि प्रमुख हैं। कक्षा उन्नति की अवधि को कम करने से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इससे पिछड़ापन कहीं-कहीं तो और अधिक बढ़ गया क्योंकि शिक्षकों ने इसका अधिक उपयोग किया। इससे कक्षा-वर्गों में भी अधिक वृद्धि हुई। फलस्वरूप शिक्षण खर्च अधिक बढ़ा। छोटी शालाओं में इस प्रकार की व्यवस्था सम्भव ही नहीं है। ओटो[1] ने कहा है कि इन तथा अन्य कारणों से इस योजना को त्यागा गया तथा नेप[2] (Knapp W. R.) का विचार है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाओं में आधुनिक प्रवृत्तियाँ वार्षिक कक्षा उन्नति की हैं।

किसी को फेल न करने के पहले कुछ शालाओं ने परीक्षण के तौर पर छात्रों को इस शर्त पर आगे की कक्षा में चढ़ाया कि असन्तोषजनक प्रगति होने पर उन्हें पुनः नीचे की

---

[1] Otto, H. J., *Promotion Policies and Practices in Elementary School*, Ch. VIII.

[2] Knapp, W. R., "Brief for yearly promotions in High School", *High Points*, Vol. 28, Nov. 1946, p. 47.

कक्षा में रखा जायेगा। धीरे-धीरे बिना किसी बाधा के निश्चित अवधि के बाद आगे की कक्षाओं में छात्रों को तरक्की दी जाने लगी। परन्तु इस विधि की भी अत्यन्त कटु आलोचना हुई। इस विधि के पक्ष में यह कहा जाता है कि सफलता अधिक उत्प्रेरणा देती है। इस विधि से वर्ग और अधिक नहीं बनते हैं तथा आगे की कक्षाओं में जाकर छात्र उत्साह से अध्ययन करते हैं। इस विधि में शाला-गृह संबंध अच्छे रहते हैं तथा शिक्षकों और शिक्षा-प्रशासकों का एक बहुत बड़ा सिरदर्द दूर होता है। परन्तु शोधों से ज्ञात हुआ है कि आगे की कक्षाओं में छात्रों की समस्याएँ व्यक्ति विभेद अधिक होने के कारण बहुत बढ़ जाती हैं तथा छात्र आगे की कक्षाओं के लिए पूर्ण रूपेण तैयार नहीं हो पाते हैं, विशेषतः उन कक्षाओं में जहाँ बौद्धिक कार्य अधिक रहता है।[1] फोले (Foley) का विचार है कि सतत् कक्षा उन्नति से पिछड़े बालक धोखे में रहते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि उनकी प्रगति सन्तोषजनक है। वेलिन (Wallin) का कथन है कि हाई स्कूल शिक्षक अपने आप कक्षा उन्नति को उपयुक्त नहीं समझते तथा सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।[2] बूएक्नर, एल्सब्री आदि विद्वानों का मत है कि अपने आप कक्षा उन्नति के स्थान पर अन्य उपाय अपनाना अधिक उपयोगी होगा।

सतत् वर्गीकरण करने में तो और भी अधिक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि इसमें छात्रों का वर्गीकरण हमेशा होगा तथा छात्र समूह हमेशा परिवर्तित होते रहेंगे। शिक्षा-अभ्यास के रूप में इसका प्रचलन कम है। हाँ सिद्धान्त रूप में यह सभी को आगे की कक्षा में उन्नत करने का विवेकपूर्ण परिणाम ही होगा। इस विधि के संबंध में एल्सब्री महोदय का कथन है कि इसके गुण-दोष वे ही हैं जो किसी को फेल न करने की विधि में हैं। इसमें बहुत ही योग्य तथा प्रशिक्षित शिक्षक तथा वर्गीकरण विधियाँ अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट एवं उन्नत होनी चाहिए।

कुशाग्र बुद्धि का व्यवस्थापन

किसी कक्षा में कुशाग्र बुद्धि वाले छात्र प्रायः उतने ही रहते हैं जितने कि मन्द बुद्धि वाले छात्र। इन कुशाग्र बुद्धि वाले छात्रों के लिए विशेष कक्षाएँ न खोल कर अतिरिक्त पाठ्यक्रम की व्यवस्था अधिक मान्य की जाती है। साथ ही साथ विद्वानों का विचार है कि शालाओं में इतना सम्पन्न कार्यक्रम किया जाना चाहिए कि कुशाग्र बुद्धि वाले छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो जाये। ओटो ने समूह के सभी छात्रों को व्यस्त रखने तथा कुशाग्र बुद्धि वाले छात्रों को अधिक उत्तरदायित्व सौंपने की व्यवस्था भी अपनाने का सुझाव दिया है।

---

[1] Hildreth, Gertrude, "Hazards of Straight Promotion" *Educational Administration and Supervision,* Vol. 36, January, 1946, pp. 19-26.

[2] Wallin, J. E. W., "Teacher's Opinion regarding Automatic Promotions", *Educational Administration and Supervision,* Vol. 29, May, 1943, pp. 295-306.

पालकों को प्रगति प्रतिवेदन देना

पालक अपने बच्चों की प्रगति के संबंध में जानकारी के लिए उत्सुक रहते हैं। वे सामान्यतः छात्रों की कक्षा उन्नति के लिए शाला-निर्णयों तथा नीतियों पर ही निर्भर रहते हैं। अतः यह आवश्यक है कि छात्रों की शैक्षणिक तथा अन्य प्रगति संबंधी सूचनाएँ या प्रतिवेदन नियमित रूप से पालकों को भेजे जायें। इन प्रतिवेदनों को भेजकर छात्रों के विकास के लिए पालकों का आवश्यक सहयोग भी प्राप्त किया जाता है।

सामान्यतः शालाओं में त्रैमासिक या अन्य परीक्षाओं के उपरान्त परीक्षाफल छात्रों के माध्यम से पालकों के पास भेजा जाता है। भारत में तो केवल यही प्रतिवेदन है जो पालकों के पास भेजा जाता है। इसी से पालकों को अपने बच्चों के संबंध में जो पता चल जाये, वही ठीक है। अनेक बार पालकों को इस परीक्षाफल का पता भी नहीं हो पाता है। अन्य विकसित देशों में भी सामान्यतः माहवार प्रगति पत्रक पालकों को भेजे जाते हैं। इसमें छात्र द्वारा लिए गये विषयों की सूची, इन विषयों में उसकी प्रगति, आचरण, शाला में विभिन्न गतिविधियों में भाग लेने आदि से संबंधित सूक्ष्म विवरण रहता है। परन्तु यह बहुत कम है। कभी-कभी इन सूक्ष्म सूचनाओं में दिये गये विवरण गलत भी समझ लिये जा सकते हैं जिससे पालक-शिक्षक-संघर्ष की स्थितियाँ विकसित हो सकती हैं। अतः अनेक विद्वानों तथा शिक्षकों ने यह अनुभव किया है कि ये प्रगति पत्रक अनुपयोगी हैं तथा छात्र के संबंध में प्रतिवेदन भेजने की उन्नत विधियों का प्रयोग किया जाना अति आवश्यक है।

इस दिशा में सर्वप्रथम नवीन श्रेणी विधि अपनाने का कार्य किया गया। परन्तु अनेक पालक इस श्रेणी विधि से परिचित नहीं हैं तथा ये इन श्रेणियों का समुचित अर्थ नहीं लगा पाते हैं। अतः इस दिशा में कोई विशेष प्रगति नहीं हो सकी।

अनेक विकसित देशों में अपनाया गया दूसरा उपाय है—प्रगति पत्रक को विस्तृत बनाना। इसमें अन्य सूचनाओं के अतिरिक्त, छात्र की प्रवृत्तियों, आदतों, व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों आदि का भी समावेश किया जाने लगा है। फलस्वरूप पालकों को छात्रों के संबंध में अपेक्षाकृत ज्यादा तथा विस्तृत सूचनाएँ मिलने लगी हैं।

कुछ शालाओं ने पालकों को व्यक्तिगत पत्र लिखने की विधि भी अपनायी है। परन्तु इसमें समय अधिक लगता और व्यय भी अधिक होता है। समय की कमी के कारण शिक्षक औपचारिक पत्र ही लिखने लगे हैं।

पालक-शिक्षक गोष्ठी आयोजित कर पालकों को छात्र सम्बंधी सूचनाएँ सर्वोत्तम ढंग से दी जा सकती हैं। इन गोष्ठियों में पालक तथा शिक्षक मिलकर छात्रों की प्रगति पर विचार करते हैं। कभी-कभी इन गोष्ठियों में छात्रों को भी आमंत्रित किया जा सकता है। प्रशासनिक दृष्टि से इन गोष्ठियों को सुविधाजनक बनाना तथा इनकी उपयोगिता बढ़ाना आवश्यक है।

इन शिक्षक-पालक गोष्ठियों के साथ साथ, यदि प्रगति पत्रक, पत्रादि का उपयोग भी किया जाये तो छात्रों की प्रगति की सूचनाएँ पालकों तक और अधिक सुविधा तथा उत्तम ढंग से भेजी जा सकती हैं। परन्तु इन सभी की व्यवस्था के लिए साधन जुटाना आवश्यक है।

छात्र अभिलेख

छात्रों की भरती, उनके अन्य स्थान जाने, (दाखिल-खारिज), उनके वर्गीकरण, उनकी परीक्षा, उनकी वर्गोन्नति, उनका स्वास्थ्य, शिक्षकों की नियुक्ति, शाला बस, केफे-टेरिया, निर्देशन आदि अनेक कार्यों के लिए यह आवश्यक है कि उचित अभिलेख रखे जायें। इसके साथ, राज्य तथा अन्य अधिकारियों को समय-समय पर सांख्यिकी सूचनाएँ देने के लिए भी छात्र अभिलेख रखे जाने चाहियें।

सम्पूर्ण राज्य में कुछ छात्र अभिलेख प्रामाणिक कर एक समान खानों में निर्धारित करना अति आवश्यक है। छात्र दर्ज-संख्या, हाजिरी आदि ऐसे ही अभिलेख हैं जिन्हें प्रामा-णिक कर एक रूप बनाना आवश्यक है। शोध कार्यों में इस प्रकार की एकरूपता अत्यन्त सहायक होती है।

छात्र-प्रगति-पत्रक या छात्र-पत्रक को व्यवस्थित रूप में रखना तथा उन्हें नियमित रूप से भरना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। छात्र शाला में जितनी अवधि में रहता है, उस सम्पूर्ण अवधि के दौरान उसके द्वारा की गयी प्रगति का विवरण इस पत्रक में रहना चाहिए। इस प्रगति पत्रक में छात्र से संबंधित अधिक जानकारी रहनी चाहियें। इसी प्रगति-पत्रक के आधार पर समय-समय पर छात्र को निर्देशन भी दिये जाने चाहियें।

छात्र सेवाएँ

छात्र निर्देशन, छात्र स्वास्थ्य तथा छात्र-कल्याणकारी सेवाओं का बहुत ही घनिष्ठ संबंध शाला अनुशासन से है। अत: यह आवश्यक है कि शालाओं में इन सेवाओं की सुव्यवस्था हो।

शाला निर्देशन के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ का विचार है कि कक्षा या विषय-शिक्षक ही निर्देशन तथा परामर्श का अधिकतम कार्य सम्पन्न कर सकता है। इसके विपरीत अनेक विद्वानों की राय है कि शालाओं में विशषत: माध्यमिक शालाओं में निर्देशन तथा परामर्श देने के लिए अलग विशेषज्ञ होना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था बड़ी शालाओं में तो सम्भव है। शालाओं में अन्य शिक्षक भी अनेक प्रकार से प्रतिरोधक कार्यक्रमों के संबंध में सलाह दे सकते हैं। भारत में तो केवल बहुत बड़ी माध्यमिक शालाओं में निर्देशन तथा परामर्श के लिए एक-एक विशषज्ञ जो सामान्यत: मनोविज्ञान का विशेषज्ञ होता है, रहता है। परन्तु एक माध्यमिक शाला जिसमें ६०० से ९०० छात्र हों

एक केरियर मास्टर क्या परामर्श और किन-किन को परामर्श दे पायेगा। इतने पर भी केरियर मास्टर सभी माध्यमिक शालाओं में नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि सामान्य शिक्षक ही छात्रों को आवश्यक परामर्श दें। शिक्षा-प्रशासन को ऐसी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये जिससे सामान्य शिक्षकों को भी निर्देश देने तथा परामर्श करने की सामान्य विधियों तथा कौशलों का परिचय प्राप्त हो जाये और वे बालकों को सामान्य बातों के संबंध में आवश्यक परामर्श और निर्देशन दे सकें।

शालाओं की स्वास्थ्य सेवाओं के संबंध में भी अनेक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। इनके अन्तर्गत नाखूनों, हाथ मुँह की सफाई से लेकर दाँत, तथा शरीर के अंगों की देख-रेख का कार्य किया जाता है। केवल सावासिक तथा उन्नत शालाओं में थोड़ी बहुत दवाई देने की व्यवस्था है। परन्तु इस कार्य के लिए अलग से प्रशिक्षित व्यक्ति या डाक्टर तो कहीं-कहीं ही हैं। वे भी केवल चक्कर लगाकर चले जाते हैं।

शाला के विशेष योग्यता वाले तथा पिछड़े छात्रों की शैक्षणिक गतिविधियों के संबंध में इसी अध्याय में अन्यत्र काफी चर्चा हो चुकी है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन सेवाओं की व्यवस्था अत्यन्त शोचनीय तथा अनिश्चित है।

शिक्षा-प्रशासन का यह उत्तरदायित्व है कि छात्र-सेवाओं का संगठन इस प्रकार किया जाये जिससे इन सभी सेवाओं में उपयुक्त समन्वय हो तथा छात्रों को अधिकतम लाभ मिल सके। शिक्षा-प्रशासक को इस प्रकार की सेवाओं के लिए कर्मचारी सीधे माध्यमिक शाला के प्राचार्य के आधीन रखना चाहिये। ये कर्मचारी अन्य शिक्षकों के साथ मिलकर छात्रों की आवश्यक सहायता करें। धन, प्रशिक्षित कर्मचारी तथा उचित प्रशासकीय नीतियों के अभाव में इन सेवाओं का समुचित विकास नहीं हो सका है परन्तु यह अति आवश्यक है कि इन सभी प्रकार की छात्र-सेवाओं की उचित व्यवस्था शालाओं में की जाये।

विकसित देशों में छात्रों को नौकरी या काम या रोजगार दिलाने के लिए 'फालो-अप सेवाएँ' भी संगठित की जा रही हैं। ये छात्रों को रोजगार या नौकरी दिलाने में सहायता करती तथा उनसे भविष्य में भी सम्पर्क बनाये रखती हैं। इस कार्य के लिए छात्रों के संबंध में समुचित अभिलेख भी रखे जाते हैं।

छात्र नियंत्रण

शालाओं या शिक्षण संस्थाओं में विभिन्न समस्याओं के कारण अनुशासन बिगड़ता है। अतः यह आवश्यक है कि शाला के छात्रों के अनियंत्रित कार्यों तथा व्यवहारों को प्रोत्साहित करने वाले कारणों को दूर किया जाये। छात्रों के अनियंत्रित व्यवहारों के कुछ कारणों का संबंध घर से, कुछ का संबंध शाला तथा कुछ का समाज से रहता है। अतः केवल शिक्षा-प्रशासक तथा शिक्षक ही इन सभी कारणों को दूर तो नहीं कर सकते हैं परन्तु पालकों तथा समाज के सदस्यों की सहायता से छात्रों के अनियंत्रित व्यवहारों को कम करने में समुचित रूप से सहायक हो सकते हैं। शिक्षा-प्रशासकों तथा शिक्षकों को इस समस्या के उचित हल

के लिए नेतृत्व प्रदान करना आवश्यक है। कुछ नियमों या कानूनों से अनियंत्रित व्यवहारों में कमी नहीं आती है। इस कार्य के लिए विस्तृत नीति तथा निर्णयों की आवश्यकता होती है। शोधों तथा अध्ययन से पता चला है, जहाँ उत्तम शिक्षक रहते हैं वहाँ अनियंत्रित व्यवहार की घटनाएँ कम होती हैं। कक्षा में छात्रों की संख्या भी सीमित होनी चाहिये। भावनात्मक छात्र अधिक अनियंत्रित व्यवहार करते हैं। अतः छात्रों को नियंत्रित करना अति आवश्यक है। शालाओं में छात्रों से नीति-निर्धारण में सहयोग लेना चाहिये। जहाँ प्राचार्य या शिक्षक निरंकुश रहते हैं वहाँ अनियंत्रित व्यवहार अधिक पाया गया है। अतः छात्रों को स्वतंत्रता तथा उत्तरदायित्व वहन करने के अधिक से अधिक अवसर देने चाहिये। शालाओं में कक्षा-उन्नति का भी प्रतिशत अच्छा रहना आवश्यक है क्योंकि फेल होने वाले छात्र ही अधिक अशान्ति करते हैं।

छात्र-समुदाय संबंधी शिक्षा-प्रशासन की समस्याएँ

छात्र-समुदाय की संख्या तथा विभिन्नता के आधिक्य के कारण शिक्षा-प्रशासनीय समस्याएँ अधिक रहती हैं। परन्तु यहाँ केवल प्रमुख समस्याओं की चर्चा ही की जा रही है।

(१) विशेष योग्यता वाले छात्रों की शिक्षा व्यवस्था

प्रत्येक कक्षा में बहुत अच्छी योग्यता वाले कुछ छात्र रहते हैं। इनकी विशेष शिक्षा की व्यवस्था अति आवश्यक है क्योंकि देश के विभिन्न क्षेत्रों का नेतृत्व ये छात्र ही करेंगे। यदि इनका समुचित विकास न किया गया तो देश बौद्धिक तथा अन्य दृष्टियों से पिछड़ा या सामान्य ही रहेगा। अनेक यूरोपीय देशों में, विशेषतः इंगलैण्ड में, विशेष योग्यता के बालकों के लिए पृथक माध्यमिक शालाएँ स्थापित की गयीं हैं। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों में भी प्रवेश की शर्तों को कड़ा कर केवल बहुत योग्य छात्रों को प्रवेश के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। अमेरिका में सभी छात्रों को उनकी योग्यता के अनुसार विकास करने की अधिकतम सुविधाएँ देने की व्यवस्था पर अधिक बल दिया जाता है। विशेष योग्यता वाले छात्रों की शिक्षा के लिए अनेक उपाय अपनाये गये हैं, जैसे विशेष समूह में शिक्षा देना, दो कक्षाओं की परीक्षा एक साथ देने की सुविधा देना, विशेष विकसित पाठ्यक्रम निर्धारित करना, विशेष रूप से व्यक्तिगत योजनाओं तथा सम्पन्न कार्यक्रम व्यवस्थित करना आदि। परन्तु अब अनेक विद्वानों का मत है कि विशेष योग्यता वाले छात्रों के लिए विशेष उपाय न अपना कर विस्तृत सम्पन्न कार्य अपनाना अधिक उपयोगी है। शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह समस्या है कि इन कार्यक्रमों में से कौन सा अपनाया जाये तथा किस रूप में इसे व्यवस्थित किया जाये।

(२) स्वास्थ्य सेवाएँ

शिक्षा-प्रशासकों तथा स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों में बहुत समय से यह विवाद चला हुआ है कि शालाओं में स्वास्थ्य सेवाओं की व्यवस्था का उत्तरदायित्व किस पर हो

तथा इनकी व्यवस्था कैसे की जाये ? कुछ शिक्षा-परिषदों तथा शिक्षा-विभागों ने अपनी शालाओं के लिए अलग से डाक्टर, नर्स आदि नियुक्त किये हैं तथा इनके माध्यम से कुछ स्वास्थ्य सेवाओं से छात्रों को लाभान्वित करने के प्रयास किये हैं। परन्तु स्वास्थ्य विभाग का विचार है कि इन सेवाओं को ये अपेक्षाकृत और अच्छी तरह व्यवस्थित कर सकते हैं। अनेक शिक्षा-प्रशासकों को स्वास्थ्य विभाग के डाक्टरों को विना अनुमति शालाओं में जाने तथा स्वास्थ्य-सेवा संबंधी व्यवस्था करने में एतराज है। कुछ देशों में इस कार्य के लिए इस प्रकार के प्रयास किये गये हैं कि स्वास्थ्य सेवाओं संबंधी नि:शुल्क सेवाएँ स्वास्थ्य विभाग करे तथा स्वास्थ्य संबंधी विधिवत शिक्षण तथा अन्य सामान्य सेवाओं की व्यवस्था शिक्षा विभाग की ओर से हो। विद्वान लोग इस बात पर सहमत हैं कि रोगों की रोकथाम तथा टीके लगाने का कार्य ऐसे डाक्टर करें जिन्हें पालक चाहते हैं तथा शाला इन सवका अभिलेख रखे। परन्तु अनेक बार ऐसा होता है कि छात्रों के शाला में आने के बाद यह पता चलता है कि उनकी आँख या दाँत खराब हो गये हैं तथा पालक इनकी उचित दवाई नहीं कर सकते हैं। ऐसी स्थितियों में शाला-स्वास्थ्य-अधिकारियों या समाज की स्वास्थ्य सेवाओं को इन छात्रों की उचित सहायता करना चाहिये क्योंकि इन छात्रों की हानि से देश की हानि ही होती है।

शिक्षा प्रशासकों को शाला-स्वास्थ्य-विभाग को सबल बनाना अति आवश्यक है। केवल इतने से ही कार्य नहीं चल सकता है क्योंकि धन की कमी के कारण शाला-स्वास्थ्य-सेवा इतनी सम्पन्न नहीं हो सकती है कि समाज-स्वास्थ्य सेवा की बराबरी कर सके। अत: उचित यह होगा कि दोनों में समुचित समन्वय तथा सहयोग विकसित किया जाये। यह उत्तरदायित्व शिक्षा-प्रशासन का है। कुछ सम्पन्न देशों में तो इस कार्य के लिए स्वास्थ्य-सेवा-संयोजक भी अलग से नियुक्त किये गये हैं।

(३) पिछड़े छात्रों की अलग शिक्षा व्यवस्था

कहीं-कहीं बहुत योग्य छात्रों की अपेक्षा पिछड़े छात्रों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। कहीं-कहीं पिछड़े बालकों के लिए अलग से शिक्षा की व्यवस्था की गयी है। परन्तु अलग रखकर पिछड़े बालकों में हीनता की भावना का विकास करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त पिछड़े बालकों को सामान्य तथा अच्छे छात्रों के साथ रखने से पिछड़े छात्रों के पास काम भी अधिक होता है। अत: इस संबंध में अब नवीन प्रवृत्ति यह है कि पिछड़े छात्रों को विशेष रूप से अलग न रखा जाये तथा इनकी कमियों को समझ कर विशेष सहायता द्वारा इन्हें उन्नत बनाने के प्रयास किये जायें। यदि पिछड़ापन शारीरिक दोषों, जैसे अन्धा होना या बहरा होना आदि, के कारण है तो इन्हें इस प्रकार की विशेष शालाओं में अवश्य भजना चाहिये। अन्यथा सामान्य शालाओं में ही विशेष प्रयास कर पिछड़े छात्रों को उन्नत बनाने के प्रयास किये जाना अधिक समीचीन है।

(४) वैकल्पिक विषय

अमेरिका या अन्य विकसित देशों में तथा भारत-जैसे विकासशील देशों में भी यह अनुभव किया जाने लगा है कि छात्र माध्यमिक शालाओं से विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि के ज्ञान के बिना भी पास हो जाते हैं। यह स्थिति राष्ट्रों के समुचित विकास की दृष्टि से उचित नहीं है। विज्ञान और तकनीकी विकास के इस युग में छात्र विज्ञान, गणित या लोकतंत्र में सहायक इतिहास, नागरिक शास्त्र, भूगोल आदि विषय बिलकुल न पढ़ें तथा पास होते चले जायें तब काम कैसे चलेगा। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासन कुछ ऐसी व्यवस्था करे कि सभी छात्रों को विज्ञान, गणित, नागरिक शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि महत्वपूर्ण कुछ न कुछ अंशों में अनिवार्य रूप से पढ़ना पड़े। भारतीय शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने सभी छात्रों के लिए १०वीं कक्षा तक समस्त विषयों का अध्ययन अनिवार्य करने का सुझाव दिया है। १०वीं कक्षा के बाद ही वैकल्पिक विषय चुने जा सकते हैं। अतः वैकल्पिक विषय कब प्रारम्भ किये जायें? इन विषयों की क्या व्यवस्था हो? सभी छात्रों को विज्ञान, गणित, इतिहास, भूगोल आदि विषय का कितना अंश और वह किस तरह पढ़ाया जाये? ये सब समस्याएँ शिक्षा-प्रशासन की हैं।

(५) छात्रों का शिक्षा-प्रशासन में सहयोग

आधुनिक काल में सभी ओर से यह सुझाव दिया जाता है कि छात्र-असन्तोष दूर करने का एक उपाय यह है कि उन्हें शिक्षा-प्रशासन में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिये। परन्तु अनेक प्राचार्यों तथा शिक्षा-प्रशासकों का विचार है कि छात्रों को प्रशासन में अधिक नहीं आने देना चाहिये क्योंकि छात्र की बुद्धि अपरिपक्व होती है, तथा उन्हें कम अनुभव होता है अतः वे प्रशासन के उत्तरदायित्वों का समुचित रूप से निर्वाह नहीं कर सकेंगे। अनेक स्थानों में छात्रों को शाला-कार्य-व्यवस्था में समुचित उत्तरदायित्व सौंपे गये तथा छात्रों को नीति निर्धारण, क्रियान्वय आदि के अवसर प्रदान किये गये। इन स्थानों में यह देखा गया कि छात्र-सहयोग एक अच्छी शैक्षणिक प्रक्रिया है। अतः इसका अधिकतम उपयोग किया जाना चाहिये।

छात्र-सहयोग संबंधी अनेक विरोधी विचार शिक्षा-जगत तथा समाज में पाये जाते हैं। परन्तु छात्र-सहयोग को केवल अनुशासनात्मक प्रक्रिया के रूप में ही नहीं लेना चाहिये। कक्षा तथा मैदानों की गतिविधियों की व्यवस्था, छात्र-परिषद, क्लब, स्काउट, खेल की टीम आदि के संगठन तथा उनकी व्यवस्था, मनोरंजन-कार्यक्रमों की व्यवस्था, छात्र-गतिविधियों के लिए नीति निर्धारण तथा उनका क्रियान्वयन शाला-छात्र-सुरक्षा-कार्यक्रम-व्यवस्था, शाला तथा समाज संबंधी सुधार-योजना, शाला-भवन-सुधार-योजना या व्यवस्था आदि के लिए अधिकतम छात्र-सहयोग प्राप्त करना चाहिए। इससे छात्रों के मन में शाला-सत्ता के प्रति आदर विकसित होगा। यह व्यवस्था कैसे की जाये, यह समस्या अभी सुलझी नहीं है।

अध्याय ७

वित्तीय अभिलेख तथा कार्यालय का प्रशासन

शिक्षा-वित्त तथा लेखा-जोखा का महत्व

शिक्षा-वित्त तथा कार्यालय का प्रशासन भी महत्वपूर्ण है क्योंकि ये शाला-कार्य तथा शिक्षा से इतने अधिक संबंधित हैं कि इन क्षेत्रों में कौशल-स्तर उत्तम होने पर ही अन्य गतिविधियाँ भी व्यवस्थित तथा ठीक से चलती हैं। शिक्षा-व्यय, कार्यालय-व्यवस्था तथा शैक्षणिक कार्यक्रमों में संबंध बतलाने वाले तथ्य तो अभी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो सके हैं परन्तु इन क्षेत्रों में जो भी शोध कार्य हुए हैं उनसे यह स्पष्ट होता है कि शैक्षणिक कार्यक्रमों का शिक्षा-व्यय तथा वित्त-व्यवस्था से घनिष्ठ संबंध है। यह तो निर्विवाद नहीं कहा जा सकता कि अधिक व्यय अधिक अच्छी शैक्षणिक उपलब्धियाँ देगा परन्तु यह अवश्य है कि यदि नेतृत्व तथा प्रशासन के अन्य आवश्यक तत्वों का सहयोग हो तो उत्तम उपलब्धियों की अधिक आशा की जा सकती है।

सामान्यतः ऐसा होता है कि वित्त योजना बनते समय तो लोग ध्यान कम देते हैं परन्तु एक बार योजना बनने के बाद जब व्यय होने लगता है तब सभी की सतत दृष्टि इसके मूल्यांकन की ओर लगी रहती है। समाज या अधिकारीगण किसी भी शिक्षा-प्रशासक की क्षमताओं का अनुमान उसके इसी कौशल से लगाते हैं।

इसके साथ-साथ यह स्वाभाविक है कि समाज के सदस्य जो धन शिक्षा में लगाते हैं वे इसके उपयुक्त उपयोग में अधिक से अधिक रुचि रखें। सामान्यतः समाज के सदस्य शाला-वित्त-व्यवस्था को बारीकी से तो नहीं देख समझ सकते परन्तु यदि एक बार भी शंका हो जाये तो संकट उपस्थित हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-वित्त तथा लेखा-जोखा तथा प्रशासन की व्यवस्था न केवल उत्तम हो वरन् तत्संबंध में समाज को समयानुसार आवश्यक सूचनाएँ अवश्य उपलब्ध करायी जानी चाहिये। पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा-वित्त तथा लेखा-जोखा-व्यवस्था एवं प्रशासन के अनेक सिद्धान्त और विधियाँ काफी विकसित हुई हैं।

शिक्षा-प्रशासन का कार्य शिक्षा नीति-निर्धारण तथा क्रियान्वयन है। शिक्षा-वित्त तथा कार्यालय संबंधी सूचनाएँ इन नीतियों के निर्धारण तथा क्रियान्वयन में सहायक होती

हैं। शाला की सारी गतिविधियों के लिए, चाहे वे व्यक्तिगत सेवाओं के रूप में हों या शैक्षणिक गतिविधियों या भौतिक सुविधाओं के रूप में, सभी के लिए वित्त आवश्यक है। शिक्षा की कोई भी समस्या हो उसे बिना वित्त के हल करना बड़ा कठिन है। अतः शिक्षा-नियोजन तथा शिक्षा-वित्त पृथक नहीं किये जा सकते हैं क्योंकि वित्त पर दृष्टि बिना रखे शिक्षा-नियोजन सम्भव ही नहीं है।

किसी भी राष्ट्र के २ प्रतिशत से ५ प्रतिशत व्यक्ति शिक्षा-कार्य में प्रत्यक्ष शिक्षण या परोक्ष रूप से अन्य संबंधित कार्यों में व्यस्त रहते या इनसे आजीविका चलाते हैं। शिक्षा पर राष्ट्रों का काफी व्यय होता है। लगभग २० प्रतिशत से ४० प्रतिशत राष्ट्रीय आय शिक्षा तथा संबंधित कार्यों में व्यय होती है। इस दृष्टि से शिक्षा एक बृहत् उद्योग है। शिक्षा-सामग्री का उत्पादन तथा शाला-भवनों का निर्माण आदि ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जो किसी भी राष्ट्र के आर्थिक ढाँचे में अत्यन्त महत्व रखते हैं। यह कहना तो कठिन है कि कोई राष्ट्र शिक्षा पर कितना व्यय करता है तथा उसे इससे क्या लाभ होता है। परन्तु शिक्षा-शोधों ने यह अवश्य निश्चित किया है कि शिक्षा पर किया गया व्यय ब्याज सहित वापस मिलता है तथा इससे राष्ट्र की सभी प्रकार की उन्नति होती है। इससे राष्ट्र के उत्पादन की वृद्धि होती तथा उपभोग का स्तर उच्च बनता है।[1] परन्तु जैसा कि मारीसन ने कहा है कि यह कहना उचित न होगा कि शिक्षा पर किसी भी सीमा तक अधिक व्यय किया जाना चाहिये। इसमें भी उपलब्धियाँ एक स्तर के बाद कम होने लगती हैं। परन्तु अभी विकसित राष्ट्र भी उस स्तर तक नहीं पहुँचे हैं, अन्य राष्ट्रों की तो बात ही क्या है। शिक्षा के संबंध में मितव्ययिता उचित नहीं है। अपेक्षाकृत थोड़ा अधिक वित्त शालाओं के स्तर को बहुत अधिक उन्नत बना सकता है। वास्तव में गरीब तथा कम व्यय वाली शालाएँ खर्चीली ही होती हैं क्योंकि उपलब्धियाँ बहुत निम्न स्तरीय होने से इन पर किया जाने वाला व्यय व्यर्थ ही होता है।[2]

किसी भी व्यवसाय का उद्देश्य लाभ की प्राप्ति करना है। शिक्षा में यह लाभ शीघ्र दिखाई नहीं देता। यह काम छात्रों के उन्नत व्यक्तित्व के रूप में होता है। यही कारण है कि शिक्षा का प्रभाव लगभग एक पीढ़ी के उपरान्त दिखाई देता है। शिक्षा-प्रशासन में आय तथा व्यय, भवन निर्माण तथा मरम्मत, आवागमन के साधनों की व्यवस्था, उपकरणों की व्यवस्था आदि अन्य क्षेत्रों तथा उद्योगों के अनुरूप ही होते हैं। अतः अन्य उद्योगों में वित्त सम्बंधी मान्य सिद्धान्तों का उपयोग शिक्षा-प्रशासन में भी होता है।

---

[1] American Association of School Administrators, "Public relations for America's Schools"—Thirtieth Year Book, Washington D. C., 1950, pp. 225-228.

[2] Grieder & Rosentengel, *Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954, p. 403.

शिक्षा प्रशासन का कार्य प्रत्येक व्यय किये जाने वाले रुपये का अधिक से अधिक शैक्षणिक लाभ उठाना है। मारफेट, जान्स तथा रेलर ने व्यक्त किया है—"Some administrators have mistaken neat, accurate records for business administration. Such records are commendable, but they can not substitute for policy and program."[१] शिक्षा के क्षेत्र में केवल लेखा-जोखा रखना ही सब कुछ नहीं है। इस लेखे-जोखे से उचित नीतियाँ निर्धारित करने तथा शिक्षा-योजना-निर्माण करने में सहायता मिलनी चाहिये। इससे शाला-व्यवस्था भी उत्तम होनी चाहिये।

शिक्षा-प्रशासन में वित्त तथा लेखा-जोखा संबंधी निम्न कार्य किये जाते हैं :

(१) वित्तीय योजना निर्माण।

(२) बजट निर्माण।

(३) आय तथा व्यय का हिसाब करना।

(४) शैक्षणिक गतिविधियों की वित्तीय व्यवस्था।

(५) स्टाफ आदि में व्यय।

(६) अन्य कर्मचारियों के वेतनादि की व्यवस्था।

(७) भवन-निर्माण, मरम्मत, बीमा आदि की व्यवस्था।

(८) उपर्युक्त सभी मदों संबंधी मूल्यांकन।

वित्तीय नियोजन के अन्तर्गत शिक्षा–नीतियाँ तथा कार्यक्रम बनाये जाते हैं। सम्भावित छात्र-संख्या संबंधी आँकड़े इकट्ठे करना, भवन-निर्माण की योजनाएँ बनाना, भविष्य के आय-व्यय की सम्भावनाओं पर विचार करना आदि बातों के संबंध में योजनाओं का निर्माण होता है।

बजट के अन्तर्गत शैक्षणिक कार्यक्रमों को व्यय के रूप में व्यवस्थित किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि क्या और कैसे व्यय किया जायेगा।

आय तथा व्यय से तात्पर्य आर्थिक आय तथा उसके व्यय करने के अधिकार से है। इसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं की खरीद, विभिन्न कार्यों के लिए किया जाने वाला व्यय, लेखा-जोखा (Accounting) रखना, आडिट प्रतिवेदन तैयार कराना आदि कार्य आते हैं।

स्टाफ पर किये जाने वाले व्यय के अन्तर्गत शाला स्टाफ की नियुक्ति, तरक्की प्रशिक्षण, उनके कार्य का निर्धारण, मूल्यांकन आदि पर होने वाला व्यय आता है।

अन्य कर्मचारियों के वेतन की व्यवस्था के अन्तर्गत शाला-भवन-सुरक्षा, सफाई तथा

---

[1] Morphet, Johns, & Reller, *Educational Administration—Concepts, Prcctices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 436.

अन्य कार्यों, छात्र-सेवाओं, उपकरणों की देख-रेख आदि के लिए जो कर्मचारी नियुक्त किये जाते हैं, उनके वेतन तथा अन्य व्यय का हिसाब रहता है।

भवन-निर्माण, मरम्मत, बीमा, बिजली आदि के व्यय का हिसाब भी अलग से रखा जाता है।

उपर्युक्त मदों का मूल्यांकन इन सभी मदों पर व्यय के शैक्षणिक उपयोग तथा कार्यक्रमों के संदर्भ में किया जाता है।

परन्तु इन सभी मदों पर व्यय में समन्वय स्थापित कर शैक्षणिक कार्यक्रम को सफल बनाना शिक्षा-प्रशासन का कार्य है। शिक्षा-वित्त की व्यवस्था जितनी अच्छी होगी शैक्षणिक कार्यक्रम के उतने ही अच्छे होने की सम्भावनाएँ रहती हैं। अतः शिक्षा-प्रशासन को इस उत्तरदायित्व का उचित निर्वाह करना आवश्यक है।

शिक्षा-वित्त तथा लेखा-जोखा-व्यवस्था एवं प्रशासन के सिद्धान्त

शिक्षा-वित्त तथा लेखा-जोखा-व्यवस्था कानूनी सीमाओं में किया जाना अति आवश्यक है। राज्य सरकार से जो आर्थिक सहायता मिलती है, उसका हिसाब भी यथोचित ढंग से व्यवस्थित रहना चाहिये। इस व्यवस्था में निम्नलिखित सिद्धान्तों का उपयोग किया जाता है।

(१) शिक्षा-वित्त-व्यवस्था साधन है, साध्य नहीं—शिक्षा-वित्त-व्यवस्था की सफलता शैक्षणिक गतिविधियों तथा सेवाओं की संख्या तथा गुणों से ज्ञात होती है। शैक्षणिक कार्यक्रम तथा सेवाओं का मानदण्ड छात्र-विकास तथा समाज-कल्याण है। अतः अन्य उद्योगों के समान व्यय कर बैंक बैलेंस बढ़ाने की नीति इसमें नहीं चल सकती है। शिक्षा-प्रशासन तो साधन मात्र ही है। साध्य तो बाल-विकास तथा समाज-कल्याण है।

(२) शिक्षा-वित्त-प्रशासन दृढ़ तथा लचीला दोनों होना चाहिये—शिक्षा-वित्त संबंधी प्रशासन वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं के अनुरूप दृढ़ तथा लचीला होना चाहिये। दृढ़ता इसलिए कि जिससे वर्तमान कार्यक्रम सुचारु रूप से चल सकें। लचीला इसलिए कि जिससे भविष्य की आवश्यकताओं तथा स्थितियों के अनुरूप इसमें परिवर्तन किया जा सके। शिक्षा तथा वित्तीय कार्यक्रम समुचित रूप से दृढ़ होना आवश्यक है जिससे जो अच्छा है उसका संरक्षण हो सके। उसे लचीला इसलिए होना चाहिये कि जिससे परिवर्तित उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके। Mort & Reusser ने इसीलिए कहा है—"Educational and financial programs must be sufficiently stable to protect what is good and to make possible deliberate planning, but they must also be sufficiently flexible or adoptable to meet variable and changing objectives."[1]

---

[1] Mort & Reusser, *Public School Finance*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, pp. 57-58.

(३) **शिक्षा-वित्त-प्रशासन ईमानदारी से तथा न्यायप्रियता से हो**—शिक्षा-प्रशासन ऐसा हो कि वित्त का उपयोग ईमानदारी से हो तथा सभी फण्ड उत्तम शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए व्यय किये जायें। यह केवल बेईमानी तथा असत्यता को त्यागने मात्र से ही सम्भव नहीं होगा। इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से ऐसे प्रयत्न आवश्यक हैं जिनसे शालाओं की सभी आय का अत्यधिक उत्तम उपयोग हो। यदि शालाओं तथा शिक्षा के लिए समुचित वित्तीय साधनों को जुटाना आवश्यक है तो ईमानदारी तथा उत्तम लेखा-जोखा अनिवार्य है।

(४) **शिक्षा-वित्त-प्रशासन मितव्ययिता के आधार पर हो**—शिक्षा के क्षेत्र में व्यय आय के साधनों के अनुरूप ही होना चाहिये। परन्तु यह आवश्यक है कि वित्तीय साधन पर्याप्त हों। यदि वित्तीय साधन पर्याप्त तथा समुचित न होंगे तो शैक्षणिक कार्यक्रम ठोस तथा उच्च स्तरीय न हो सकेंगे। लिन[1] अभाव या कमी तथा मितव्ययिता के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहता है कि जहाँ व्यय कम करने के लिए शिक्षा-सेवा-स्तर नीचे लाया जाता है उसे कमी (retrenchment) करना कहा जाता है; परन्तु जहाँ आवश्यक स्तर तथा संख्या को देखते हुए सेवाओं के व्यय को कम किया जाता है, वहाँ मितव्ययिता रहती है। अच्छी तथा बुरी मितव्ययिता के संबंध में लिन का विचार है कि बुरे स्थान पर शाला-भवन स्थित करना, अयोग्य शिक्षक या कर्मचारी रखना, खोटे उपकरण खरीदना, आवश्यक मरम्मत टालना आदि बुरी मितव्ययता है। बिना अधिक व्यय के सेवाओं के स्तर को उठाना ही अच्छी मितव्ययिता है, उदाहरणार्थ—अपव्यय को कम करना, अधिक संख्या में खरीद कर वस्तुओं की कीमत कम करना, उपकरणों से अधिक से अधिक सेवा लेना, चोरी न होने देना, टूट फूट कम होने देना आदि।

वित्तीय लेखा-जोखा या हिसाब

शिक्षा वित्तीय लेखा-जोखा ऐसा होना चाहिये कि उससे शिक्षा आय-व्यय का ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत हो सके। इससे यह भी पता चलना चाहिये कि व्यय ईमानदारी तथा सचाई से किया गया है। साथ ही साथ इससे प्रतिवेदन तैयार करने, वित्त नियंत्रण करने, बजट बनाने, कीमतों या व्यय का विश्लेषण करने में सुविधा हो या इन गतिविधियों का ये आधार बन सकें। इस दृष्टि से लेखा-जोखा या हिसाब रखना बही-खाता लिखना मात्र ही नहीं है। यह इससे भी अधिक है। इसका उद्देश्य शिक्षा-गतिविधियों को अधिकतम प्रभावी एवं शैक्षणिक दृष्टि से पूर्ण उपयोगी बनाना है। शाला-लेखा-जोखा के निम्नलिखित प्रयोजन हो सकते हैं :

(१) शाला-बजट तैयार करने में सहायक होना।

---

[1] Linn, H. H., *Practical School Economics*, Teachers College, Columbia University, New York, 1934, pp. 15-19.

(२) शाला से संबंधित अन्य सेवाओं, जैसे वित्त विभाग, शिक्षा विभाग तथा शासन के अन्य विभागों से प्रभावी ढंग से संबंध रखने में सहायक होना ।

(३) शाला के आय-व्यय का विधिवत लेखा रखना ।

(४) शाला की विशेष सेवाओं—जैसे सहकारी दूकान, केफेटेरिया आदि, से संबंधित आय-व्यय का लेखा रखना ।

(५) आडिट के पूर्व तथा बाद के खर्च करने में शालाओं की सहायता करना ।

(६) जनता, शिक्षा-विभाग तथा शाला-प्रबन्ध-समिति को यह विश्वास दिलाना कि सभी खर्चों का लेखा विधिवत् तथा ईमानदारी से रखा गया है।

(७) आडिट में सहायक होना ।

(८) शोध-कार्य करने वालों तथा अन्य व्यक्तियों को आवश्यक आँकड़े देने में सहायक होना ।

शिक्षा-अभिलेख

किसी भी कार्यालय के अभिलेख उस कार्यालय के कार्य, गतिविधियों तथा कार्यों की जटिलता के अनुरूप होते हैं। शिक्षा-अभिलेख देखने में तो बेजान वस्तु लगती है परन्तु शाला-गतिविधियों पर इनका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि इनका संबंध शिक्षा-क्षेत्र के सभी कार्यकर्त्ताओं से रहता है । शिक्षा-प्रशासनीय अधिकारियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि शिक्षा-अभिलेख ऐसे हों जिनसे छात्र, शिक्षकों तथा बालकों, सभी का उचित मार्गदर्शन हो सके। आजकल कार्यालयों में लिखा-पढ़ी का कार्य बहुत बढ़ गया है । फलस्वरूप इनसे संबंधित अनेक समस्याएँ बढ़ गयी हैं। शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ इन अभिलेखों में भी विस्तार अधिक होता जा रहा है। इन अभिलेखों की वृद्धि के साथ-साथ शिक्षा प्रशासकों का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जा रहा है। परन्तु शिक्षा के विकास तथा शिक्षा-गतिविधियों की वृद्धि के साथ शिक्षा प्रशासकों तथा निरीक्षकों की संख्या में समुचित वृद्धि नहीं हुई है। फलस्वरूप शिक्षा-अभिलेख संबंधी प्रशासनीय व्यवस्था समुचित नहीं हो पाती हैं। शिक्षा-अभिलेख, शिक्षा-वित्त आदि जितनी भी अशैक्षणिक गतिविधियाँ हैं, वे शैक्षणिक कार्यक्रमों को गति, सुविधा देने वाली तथा उच्च स्तरीय बनाने वाली होनी चाहिये ।

आडिट

शिक्षा-वित्त तथा लेखे-जोखे का आडिट एक प्रशासनीय जाँच है जिससे आय-व्यय की प्रामाणिकता का ज्ञान होता है । शिक्षण संस्थाओं को सतत् आडिट कराते रहना चाहिये। शिक्षा-प्रशासकों को अपने अन्तर्गत शिक्षण संस्थाओं के हिसाब की आवश्यकतानुसार तथा

नियमित आडिट की व्यवस्था करनी चाहिये। आडिट सभी वित्तीय अभिलेखों का होना चाहिये। इसमें सभी प्रकार की रकमों को—शासकीय, अशासकीय, निजी, बालक बालिकाओं की—सम्मिलित करना उपयोगी रहता है। शिक्षण संस्थाओं की सम्पत्ति तथा ऋण आदि भी इसमें सम्मिलित करना चाहिये।

भारत में शासकीय संस्थाओं के वित्त का आडिट अकाउन्टेन्ट जनरल द्वारा, जो कि केन्द्रीय सरकार का अधिकारी होता है, सम्पन्न किया जाता है। इसके प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिवेदनों तथा वित्तीय कागजातों, आदि के आधार पर डाक द्वारा आडिट किया जाता है। कभी-कभी इसके प्रतिनिधि स्वयं कार्यालयों में जाकर भी आडिट करते हैं। इनके अतिरिक्त, शिक्षा विभाग द्वारा बजट के माध्यम से तथा विभागीय आडीटरों द्वारा आडिट किया जाता है। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का आडिट लोकल फंड अकांउट्स के कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। ये भी अकाउन्टेंट के अधीन रहते हैं।

निजी संस्थाएँ चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट से अपना आडिट कराती हैं।

वार्षिक प्रतिवेदनों तथा शाला निरीक्षण के माध्यम से भी शिक्षा विभाग के निरीक्षक वित्तीय अभिलेखों का आडिट करते हैं।

शिक्षा-वित्त तथा हिसाब के आडिट के प्रमुख उद्देश्य (१) उच्च अधिकारियों या प्रबंध समिति को लेखे-जोखे की प्रामाणिकता ज्ञात कराना, (२) आय-व्यय का हिसाब विधिवत रखने का प्रमाण देना, (३) शिक्षा-सम्पत्ति तथा ऋणों की विधिवत जानकारी देना, (४) शिक्षा-अधिकारियों की विश्वसनीयता जनता के समक्ष प्रमाणित करना, (५) अज्ञानतावश हुई भूलों को सुधारना, (६) वित्तीय मामलों में उचित सलाह तथा निर्देशन देना, (७) वित्तीय भूलों का उत्तरदायित्व निश्चित करना, आदि हैं।

शिक्षा-वित्तीय अभिलेख तथा लेखा-जोखा संबंधी प्रशासनीय समस्याएँ

शिक्षा-वित्त, लेखा-जोखा तथा शिक्षा अभिलेखों की उचित व्यवस्था अति आवश्यक है। इनसे संबंधित कार्य यांत्रिक ढंग से ही नहीं किये जाने चाहिये। ये कार्य जनता के लिए अति महत्व तथा रुचि के हैं। इन कार्यों तथा गतिविधियों से संबंधित निम्नलिखित प्रशासनीय समस्याएँ प्रमुख हैं।

(१) **शिक्षा के लिए कितना व्यय किया जाये**? इस प्रश्न के संबंध में विद्वान एक मत नहीं हैं परन्तु सभी इस बात में एक मत हैं कि शिक्षा के लिए पर्याप्त व्यय नहीं किया जा रहा है। शिक्षा के लिए किये जाने वाले व्यय को दो प्रकार से निर्धारित कर सकते हैं: (१) शिक्षा-व्यय को राष्ट्रीय आय के उचित अनुपात के रूप में तथा (२) एकत्रित किये गये सम्पूर्ण कर के प्रतिशत के रूप में जो शिक्षा पर व्यय किया गया हो। इन दोनों विधियों से शिक्षा-व्यय का हिसाब लगाने के लिए उत्तम निर्णय, तकनीकी राय, परम्परा आदि का आधार लेना आवश्यक होता है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ से अभी तक विभिन्न देशों में

सामान्य राष्ट्रीय आय की १·५ प्रतिशत से १० प्रतिशत तक राशि शिक्षा के लिये व्यय की जा रही है। अवश्य ही द्वितीय विश्व युद्ध के समय यह प्रतिशत न्यूनतम रहा है।

राज्य, जिला या स्थानीय स्तरों पर निम्नतम शिक्षा-गतिविधियों के व्यय की गणना कर भी शिक्षा-व्यय का हिसाब लगाया जा सकता है। परन्तु प्रत्येक राज्य तथा देश को अपना स्तर निश्चित कर ही शिक्षा पर व्यय की जाने वाली रकम का हिसाब लगाना चाहिये।

(२) **शिक्षा के लिए अधिक वित्त कैसे एकत्रित किया जाये तथा यह किस प्रकार व्यय किया जाये?** शिक्षा के लिए वित्त एकत्रित या संगठित करने संबंधी समस्याएँ अनेक हैं। ये समस्याएँ जटिल भी हैं। ये समस्याएँ प्रशासन के विभिन्न स्तरों जैसे केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय स्तरों पर भी हैं।

स्थानीय स्तर पर विकसित देशों, जैसे अमेरिका में सम्पत्ति कर का उपयोग शिक्षा के लिए किया जाता है। परन्तु इसके निर्धारण के लिए हिसाब आदि करने में बड़ी कठिनाइयाँ हैं। साथ ही साथ, शिक्षा अब इतनी विकसित हो गयी है कि केवल सम्पत्ति कर के व्यय से शिक्षा की समुचित व्यवस्था करने में अत्यधिक कठिनाई होने लगी है। अनेक क्षेत्र पिछड़े तथा सामान्य हैं। ऐसे क्षेत्रों में तो केवल सम्पत्ति कर पर निर्भर रहने से कार्य नहीं चल सकता है।

शिक्षा-वर्ष तथा वित्त-वर्ष का भिन्न होना भी समस्या ही है। कहीं-कहीं 'बजट वर्ष' और 'वित्त वर्ष' भी भिन्न होते हैं। इन विभिन्नताओं के कारण अनेक वित्तीय कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतः सम्पूर्ण राज्य में इस हेतु एकरूपता लाना आवश्यक है।

अनेक स्थानों में बहुत छोटे माध्यमिक स्कूल होते हैं। केवल स्थानीय साधनों से इन्हें चलाना तथा शिक्षण-कार्यक्रमों को उन्नत रखना बड़ा कठिन है।

राज्य-स्तरीय वित्तीय कठिनाइयाँ और भी अधिक जटिल होती हैं तथा राजनीति से संबंधित रहती हैं। राज्य स्थानीय तथा निजी प्रयासों को प्रोत्साहित करने के लिए कितना अनुदान दे? यह समस्या बहुत समय से चली आ रही है। इस संबंध में विभिन्न स्थानों तथा समयों में विभिन्न विधियों का प्रयोग किया गया है, जैसे वेतन के आधार पर अनुदान देना, परिणामों के आधार पर अनुदान देना, निश्चित राशि देना, बराबर प्रतिशत देना, श्रेणी बनाकर श्रेणी के अनुसार अनुदान देना, अनेक मदों के लिए एक ही अनुदान देना, सम्पूर्ण कमी की पूर्ति करना, आदि। वर्तमान में इन सभी विधियों में से एकमुश्त अनुदान देने के पक्ष में अधिक विद्वान हैं। मध्य प्रदेश में सम्पूर्ण कमी की पूर्ति वाली विधि का अवलम्बन किया जा रहा है। भारत के अनेक राज्यों में बराबर प्रतिशत, विभिन्न मदों के लिए अलग-अलग अनुदान देने की विधि अपनायी जाती है। सामान्यतः अनुदान के तीन भेद कर लिए जाते हैं यथा (१) मेन्टेनेन्स अनुदान, (२) उपकरण अनुदान तथा (३) भवन संबंधी अनुदान। ऊपर दर्शायी गयी विधियाँ मेन्टेनेन्स अनुदान के संबंध में ही अपनायी जाती हैं।

उपकरण के लिए तो ३० प्रतिशत से ७५ प्रतिशत तक दिया जाता है। भवनादि के लिये ३३·३३ प्रतिशत से ५० प्रतिशत तक अधिक दिया जाता है।

परन्तु इतनी रकम से कार्य चलता नहीं है। साथ ही साथ अनुदान निश्चित करने के लिए हिसाब लगाने की विधियों में भी बड़ी विभिन्नता है। अतः सभी क्षेत्रों में यह अनुभव किया जा रहा है कि अनुदान विधि में सुधार कर वित्तीय सहायता में वृद्धि की जाये।

भारतीय शिक्षा आयोग ने जिला परिषदों के लिये अनुदान के संबंध में मत व्यक्त किया है कि "100 per cent grant for salaries and allowance of teachers and other administrative and supervisory staff be sanctioned by the Government. Definite norms regarding the number of teachers and the administrative and supervisory staff needed should be fixed."[1]

इसके साथ-साथ, अनुदान रकम निश्चित करने के आधारों में परिवर्तन कर व्यय के आधार के स्थान में बजट के आधार पर रकम निश्चित करना चाहिये। अच्छी शालाओं को अधिक अनुदान देने की व्यवस्था रहे तो वे उन्नत होने के प्रयास करेंगी। भवन-अनुदान की रकम बढ़ायी जानी चाहिये तथा जैसे-जैसे भवन बनता जाये अनुदान मिलता जाये, यह व्यवस्था रहे तो अनेक कठिनाइयों का निवारण हो सकेगा। उपकरण तथा अन्य अनावर्त्तक व्ययों के लिए अनुदान की रकम में वृद्धि करना आवश्यक है। भारतीय शिक्षा आयोग ने तो इस रकम को व्यय का २/३ भाग तक बढ़ाने का सुझाव दिया है।[2] विकसित हो रहे देशों में बालिकाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए और अधिक उदारतापूर्वक अनुदान देने की व्यवस्था होना आवश्यक है।

राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय सहायता तथा शिक्षा के क्षेत्रों का निश्चय करने की समस्याएँ प्रधान समस्याएँ हैं। अनेक राज्यों के साधन अत्यन्त सीमित रहते हैं। विभिन्न राज्यों में आबादी की सघनता में बहुत अधिक अन्तर है तथा इनमें आबादी के स्थानान्तरण (mobility) में बहुत अन्तर है। साथ ही साथ, केन्द्र के वित्तीय साधन राज्यों के साधनों की अपेक्षा बहुत अच्छे हैं। अतः केन्द्र द्वारा राज्यों की सहायता करना आवश्यक है।

परन्तु समस्या यह है कि शिक्षण राज्य का विषय है तथा केन्द्र किस शिक्षा के लिए तथा कितनी सहायता करे। भारत में तो विज्ञान, टेक्नोलॉजी, विश्वविद्यालयीय स्तर की शिक्षा, शिक्षक-प्रशिक्षण, शिक्षा-विकास-योजनाओं आदि की शिक्षा के लिए केन्द्र सहायता देता है। अन्य क्षेत्रों की शिक्षा का व्यय राज्यों को करना होता है।

---

[1] Report of the Education Commission (1964-65), Summary of Recommendations Ministry of Education, Government of India, 1966, p. 672.

[2] *Ibid.*, p. 673.

अनुदान देने का अर्थ होता है अधिक नियंत्रण। क्या राज्यों को इस निमित्त केन्द्र के नियंत्रण में रहना चाहिये? यदि हाँ, तो कितना? ये समस्याएँ भी शिक्षा-प्रशासन के समक्ष हैं। आजकल सामान्यतः विद्वानों की यह राय है कि केन्द्र को राज्यों के लिए सामान्य अनुदान बिना किसी शर्त के देना चाहिये। राज्य अपनी सुविधाओं तथा आवश्यकताओं के अनुसार इसे व्यय करे।

इस प्रकार शिक्षा के लिए वित्त एकत्रित करने तथा व्यय करने के संबंध में शिक्षा-प्रशासन के समक्ष अनेक समस्याएँ हैं। इनके उचित हल से शिक्षा का कार्य सन्तोषजनक रूप से सम्पन्न हो सकता है।

(३) **वित्त की सुव्यवस्था**—शिक्षा-प्रशासन की एक बड़ी तथा जटिल समस्या है—वित्त की सुव्यवस्था। शासकीय तथा गैरशासकीय दोनों प्रकार की संस्थाओं में शिक्षा-वित्त की व्यवस्था तथा देख-रेख ठीक हो, यह अति आवश्यक है। आजकल जहाँ तहाँ से आवाजें आती हैं कि शिक्षा-वित्त का गबन हो रहा है या उसकी व्यवस्था ठीक नहीं है। उसका दुरुपयोग हो रहा है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सभी साधनों के अपव्यय की सुरक्षा की जाये। सम्पत्ति को इस प्रकार के कार्यों में लगाया जाये कि वह सुरक्षित भी रहे तथा अधिकतम आय हो।

(४) **वित्त संबंधी स्वतंत्रता**—सरकारी शिक्षण संस्थाओं में तो शासकीय कोष से वित्त व्यय होता है। अतः इन संस्थाओं में तो राजनीति का अधिक प्रवेश नहीं होता है परन्तु स्थानीय स्वशासन संस्थाओं तथा निजी संस्थाओं में राजनीतिक हस्तक्षेप की सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक रहती हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है शिक्षा-प्रशासक वित्त संबंधी ऐसी नीति अपनायें कि संस्थाएँ वित्त के संबंध में स्थानीय या अन्य राजनीतिक तत्वों से मुक्त रहें। वित्त संबंधी स्वतंत्रता स्थायित्व, सतत् शिक्षा-नियोजन, स्वस्थ-शाला-प्रशासन आदि की दृष्टि से अति आवश्यक है। इस संबंध में किये गये अध्ययन तथा शोधों से कोई ऐसा निष्कर्ष नहीं निकलता है कि कौन सी स्थिति उत्तम है। मारफेट, जान्स तथा रेलर ने लिखा है कि "The research on fiscal independence versus dependence affords little objective evidence to support either set of argument. It is doubtful if this issue can ever be resolved by objective evidence, because it involves the determination of the relative importance of different social values."[1]

(५) **क्या शिक्षा संबंधी कीमत या व्यय आँकना आवश्यक है?** शिक्षा-लेखा-जोखा के आधार पर यह हिसाब लगाया जा सकता है कि प्रति छात्र कितना व्यय किया जा रहा है तथा किस राज्य या देश में शिक्षा-व्यय कितना है। इनसे शिक्षा-व्यय संबंधी प्रवृत्तियों का

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc.; 1959, p. 457.

भी ज्ञान हो सकता है। शिक्षा संबंधी विभिन्न मदों जैसे शिक्षक, बस सर्विस, आकस्मिक व्यय, उपकरण, भवन आदि पर किये जाने वाले व्यय का हिसाब लगाया जा सकता है। इससे यह भी ज्ञात हो सकेगा कि किसी मद में व्यय कम या अधिक हो रहा है तथा यह कम या अधिक क्यों है ?

सामान्यतः इस प्रकार के लेखा-जोखा का उपयोग अन्य शालाओं, राज्यों या देशों के शिक्षा-व्यय के तुलनात्मक अध्ययन के लिए किया जाता है। परन्तु इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्रति रुपया कितनी शैक्षणिक गतिविधियाँ हो रही हैं तथा यह धन उपयोगी रूप से व्यय हो रहा है या नहीं। व्यय का हिसाब हमेशा समझने योग्य सरल यूनिट या इकाइयों में लगाना चाहिये। इससे समाज के सदस्यों को इन्हें समझने में सरलता होती है। अतः कुल व्यय की रकम न देकर प्रति बालक व्यय देना अधिक सुविधाजनक तथा उपयोगी होता है। शिक्षा-व्यय के आँकड़ों से शिक्षण-गतिविधियों का उचित मूल्यांकन भी किया जा सकता है।

इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा-व्यय का हिसाब उचित ढंग से लगाया जाये। परन्तु शिक्षा प्रशासकों के समक्ष यह समस्या है कि यह हिसाब किस प्रकार लगाया जाये तथा इस पर कितना व्यय किया जाये ?

अध्याय ८

शाला-भवन का प्रशासन

शाला-भवन-प्रशासन शिक्षा प्रशासकों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। यह इसलिए भी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि शाला-शैक्षणिक कार्यक्रमों पर इसका प्रभाव पड़ता है। इस बात पर तो सभी एक मत हैं कि शाला-भवन से शैक्षणिक आवश्यकताओं तथा कार्यक्रमों की झलक मिलनी चाहिये परन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि शाला-भवन के अनुरूप ही शैक्षणिक कार्यक्रम निश्चित किये जाते हैं। वास्तव में स्थिति विपरीत होनी चाहिये। शाला-भवन एक बार बनने के बाद अनेक वर्षों तक उसी रूप में बना रहता है परन्तु शाला दर्ज संख्या तथा शैक्षणिक कार्यक्रमों की वृद्धि सतत् चलती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक संस्थाओं में शैक्षणिक कार्यक्रम शाला-भवन की स्थिति, स्थान आदि के अनुरूप व्यवस्थित होते हैं, जैसे यदि शाला-भवन शहर या गाँव से दूर है तथा वहाँ प्रयोग-कक्ष नहीं है तब सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाएँ कम होंगी। ये क्रियाएँ छुट्टियों में तो होंगी ही नहीं तथा विज्ञान में प्रयोग कम से कम होंगे। कभी-कभी प्राथमिक शाला-भवन में माध्यमिक शाला लगने लगती है। ऐसी स्थिति में भी माध्यमिक शाला के अनेक शैक्षणिक कार्यक्रम कम हो जाते हैं तथा केवल कक्षा-शिक्षण ही सामान्य ढंग से चलता है। इसका कारण यह है कि शिक्षक शाला-भवन की कमियों के बंधन में रहते हैं। सामान्य कक्षों को प्रयोग-कक्षों में एकदम तो परिवर्तित नहीं किया जा सकता है।

शाला-भवन में केवल स्थान या कमरे अधिक होने से काम नहीं चलता है। स्थान तथा कमरों के साथ ही साथ उपकरणों का समुचित उपयोग अति आवश्यक है। मारफेट, जान्स तथा रेलर ने लिखा है "Where adequate learning space is provided the administrator also has a responsibility and an opportunity to assist a staff in its effective utilization. Here is an excellent opportunity for the stimulation of staff growth—including growth of the administrator."[1]

वास्तव में शाला-भवन का अधिकतम उपयोग आवश्यक है। भारत में वर्तमान में शाला-भवन के उपयोग में बहुत अधिक अपव्यय होता है। कक्षाएँ प्रायः १० से ४ या ११ से

[1] Morphet, Johns & Reller, "*Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 412.

४।। बजे तक लगती हैं। अन्य समय में शाला-भवन खाली पड़ा रहता है। अनेक विकसित देशों में शाला-भवन का उपयोग समाज द्वारा प्रौढ़ कक्षाओं, वाचनालयों, मनोरंजन-स्थलों, बैठकों, गोष्ठियों आदि के लिए किया जाता है। अनेक देशों में तो शाला-भवन का उपयोग रात-दिन किये जाने पर बल दिया जाता है। वहाँ का सिद्धान्त है—"शाला-भवन में रात भर रोशनी रखने के प्रयास करना।" शिक्षा प्रशासकों का यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है कि शाला-भवन की उपयोग-क्षमता में वे अधिकतम विकास करें। भारत में शाला-भवन का केवल बालकों की शैक्षणिक गतिविधियों के लिए उपयोग करने का एक कारण यह है कि यहाँ शाला-भवन केवल शाला की सम्पत्ति मानी जाती है तथा शाला और समाज का अलग-अलग अस्तित्व होता है। अतः समाज का प्रवेश शाला-भवन में बहुत कठिनाई से होता है। इस हेतु बड़े कड़े नियम भी भारत में बनाये गये हैं। शिक्षा प्रशासन को इस ओर विशेष ध्यान देकर इस अपव्यय को कम करना चाहिये।

भविष्य में अधिक शाला-भवनों की आवश्यकता

भविष्य में शिक्षा-प्रशासकों को तो और भी अधिक ध्यान शाला-भवन-विकास की ओर देना आवश्यक हो जायेगा। भारत में शाला-भवनों की स्थिति बहुत शोचनीय है। अनेक शालाओं को तो परछी या दालान में लगाया जाता है। कुछ शालाएँ दो या तीन पालियों में लगती हैं। बहुत कम शालाओं के पास अपना निजी भवन है। यदि निजी भवन है भी तो छात्र-संख्या इतनी अधिक है कि उनका कार्य समुचित रूप से चलता ही नहीं है। इस स्थिति से निपटने के लिए ही बहुत अधिक शाला-भवनों की आवश्यकता है। फिर अगले २० वर्षों में तो छात्र दर्ज संख्या द्विगुणित हो जायेगी। ऐसी स्थिति में बहुत अधिक संख्या में शाला-भवन आवश्यक होंगे। शाला-भवन-निर्माण की कीमतें बहुत अधिक बढ़ रही हैं तथा भविष्य में ये कीमतें और भी बढ़ सकती हैं। ऐसी स्थिति में शाला-भवन-निर्माण के लिए बहुत अधिक रकम व्यय करना आवश्यक होगा। अभी शिक्षा पर व्यय की जा रही रकम का लगभग ३ प्रतिशत से १५ प्रतिशत शाला-भवन-निर्माण में व्यय किया जाता है। विकसित देशों में यह प्रतिशत अधिक है तथा अविकसित और विकसित हो रहे देशों में यह प्रतिशत कम है। विद्वानों का विचार है कि निकट भविष्य में अमेरिका आदि सम्पन्न और विकसित देशों में शाला-भवन-निर्माण पर व्यय २० प्रतिशत हो जायेगा।[1] अतः भविष्य में शिक्षा प्रशासकों को शाला-भवनों के विकास की ओर अधिक ध्यान देना आवश्यक रहेगा।

शाला-भवन-योजना तथा विकास

शाला-भवन-योजना तथा विकास के लिए यह आवश्यक है कि छात्र संख्या का समुचित हिसाब रखकर भविष्य के लिए सही-सही सम्भावित अनुमान लगाया जाये। इसके

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 413.

साथ ही वर्तमान शाला-भवन का मूल्यांकन कर अपनी आवश्यकताएँ निर्धारित करना भी आवश्यक है। अपनी वित्तीय स्थिति का ज्ञान अर्थात सभी प्रकार के ऋण, व्यय, अनुदान तथा अन्य आय आदि का ध्यान रखना भी आवश्यक रहता है।

किसी भी क्षेत्र या समाज के लिए शाला-भवन-योजना या कार्यक्रम को निश्चित करते समय समाज या क्षेत्र में छात्रों की संख्या, धन, समाज-विकास के अन्य कार्यक्रम आदि सम्बन्धी सूचना एकत्रित कर उन्हें व्यवस्थित करना आवश्यक रहता है। पिटनगर का कथन है कि "Where there are adequate child-accounting records and a community planning movement, and where a good curriculum-revision study is in progress or has been tentatively completed, much or possibly all of the data that are necessary for intelligent school-plant planning will be available."[1]

इन सूचनाओं को एकत्रित कर उन्हें उचित रूप से समझना आवश्यक है। अनेक विकसित देशों में शहर के विस्तृत विकास के लिए विकास तथा योजना आयोग रहता है जिसमें शाला या शिक्षा-प्रशासन के अधिकारी भी प्रतिनिधि के रूप में रहते हैं। परन्तु अनेक छोटे गाँवों में शाला ही एक ऐसी संस्था होती है जो विकास संबंधी योजनाएँ बनाती है।

शाला-भवन-निर्माण में स्थान का चुनाव, भवन-निर्माण-यंत्रियों का चुनाव, शैक्षणिक आवश्यकताओं के अनुसार भवन की योजना, भवन-निर्माण के लिए ठेका देना, निर्माण के समय निरीक्षण करना तथा निर्माण के उपरान्त उपकरणों से उसे सज्जित करना आदि क्रियाएँ आवश्यक हैं। इनमें से अनेक क्रियाओं के संबंध में शिक्षा-प्रशासक बहुत कम ज्ञान रखता है। वह तो शैक्षणिक आवश्यकताओं के संबंध में ही अधिक समझता है। अन्य क्रियाओं के लिए उसे अन्य अधिकारी तथा कर्मचारी चुनने पड़ते हैं। परन्तु इन सभी क्रियाओं के संबंध में उसे उपयुक्त नेतृत्व प्रदर्शित करना आवश्यक रहता है।

शाला-ग्रंथालय

शाला-शिक्षण पर शाला-ग्रंथालय का समुचित प्रभाव रहता है। इसलिए शाला प्राचार्य को शाला-ग्रंथालय की सेवाओं के संबंध में समुचित ज्ञान रखना चाहिए तथा इस बात के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए कि शाला-ग्रंथालय-व्यवस्था प्रभावी, उत्तम तथा उपयोगी हो। शाला-ग्रंथालय-व्यवस्था तथा प्रशासन के संबंध में शालाओं में इतनी अधिक विविधता है कि किसी एक विधि के विवरण के माध्यम से या संक्षेप में इनका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। कुछ शालाओं में ग्रंथालय पठन-कक्ष से संलग्न रहता है या दोनों एक ही कक्ष में व्यवस्थित रहते हैं। अनेक भारतीय शालाओं में समाचार-पत्र-पठन-व्यवस्था दालान में

---

[1] Pittenger, B. F., *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, p. 382.

रहती है तथा ग्रंथालय की आलमारियाँ किसी कमरे के कोने में व्यवस्थित कर दी जाती हैं। अनेक शालाओं में एक केन्द्रीय ग्रंथालय सम्पूर्ण शाला के लिए होता है तथा कक्षा-ग्रंथालय इसी से पुस्तकें प्राप्त करते हैं। विकसित देशों की शालाओं में केन्द्रीय ग्रंथालय तथा कक्षा-ग्रंथालय या गृह-ग्रंथालय के साथ-साथ सहायक ग्रंथालयों की व्यवस्था भी रहती है। परन्तु ऐसी व्यवस्था सम्पन्न देश ही कर सकते हैं। इसमें धन के व्यय के साथ-साथ व्यवस्था तथा पर्यवेक्षण की अलग से आवश्यकता होती है। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में शाला के बड़े कमरे या किसी अन्य कमरे में छात्रों के उपयोग में आने वाली सहायक पुस्तकें सुविधा से उपलब्ध हो जाती हैं।

शाला-ग्रंथालय-प्रशासन में यह विचार करना अति आवश्यक है कि इसकी स्थिति सुविधाजनक तथा शीघ्रता से पहुँच वाले स्थान में हो। इसी दृष्टि से शाला-ग्रंथालय सामान्यतः शाला-भवन के मध्य में स्थित तथा व्यवस्थित किया जाता है। यदि शाला-भवन तीनमंजिला हो तो दूसरी मंजिल पर शाला-ग्रंथालय स्थित करना उपयुक्त रहता है। परन्तु यदि शाला-ग्रंथालय का उपयोग समाज के सदस्यों के लाभार्थ भी होता है तब इसे सबसे नीचे की मंजिल पर ही व्यवस्थित करना चाहिये। इससे समाज के सदस्यों के आने-जाने में सुविधा होती है। साथ ही साथ इससे शाला-भवन की अन्य व्यवस्था भी सामान्य बनी रहती है।

शाला-ग्रंथालय का कमरा काफी बड़ा होना चाहिये जिससे बालकों के पठन तथा ग्रंथपाल के कार्य के लिए समुचित स्थान उपलब्ध हो सके। यदि स्थान तथा निर्माण की सुविधाएँ हों तो ग्रंथपाल के लिए अलग से कमरा तथा बालकों के पठन के लिए अलग स्थान रखना अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक रहता है। विकसित देशों में अनेक शाला-ग्रंथालयों से दृश्य-श्रव्य-सामग्री-कक्ष भी संलग्न रहता है। इसमें समय-समय पर चलचित्र प्रदर्शन भी सुविधा से किया जा सकता है।

शाला-ग्रंथालय में खुली आलमारियों में पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाओं के रखने की व्यवस्था भी होनी चाहिए। इनसे पुस्तकें या पत्र-पत्रिकायें छात्र अपनी सुविधा से निकालें तथा रखें। उनमें शब्दकोष, एटलस, नक्शे आदि भी रखने चाहिये।

अनेक शाला-ग्रंथालयों में बालकों तथा शिक्षकों के पठन के लिए भी कक्ष रहता है। विकसित देशों में तो ग्रंथालयों में इस उपयोग के लिए अनेक कक्षों की व्यवस्था रहती है जिनमें छात्र तथा शिक्षक कक्षा-शिक्षण में संलग्न न रहने तथा फुरसत के समय एकत्रित होते हैं। पठन-कक्ष काफी बड़ा होना चाहिये। यदि बड़ा हाल हो तो और भी अच्छा रहता है। यदि बड़ा हाल न हो तो अध्यापन-कक्ष का इस कार्य के लिए प्रयोग किया जा सकता है। बिदेशों की अनेक शालाओं में मध्याह्न-भोजन-कक्ष के साथ ही ग्रंथालय-कक्षों की व्यवस्था रहती है। इससे इन पठन-कक्षों में शोर काफी रहता है। कहीं-कहीं पठन-कक्षों में मध्याह्न-भोजन की

व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार की व्यवस्था में भी शोर अधिक ही होता है तथा सफाई की व्यवस्था शीघ्रता तथा अच्छे ढंग से करना अति आवश्यक रहता है।

शाला-ग्रंथालय या इससे संलग्न पठन-कक्ष की व्यवस्था अति आवश्यक है। पठन-कक्षों में छात्र अपने छुट्टी के समय या खाली घण्टों में अध्ययन-रत रह सकते हैं।

खेल के मैदान तथा जिमनेशियम

छात्रों के स्वास्थ्य का समुचित विकास किसी भी शाला का महत्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिये। इसके लिये डाक्टरी जाँच तथा स्वास्थ्य-ज्ञान के साथ-साथ खेल-कूद एवं जिमनेशियम की उत्तम व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी आधुनिक माध्यमिक शाला में खेल-कूद तथा व्यायाम की समुचित व्यवस्था रहती है। इससे बालकों के स्वास्थ्य-विकास में सहायता तो मिलती ही है, वे सहयोग तथा एकता के पाठ भी सीखते हैं। खेल के मैदान तथा जिमनेशियम स्वस्थ मनोरंजन के उत्तम साधन होते हैं। भारत की अनेक शालाओं में खेल के मैदान तथा व्यायाम और जिमनेशियम आदि के लिए समुचित स्थान उपलब्ध नहीं रहता है। फलस्वरूप माध्यमिक शालाओं के बालक स्वस्थ मनोरंजन, स्वास्थ्यवर्धक खेल-कूद, उत्तम व्यायाम प्रदर्शन तथा अन्य गतिविधियों से वंचित रहते हैं। जहाँ व्यायाम शालाएँ हैं भी, वे बहुत संकीर्ण हैं। जिमनेशियम या व्यायाम शालाओं में कपड़े बदलने, टाँगने आदि के लिए उचित स्थान भी होना चाहिये। व्यायाम के लिए उचित उपकरण की व्यवस्था भी अति आवश्यक है। इन उपकरणों के उपयोग के साथ-साथ व्यायाम पर्यवेक्षक या शिक्षक भी होना चाहिये। व्यायाम पर्यवेक्षक या शिक्षक का कार्य यह देखना है कि बालक उचित विधि से व्यायाम करें तथा आवश्यक नियमों का पालन करें।

खेल के मैदान तथा व्यायाम शालाएँ शाला-भवन के बीच में न होकर एक तरफ की ओर होने से समाज के सदस्य भी इनका उपयोग कर सकते हैं। परन्तु शाला के बालकों एवं समाज के प्रौढ़ों के उपयोग के समय भिन्न-भिन्न होना चाहिये। व्यायाम शालाओं में सूर्य-प्रकाश, संवातन आदि की भी समुचित व्यवस्था आवश्यक है।

सामान्यत: ४०० या ५०० से अधिक छात्र-संख्या वाली शालाओं में खेल के मैदानों तथा व्यायाम शालाओं की संख्या अधिक होनी चाहिये। अंग्रेजी के टी (T) शब्द के आकार की व्यायाम शालाएँ सस्ती पड़ती हैं। व्यायाम शालाओं के आस-पास बैठने की गैलरी भी हो तो अच्छा रहता है।

खेल के मैदानों की संख्या भी शाला की छात्र-संख्या पर निर्भर रहती है। सामान्यत: शालाओं में इतने खेल के मैदान होने चाहिये कि दो या तीन कक्षा के छात्र एक साथ विभिन्न खेल खेल सकें। विकसित देशों में खेल के मैदान के आस-पास दर्शकों की गैलरी की व्यवस्था रहती है। दर्शकों का बहुत अधिक प्रभाव छात्रों के खेल पर पड़ता है। इन्हें 'Field house' कहते हैं। कुछ फील्ड हाउस में तो दौड़ तथा अन्य खेलों के लिए मैदान आदि भी रहते हैं।

प्रयोग शालाएँ

आधुनिक माध्यमिक शालाओं में विज्ञान, हस्तकार्य, कला, संगीत आदि के लिए प्रयोग शालाओं की समुचित व्यवस्था रहती है। प्रयोग शाला चाहे विज्ञान की हो या कला या हस्त कार्य की, इसमें काफी स्थान तथा उपकरण होना चाहिये एवं प्रदर्शन तथा प्रयोग आदि की समुचित सुविधाएँ रहनी चाहिये। इनमें प्रकाश तथा संवातन की उत्तम व्यवस्था भी होनी आवश्यक है। इनमें कार्य करने से बालकों के स्वास्थ्य पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े इसका ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिये। इन प्रयोग शालाओं का प्रति वर्ष क्रमशः विकास भी करते रहना आवश्यक है। टूटा या खराब सामान अलग रखने तथा इसके स्थान में आवश्यक अच्छा सामान एवं उपकरण लाने की व्यवस्था सतत् चलती रहनी चाहिये।

इन प्रयोग शालाओं में प्रयोग या अभ्यास करने एवं शिक्षण करने के लिए अलग-अलग व्यवस्था अनेक शालाओं में रहती है। परन्तु मितव्ययिता की दृष्टि से यदि अभ्यास तथा शिक्षण एक ही स्थान में हों तो भी कोई विशेष कठिनाई नहीं होती है। परन्तु अभ्यास तथा प्रयोग एवं शिक्षण की अलग-अलग व्यवस्था अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक होती है। शिक्षण-कक्ष में बालकों के बैठने की सीटें सीढ़ियों के समान गैलरी के रूप में होने से शिक्षण द्वारा प्रदर्शन देखने में कठिनाई नहीं होती है।

शालाओं के बड़े कमरों या हाल को भी प्रयोग-कक्ष के रूप में उपयोग में लाया जा सकता है।

शालाओं में विज्ञान के विषयों से संबंधित अनेक ऐसी प्रवृत्तियों का भी विकास किया जाना चाहिये जो बालकों में विषय के प्रति रुचि विकसित करें तथा विषय का समुचित ज्ञान भी विकसित करने में सहायक हों। विज्ञान में ग्रीन हाउस या हरित गृह, मछली पालन, खरगोश या चूहा पालन, विभिन्न जानवरों, पक्षियों आदि के विकास संबंधी चित्र आदि होने चाहिये। हरित गृह या अन्य स्थल इतने बड़े स्थान में बनाना सुविधाजनक होता है कि आवश्यकता पड़ने पर वहाँ कक्षा भी ली जा सके।

सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर

माध्यमिक शालाओं में बालकों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर आवश्यक तथा उपयोगी होते हैं। इनसे बालकों को वस्तुएँ बाजार से कुछ सस्ती मिल जाती हैं तथा थोड़े सामान को खरीदने के लिए बार-बार बाजार भी नहीं जाना पड़ता है। साथ ही साथ व्यावहारिक प्रशिक्षण भी मिलता है। परन्तु सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर व्यवस्था के लिए धन, समय, कौशल आदि सभी आवश्यक रहते हैं। अनेक शालाएँ दूकान के लिये उपकरण, टेबिल, कुर्सी या अन्य फर्नीचर बहुत अधिक खरीद लेती हैं जिससे सामान रखने तथा खरीदने के लिए उनके पास पैसों की कमी पड़ जाती है। इससे उत्तम तो यह होता है कि फर्नीचर पहले कम से कम खरीदा जाये। बाद में आवश्यकता-

नुसार फर्नीचर बढ़ाया जाये । सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर सस्ता तथा सरल या कम भड़कीला ही होना चाहिये । दूकान में सामान की सुरक्षा की व्यवस्था करना अति आवश्यक है । अच्छा तो यह होगा कि सहकारी दूकान नियोजना में सुरक्षा को प्राथमिकता दी जाये । माल इकट्ठा रखने के लिए इसमें समुचित स्थान होना चाहिये । माल देने तथा पैसे के लिए समुचित, सुविधाजनक व्यवस्था करना भी अति आवश्यक है । सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर छुट्टी के समय तथा शाला लगने के पूर्व तथा छूटने के बाद खुलना चाहिये । इनके नियमों का निश्चित तथा सुविधाजनक होना आवश्यक है । इनमें दैनिक आवश्यकता के अनुसार वस्तुओं को रखना चाहिये जिससे अधिक माल इकट्ठा न हो । इनमें माल भी उतना ही लाना चाहिये जिसकी खपत शीघ्रता से हो । इससे स्टाक की सुरक्षा तथा स्टोर करने की व्यवस्था की आवश्यकता नहीं पड़ती है ।

सहकारी दूकान तथा बुक स्टोर की सफाई की भी उचित व्यवस्था होना अति आवश्यक है । इसके पैसों के हिसाब की उचित व्यवस्था शिक्षक के निर्देशन में बालकों से कराना चाहिये । जिन शालाओं में व्यापार तथा अर्थशास्त्र शिक्षण होता है वहाँ इन विषयों के छात्रों से इसकी व्यवस्था कराने से उन्हें व्यावहारिक ज्ञान भी मिलता रहता है ।

दृश्य-श्रव्य-कक्ष

किसी भी आधुनिक माध्यमिक शाला के कार्यक्रम में दृश्य-श्रव्य सहायक सामग्री का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहता है । दृश्य-श्रव्य सहायक सामग्री के अन्तर्गत अनेक प्रकार की शैक्षणिक सहायक सामग्री, जैसे—चित्र, नक्शे, ग्लोब, उपकरण आदि आते हैं । विकसित देशों में माध्यमिक शालाओं में चल-चित्र-प्रदर्शन, रेडियो, टेलीविजन, एपीडाइसकोप आदि की व्यवस्था भी रहती है । इन देशों में आजकल इन गतिविधियों पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है । इनके उपयोग के लिए कमरे, बिजली, उपकरण आदि सभी की उत्तम व्यवस्था अति आवश्यक रहती है । अनेक शालाओं में चल-चित्र-प्रदर्शन हाल में ही होता है । वहाँ परदों आदि के उपयोग से हाल में अँधेरा कर लिया जाता है तथा सम्पूर्ण शाला या कुछ कक्षाओं के बालक एकत्रित होकर इन प्रदर्शनों से लाभान्वित होते हैं । भारतीय माध्यमिक शालाओं में अभी इन साधनों का उपयोग बड़े शहरों की शालाओं में ही होता है । गाँवों की शालाओं में तो समाज-कल्याण-विभाग या स्वास्थ्य-विभाग की कृपा से ही कुछ चल-चित्रों का प्रदर्शन वर्ष में एकाध बार हो जाता है ।

माध्यमिक शालाओं में दृश्य-श्रव्य-सहायक सामग्री-कक्ष को शाला की विभिन्न कक्षाओं को आवश्यकतानुसार सहायक सामग्री देने वाला वितरक केन्द्र होना चाहिये । इसे ग्रंथालय के पास या उससे संलग्न कमरे में व्यवस्थित करना अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक होता है । अनेक शालाओं में इसे कार्यालय या प्राचार्य के कक्ष के पास भी व्यवस्थित करते हैं । परन्तु इसे ग्रंथालय का अंग बनाना अधिक सुविधाजनक तथा उपयोगी होता है । दृश्य-श्रव्य-कक्ष में उपकरणों तथा अन्य सामान की सुरक्षा तथा इनके उचित ढंग से रखने

की उचित व्यवस्था भी अति आवश्यक है। अनेक चित्र तथा नक्शे बहुत महँगे तथा उपयोगी होते हैं। इनका उपयोग भी अधिक होता है। अतः यह आवश्यक है कि इनकी तथा अन्य सभी सामान की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था की जाये। रुचि रखने वाले किसी शिक्षक या लिपिक के जिम्मे यह कक्ष रखना चाहिये। शाला-घण्टों तथा इसके कुछ पहिले एवं बाद में मी इस कक्ष के खुले रहन की समुचित व्यवस्था होना आवश्यक है। इस कक्ष के सभी सामान की सूची का प्रदर्शन भी उपयुक्त स्थल पर किया जाना चाहिये। साथ ही साथ इनके स्टाक का रजिस्टर व्यवस्थित रूप से भरा जाना चाहिये।

केन्टीन

किसी भी माध्यमिक शाला में केन्टीन की व्यवस्था कैसी हो तथा कितना बड़ा केन्टीन हो, यह शाला विशेष की आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। केन्टीन की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण होती है। अनेक शालाओं में केन्टीन नीचे, गन्दे स्थानों में व्यवस्थित किये जाते हैं। केन्टीन स्वस्थ, खुले तथा हवादार स्थानों में व्यवस्थित होना चाहिये। यदि शाला-भवन दोमंजिला या कई मंजिल का हो तो सबसे ऊपरी मंजिल पर केन्टीन रखना उत्तम होता है। इसमें केवल यह कठिनाई होती है कि बालकों को ऊपर जाना तथा सामान को ऊपर चढ़ाना पड़ता है। परन्तु इसमें सामान की सुरक्षा तथा समाज के संक्रमण से बचाव भी होता है। अच्छा तो यही होगा कि केन्टीन शाला-भवन से अलग कमरे या भवन में व्यवस्थित किया जाये। केन्टीन की दीवारें तथा फर्श पक्के सीमेन्ट के होने चाहिये जिससे इसकी सफाई उचित रूप से की जाती रहे। केन्टीन का फर्श यदि बहुत कठोर हुआ तो छुट्टी के समय या अन्य समयों में बालकों की भीड़ से केन्टीन में शोर गुल अधिक होता है। विकसित देशों में तो इसीलिए केन्टीन में आवाज कम करने के लिए रबड़ या रेगजीन के ऐसे फर्शों का उपयोग किया जाता है जो धोये जा सकें तथा जिनमें आवाज भी कम से कम हो। कार्क का भी उपयोग कई शालाओं में केन्टीन के फर्श में किया जाता है।

केन्टीन की चीजें लाने, व्यवस्थित-सुरक्षित रखने, बेचने आदि में अनेक प्रशासनीय समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अतः केन्टीन संबंधी नीति स्पष्ट तथा सुनियोजित होनी चाहिये। इसके लिये सुयोग्य तथा केन्टीन कार्यों में रुचि रखने वाले शिक्षक को या अलग से व्यक्ति को नियुक्त करना चाहिये।

केन्टीन में सफाई बहुत अधिक रखी जानी चाहिये। चीजों को मक्खियों तथा कीटाणुओं से बचाना, शुद्ध पेय जल की व्यवस्था करना और खाने के प्लेट, चम्मच, कप आदि धोने की समुचित व्यवस्था केन्टीन में की जानी चाहिये। परन्तु केन्टीन का कार्य शाला-शिक्षण-कार्य में बाधक न हो, इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

माध्यमिक शालाओं में शाला-भवन के अतिरिक्त इन बातों के लिए कक्ष, भवन या अन्य व्यवस्था जरूरी होती है। शाला के प्रशासकों का यह उत्तरदायित्व है कि शाला-भवन-निर्माण के समय वे इन सभी बातों का ध्यान रखें तथा इन सभी की उचित

व्यवस्था शाला में करें। इनके अतिरिक्त शालाओं में स्टाफ के रहने के लिए घरों, टूटे-फूटे सामान को रखने, बालकों या छात्राओं के लिये अलग कमरों, जीना, बरामदा आदि की भी व्यवस्था आवश्यक रहती है। शाला-प्राचार्य तथा प्रशासकों को इन सभी बातों का ध्यान रखकर शाला-भवन-निर्माण की योजना बनानी चाहिये।

शाला-भवन संबंधी प्रशासकीय समस्याएँ

शाला-भवन संबंधी अनेक समस्याएँ शिक्षा-प्रशासन के समक्ष रहती हैं। इनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(१) **शिक्षण के लिये उपयुक्त स्थान कितना होना चाहिये**—इस संबंध में दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। पहली विधि—एक बालक के लिए कितना स्थान आवश्यक है? इस आधार पर सम्पूर्ण शाला के लिए आवश्यक स्थान का अनुमान लगाया जा सकता है। दूसरी विधि—शिक्षण तथा अन्य कार्यों जैसे—वाचनालय, ग्रंथालय, केन्टीन, प्रयोग-कक्ष आदि के लिए आवश्यक स्थान का हिसाब लगाया जा सकता है। पिछले ५० वर्षों में स्थान के संबंध में विचारधाराएँ बदलती ही जा रही हैं तथा वर्तमान में अपेक्षाकृत अधिक स्थान की माँग की जाती है। "The inadequacy of the old elementary school room of 660 square feet has been widely recognized. Few families with the purposes and life of the elementary school desire less than 1,000 square feet. The problem of achieving more adequate space at the secondary level is more difficult."[1]

माध्यमिक स्तर पर तो छात्रों के लिए और भी अधिक स्थान आवश्यक है। विशेषीकृत शिक्षा तथा १०००–१२०० से अधिक छात्रों को दर्ज करने वाली माध्यमिक शालाओं को तो और अधिक स्थान की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त खेल के मैदान भी आवश्यक हैं। शाला-भवन, खेल के मैदान, केफेटेरिया, ग्रंथालय आदि सभी के लिए स्थान की आवश्यकता समाज के स्तर, परम्पराओं आदि पर आधारित रहती है। शाला-भवन में स्तर या गुण का समावेश तो और भी कठिन है। शिक्षा-प्रशासन की समस्या शाला-भवन को शैक्षणिक कार्यक्रमों के लिए न केवल मात्रा की दृष्टि से उपयुक्त रखने की है वरन् यह भी है कि शाला-भवन गुणात्मक दृष्टि से भी अनुकूल और अच्छा हो। अतः शिक्षा-प्रशासन की यह समस्या भारत-जैसे देश में जहाँ धन की बहुत कमी है तथा निजी शाला-भवन बहुत ही कम शालाओं के पास हैं, बहुत ही जटिल है।

(२) **क्या शाला-भवन केवल छात्रों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाले हों या समाज और प्रौढ़ों की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करने वाले हों?** वर्तमान में शाला-भवन

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 422.

का समुचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। शाला-भवन समाज के पैसों से निर्मित होता है। अतः समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की दृष्टि से तथा भवन के समुचित उपयोग की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शाला-भवन भविष्य में सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हों "The cost of school housing as well as the fact that many facilities are not used during certain hours and days suggests the desirability of multi-use in this sense."[1]

इस प्रकार शाला-भवन को बहुउपयोगी बनाने में कुछ कठिनाइयाँ हैं, जैसे छात्र तथा प्रौढ़ों के लिए उपयोगी फर्नीचर की व्यवस्था करना, सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति करना आदि। वास्तव में शाला-भवन के हाल, दूकानें, ग्रंथालय आदि का तो छात्र और प्रौढ़ सभी उपयोग कर सकते हैं पर कक्षाओं के फर्नीचर तथा उपकरणों का सभी के द्वारा उपयोग करना उपयुक्त नहीं है। इस संबंध में और अधिक अध्ययन तथा शोध आवश्यक है। परन्तु भारत-जैसे गरीब देश में बहुउपयोगी शाला-भवन उपयोगी अवश्य होंगे। इनसे समाज और शाला अधिक घनिष्ठता से कार्य कर सकेंगे। परन्तु शिक्षा-प्रशासन का यह कर्तव्य है कि वह निश्चित करे कि शाला-भवन किन-किन कार्यों के लिए और प्रयुक्त किया जा सकता है तथा यह किस प्रकार किया जा सकता है ?

(३) **शाला-भवन का निर्माण अल्पकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हो या दीर्घकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए**—शिक्षण-विधियों तथा शैक्षणिक कार्यक्रमों में अति शीघ्रता से परिवर्तन हो रहे हैं। अतः १५-२० वर्षों से अधिक के लिए जो शाला-भवन निर्मित होता है वह पुराना तथा शैक्षणिक दृष्टि से अनुपयोगी सिद्ध होने लगता है। आजकल अनेक ऐसे सामान तथा साधन उपलब्ध होने लगे हैं जिनसे सस्ते और काम चलाऊ शाला-भवनों का निर्माण कर उन्हें कुछ समय बाद आवश्यकतानुसार पुनः नवीन बनाया जा सकता है।

परन्तु भवन यदि पक्के और अधिक समय के लिए बनाये जायें तो उन्हें प्रौढ़ों के उपयोग के लिए भी उपयोग में लाया जा सकता है। शाला में दर्ज छात्रों की संख्या की वृद्धि के अनुरूप उनमें कमरे और जोड़कर बढ़ती माँग की पूर्ति भी की जा सकती है। यदि भवन सुनियोजित बना है तब शैक्षणिक कार्यक्रमों के परिवर्तन के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर उन्हें और अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। साथ ही साथ अस्थायी भवन बनाने का व्यय स्थायी भवन बनाने के व्यय से थोड़ा कम ही आता है। जबकि इनकी मरम्मत के व्यय में बहुत अन्तर है। अस्थायी भवनों की मरम्मत में अपेक्षाकृत अधिक व्यय होता है।

इन कारणों से यही उपयुक्त रहेगा कि कुछ भाग तो स्थायी प्रकार का हो तथा

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational and Administration—Concepts, Practices, and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 426.

कुछ अस्थायी प्रकार का, जिससे आवश्यकतानुसार इसमें उपयोगी परिवर्तन कराये जा सकें। इससे भवनों में आवश्यक परिवर्तनशीलता तथा लचीलापन आ जायेगा। शिक्षा-प्रशासन को यह निश्चित करना होगा कि किस प्रकार के भवन-निर्माण को प्रोत्साहित किया जाये।

(४) **भवनों में प्रकाश तथा अन्य सुविधाओं की व्यवस्था**—शाला-भवन के सामान, प्रकाश, हवा आदि की व्यवस्था करना यंत्री या इंजीनियर का कार्य है। परन्तु इनका प्रभाव शिक्षा पर पड़ता है अतः इन सभी का मूल्यांकन शिक्षण-सुविधाओं के रूप में ही होना चाहिये। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासक इनके संबंध में समुचित ज्ञान रखें तथा वे इनसे उत्पन्न समस्याओं के संबंध में सजग रहें।

इन सभी में प्रकाश तथा हवा की समस्या बहुत महत्वपूर्ण है। प्रकाश के संबंध में अब मात्रा का प्रश्न उतना महत्व का नहीं माना जाता जितना कि प्रकाश का आरामदेय होना। प्रकाश की चमक को दूर रखकर प्रकाश समुचित होना चाहिये। प्रकाश इतना होना चाहिये कि कक्षा में किया जा रहा कार्य, श्यामपट पर लिखी बातें स्पष्ट और अच्छी तरह दिखें एवं उसमें किसी प्रकार की असुविधा न हो।

भारत गर्म देश है तथा यहाँ प्रकाश की अधिकता ही अधिक दुखदायी होती है। अतः यहाँ शाला-भवनों में अधिक प्रकाश की चमक से बचाव की समस्या ही रहती है। प्रकाश की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये जिससे "A learning situation has been sought that is comfortable, conducive to work, and conducive to the developing appreciation of color, form and light in life. In a sense, while much science has been involved in these developments there has been much art also."[1]

वर्तमान में अनेक शालाओं के कमरों में कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था भी की जाती है। कृत्रिम तथा नैसर्गिक प्रकाश की मात्रा किस अनुपात में हो, इस संबंध में तो अभी कोई मत स्पष्ट रूप से नहीं दिया जा सकता है। परन्तु प्रकाश चाहे किसी भी प्रकार का हो, आरामदेय अवश्य होना चाहिये।

शुद्ध वायु की व्यवस्था भी एक समस्या है। यह समस्या बड़े शहरों में विशेष जटिल है। शाला-भवनों में शुद्ध वायु की उचित व्यवस्था आवश्यक है क्योंकि वहाँ निश्चित अवधि में सैकड़ों छात्रों तथा व्यक्तियों का जमाव रहता है। ऐसे स्थलों में अच्छी संवातन व्यवस्था के माध्यम से शुद्ध वायु की व्यवस्था की जानी चाहिये। शुद्ध वायु की अधिकता अवधान केंद्रित करने तथा स्वास्थ्य वर्द्धन के लिए अति आवश्यक है। थकान से बचाव का

---

[1] Morphet, Johns & Reller *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 432.

भी शुद्ध वायु उत्तम उपाय है। अतः छात्रों को अधिकतम कार्य करने की प्रेरणा देने के लिए शुद्ध वायु की व्यवस्था अति आवश्यक है।

अतः शिक्षा प्रशासकों को प्रकाश तथा शुद्ध वायु की समुचित व्यवस्था करने का ध्यान रखना चाहिये। इनसे संबंधित समस्या जितनी अच्छी तरह हल होगी, शैक्षणिक कार्य में उतना ही अधिक सुधार होगा तथा वह उतना ही अधिक सुगमता से चलेगा ।

अध्याय ९

शाला एवं समाज प्रबन्ध का प्रशासन

वर्तमान युग में प्रायः सभी देशों में समाज की रुचि शिक्षा की ओर अपेक्षाकृत अधिक दिखाई दे रही है। वर्तमान समाज शिक्षा के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यय करने को भी तैयार है। शिक्षा-समस्याओं के हल में सहयोग देने में भी समाज की अधिक रुचि दिखाई देती है। शिक्षा में समाज की रुचि तथा सक्रियता के कारण यह आवश्यक है कि इस संबंध में शिक्षा-प्रशासन उचित नेतृत्व का प्रदर्शन करे।

शाला-समाज संबंधी आधार-भूत निम्नलिखित विचारों पर ध्यान देना उपयोगी होगा।

(१) **सार्वजनिक नीति तथा व्यावसायिक योग्यता संबंधी बातों में विभिन्नता माननी चाहिये**--शाला के कर्मचारियों तथा समाज के मध्य समस्याओं को हल करते समय यह अवश्य विचार करना चाहिये कि सार्वजनिक नीति तथा शिक्षा-व्यवसाय संबंधी योग्यता में स्पष्ट अन्तर रहता है। शिक्षा-संबंधी सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण समाज या जनता ही करती है। परन्तु शाला अधिकारियों को जनता के समक्ष अपना तकनीकी तथा व्यावसायिक दृष्टिकोण अवश्य रखना चाहिये। इन दृष्टिकोणों या विचारों की पृष्ठभूमि में यदि जनता कोई सार्वजनिक निर्णय लेती है तो शालाओं को वे मान्य होने चाहिये। शैक्षणिक सामान तथा विधियों संबंधी मामलों में शिक्षा व्यावसायिक निर्णय ही लिये जाना चाहिये। जनता यह अवश्य निश्चय करे कि शिक्षा में व्यावसायिक या प्राविधिक या कृषि-शिक्षा का कितना और कैसे समावेश हो। परन्तु इस निर्णय के लेने में शाला या शिक्षा अधिकारियों को सहायक होना चाहिये तथा इससे संबंधित कार्यक्रमों का विस्तार, आवश्यक सामग्री तथा विधियों का निर्णय लेना चाहिये।

(२) **शाला-समाज-संबंध त्रिकोणात्मक है**--बहुधा यह सुनने में आता है कि शाला अपने कार्यक्रमों, परीक्षा परिणामों, गतिविधियों आदि का बहुत प्रचार करती है तथा इस प्रचार के माध्यम से समाज को अपने संबंध में ज्ञान देती है। परन्तु समाज की सुनती कम है। यह आवश्यक है कि शालाएँ अपने उद्देश्य, कार्यविधियाँ, पाठ्यक्रम, कार्यक्रम, परीक्षाफल, सभी कुछ जनता को बतलायें। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि शिक्षा-अधिकारी यह समझें कि समाज उनकी गतिविधियों तथा शालाओं के संबंध में क्या विचार रखता है। केवल इतने से ही कार्य व्यवस्थित नहीं चल सकता है। अनेक समस्याओं के हल तथा कार्य-

क्रमों की व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि शाला और समाज दोनों में सहयोग हो। इस सहयोग की ओर अभी तक ध्यान नहीं दिया गया है। परन्तु यह आवश्यक है कि इसे बढ़ावा दिया जाये तथा इसके माध्यम से शाला-समाज-संबंधों को सुदृढ़ किया जाये।

इस प्रकार शाला-समाज-संबंध त्रिकोणात्मक है। पिटनगर ने इसे बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है। उसका कथन है कि "Proponents of the idea that school public relations are more than salesmanship, frequently remark that they are a "two-way street". They include the public's school relations as well as the school's public relations. It is further suggested that at times they are also a broad highway down which the school and the public march together to explore country that is new to both of them."[1]

वास्तव में अनेक ऐसी बातें हैं जिनके संबंध में समाज को जानना चाहिये तथा यह ज्ञान उसे शाला तथा शिक्षा-क्षेत्रों से ही मिल सकता है। साथ ही साथ अनेक ऐसे तत्व हैं जिनका ज्ञान शालाओं को समाज से ही हो सकता है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसी बातें हैं जो शिक्षा तथा शालाओं दोनों से संबंधित हैं तथा जिनका ज्ञान शाला तथा समाज के सहयोग से ही उत्तम विधि से हो सकता है।

(३) **स्थानीय, राज्य तथा राष्ट्र संबंधी पक्षों में आपसी संबंध है**—शिक्षा के संबंध में राज्य स्तरीय तथा राष्ट्रीय धारणाएँ एवं प्रवृत्तियाँ स्थानीय धारणाओं तथा प्रवृत्तियों के आधार पर ही बनती और विकसित होती हैं। किसी शाला के संबंध में जनता की राय सम्पूर्ण शिक्षा के संबंध में उसकी राय है। अतः यदि स्थानीय शाला-समाज-संबंध अच्छे विकसित हों तो राष्ट्रीय स्तर पर भी शिक्षा के संबंध में विचार अच्छे ही रहेंगे।

परन्तु राज्य तथा राष्ट्र के स्तर की शिक्षा संबंधी धारणाएँ, मान्यताएँ तथा प्रवृत्तियाँ शिक्षा-कानूनों, नियमों आदि में निहित रहती हैं। ये कानून-नियम आदि राष्ट्र या राज्य स्तर पर मान्य हैं अतः स्थानीय स्तर पर भी इन्हें मान्यता मिल जाती है। इस प्रकार अन्य क्षेत्रों में शिक्षा के संबंध में जो सोचा-विचारा जा रहा है उसका लाभ स्थानीय प्रशासक को मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय, राज्य तथा राष्ट्र स्तरीय पक्षों में आपसी संबंध हैं।

समाज से संबंधित विचारणीय तत्व

शिक्षा-प्रशासक को समाज से संबंधित उन तत्वों का ज्ञान होना चाहिये जो प्रशासकीय प्रक्रिया से सम्बंधित हैं। इनमें से निम्नलिखित तत्व प्रमुख हैं।

---

[1] Pittenger, B. F., *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, pp. 448-49.

(१) **समाज में सत्ता-संगठन रहते हैं**—समाज में शिक्षा से संबंधित अनेक सत्ता-संगठन विद्यमान रहते हैं, जैसे—उद्योग, व्यवसाय, श्रम आदि से संबंधित विभिन्न संगठन, पत्र-पत्रिका, नेता, शाला से संबंधित सत्ता, शिक्षा से संबंधित शासकीय सत्ता आदि।

(२) **अनेक सत्ता-संगठन सोद्देश निर्मित किये जाते हैं**—अनेक सत्ता-संगठन कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के निमित्त संगठित किये जाते हैं परन्तु समाज में ऐसे भी अनेक सत्ता-संगठन रहते हैं जो अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होते हैं परन्तु किसी उद्देश्य से संगठित नहीं किये जाते हैं।

(३) **व्यक्ति ऐसे अनेक संगठनों से संबंधित रहते हैं जो आपस में विरोधी हों**—अनेक बार ऐसा होता है कि कोई-कोई संगठन शिक्षा संबंधी नीतियों के विरोधी होते हैं। इन संगठनों का सदस्य किसी छात्र का पालक भी हो तथा ये नीतियाँ पालक के रूप में उसे ठीक जँचें। अतः यह आवश्यक है कि ऐसे विरोधी संगठनों का अधिक से अधिक संबंध शिक्षा से जोड़ा जाये जिससे यह विरोध कम हो।

(४) **समाज अपने आदर्शों, मूल्यों तथा विचारों के अनुसार तभी चलेगा जब उसे सभी तत्वों की जानकारी होगी**—सामान्यतः यह देखा जाता है कि समाज सभी की शिक्षा के लिए समान अवसर उपलब्ध कराने के सिद्धान्त को मान्यता देता है परन्तु कार्य रूप में वह अपने सदस्यों को इन सुविधाओं को नहीं उपलब्ध करा पाता है। यदि इन तत्वों का ज्ञान समाज को कराया जाये तो समाज समान अवसर की उपलब्धि कराने के लिए तत्पर हो सकता है।

(५) **अनेक संगठन राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले होते हैं**—अनेक संगठन देश के अन्य क्षेत्रों के संगठनों के अनुरूप सोचते-विचारते हैं। इनका सोचना-विचारना स्थानीय सीमाओं के ऊपर उठ जाता है।

(६) **समाज के पास ऐसे महत्वपूर्ण मूल्य, आदर्श तथा विचार रहते हैं जो कार्य करने के लिए अच्छे निर्देशक बन सकते हैं**—सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराने का अर्थ सभी की समान शिक्षा नहीं है। यह एक बहुत महत्वपूर्ण विचार है तथा इस विचार का प्रभाव राज्य और राष्ट्र स्तर पर शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से बहुत अधिक है।

शाला तथा समाज सहयोग

रिवलिन ने मत व्यक्त किया है कि समाज तथा शाला-संबंध का महत्वपूर्ण संबंध छात्रों के गृहों से है, गृह तथा शाला के बीच सहयोग को विशेष महत्व देना चाहिये।[1] वास्तव में समाज-सहयोग का दर्शन शिक्षक-छात्र-सहयोग के आधार के समान है। उत्तम सहयोग से अच्छी नीतियों का विकास होगा, इन्हें श्रेष्ठ रूप से समझा जायेगा, इन्हें उत्तम रूप से कार्यान्वित भी किया जायेगा तथा शाला-समाज-संबंधों का स्तर उच्च होगा।

---

[1] Rivlin, Herry N., *Encyclopedia of Modern Education*, Philosophical Library Inc., New York, pp. 369-70.

शाला तथा समाज-सहयोग अनेक रूपों में हो सकता है, जैसे-निर्देशन, शाला-उन्नति, समाज-उन्नति या समाज और शाला दोनों की उन्नति के रूप में। शालाओं के विकास के लिए नियोजित कार्यक्रमों को निश्चित करने के लिए विकास-समिति में समाज के सदस्यों को रखना उपयोगी होगा। शाला के संबंध में जनता को जानकारी देने के लिए समाज के नेता सक्रिय भाग ले सकते हैं। सलाहकार समितियों में भी समाज के सदस्यों का प्रतिनिधित्व होना उपयोगी होगा। इसी प्रकार शिक्षा-समितियों में शिक्षकों तथा शिक्षा-प्रशासकों को रखने से शिक्षा-समितियों को व्यावसायिक दृष्टिकोण की जानकारी मिलती रहेगी। स्थानीय पालक-शिक्षक-समितियाँ या संगठन भी शाला और समाज-सहयोग-विकास में अत्यन्त सहायक हो सकते हैं। सामुदायिक शालाओं या शाला-समाज-आन्दोलन में आपसी सम्बंध बहुत ज्यादा होते हैं। मोहलमन (Moehlman) ने मत व्यक्त किया है कि "The community-centered school offers the best opportunity for the people to exercise their fundamental right to participate as partners in the educational process."[1] सामुदायिक शाला में समाज केन्द्रित शाला तथा शाला केन्द्रित समाज दोनों रहते हैं। सामुदायिक शाला दो पक्षीय संगठन है।[2] इसमें समाज के विकास के लिए समाज शाला पर निर्भर रहता है तथा शाला के विकास के लिये शाला समाज के सहयोग पर निर्भर रहती है।

शाला-समाज सहयोगी कार्यक्रम का स्वरूप

शिक्षा-प्रशासक को शाला तथा समाज के सहयोग से संबंधित अनेक व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। कार्यक्रमों का उचित मूल्यांकन करना पड़ता है। अतः यह उत्तम होगा कि इनके सहयोगी कार्यक्रमों के स्वरूप के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी इन्हें हो।

शाला-समाज-सहयोगी कार्यक्रमों के संबंध में प्रशासकीय दृष्टि से पहला प्रश्न यह उठता है कि क्या ये कार्यक्रम केवल प्रसार और प्रचार के लिए हैं या वास्तविक आपसी संबंधों को विकसित करने के लिए संगठित किये जा रहे हैं? ये कार्यक्रम कुछ समय चलेंगे या लगातार अधिक समय तक? इन प्रश्नों को हल करने के पहले यह आवश्यक है कि यह निश्चय किया जाये कि इन प्रश्नों में से क्या चुना जाना है।

इसके साथ-साथ यह आवश्यक है कि शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए किये जा रहे कार्यक्रमों में शाला के सभी शिक्षक, छात्र तथा अन्य सभी कर्मचारी सम्मिलित रहेंगे। इन सभी को कार्यक्रमों के उद्देश्यों तथा कार्यविधियों से परिचित कराना भी अति आवश्यक है।

---

[1] Moehlman, A. B., "Why a community school", *Nation's Schools*, Vol. 33, March, 1944, p. 34.

[2] Goslin, W. E., *Characteristic of a Community School*, Fourteenth annual conference for administrative officers of public and private schools, University of Chicago Press, Chicago, 1945, p. 90.

यदि किसी शिक्षक या कर्मचारी को शाला-समाज-सम्बन्ध बनाने के कार्य को क्रियान्वित करने के लिए संयोजक नियुक्त किया जाये या तत्सम्बन्धी कार्य सौंपे जायें तो कार्य अधिक सुचारु रूप से तथा सक्रियता से चल सकता है। परन्तु शिक्षा-प्रशासन के उच्च कर्मचारियों के आसपास ही इन कार्यक्रमों को अच्छी तरह व्यवस्थित किया जा सकता है। अतः इन अधिकारियों को ही इसका उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिये।

यह तथ्य स्पष्ट होना अति आवश्यक है कि शाला-समाज-सम्बन्ध शाला तक ही सीमित नहीं हैं वरन् उसके बाहर भी रहते हैं।

शाला-समाज-संबंधों की वृद्धि के लिए शिक्षकों तथा शाला कर्मचारियों की समितियाँ भी बनायी जा सकती हैं। ये समितियाँ शिक्षा अधिकारियों को समय-समय पर सलाह दे सकती हैं। प्रत्येक शाला के लिए एक समिति हो तथा सम्पूर्ण क्षेत्रों की शाला-समितियों के प्रतिनिधियों की एक समिति रहे।

शाला-समाज-सम्बन्धों में वृद्धि के लिए समाज के उन लोगों की एक संयोजक समिति बनायी जा सकती है जो बालकों, घरों तथा सामाजिक कार्यों में रुचि लेते हैं। इसमें शालाओं के प्रतिनिधि भी रहने चाहिये। ये सदस्य अपने-अपने क्षेत्रों तथा संगठनों को शाला-समाज-संबंधों के मामलों में सलाह दें तथा शाला की गतिविधियों की व्याख्या करें। इस प्रकार समाज के विभिन्न संगठनों के प्रतिनिधियों का एक अच्छा संगठन गठित होगा।

शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए किसी भी प्रकार का संगठन बनाया जाये, उसके लिए यह आवश्यक है कि शाला-कर्मचारी तथा शिक्षक ही इनके विकास के लिए पहल करें तथा अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रहें।

शाला-समाज-सम्बन्ध-विकास के कार्यक्रमों के प्रशासन में ध्यान रखने योग्य बातें

(१) शाला-समाज-संबंधों के समुचित विकास के लिए शिक्षकों के भीतर तथा समाज के विभिन्न संगठनों के भीतर सम्पर्क आवश्यक है। यह विचार-विनिमय बहुमुखी होना चाहिये तथा इसे कार्यक्रमों का आधार और उद्देश्य दोनों बनाना चाहिये।

(२) सभी कार्यक्रम सुनियोजित होने चाहिये।

(३) प्रभावी कार्यक्रमों के लिए यह आवश्यक है कि निश्चित उद्देश्य सामने रखे जायें।

(४) समाज के विभिन्न संगठनों को कार्यक्रमों संबंधी सूचनाएँ नियमित भेजना आवश्यक है। यह कार्य अनेक विधियों द्वारा सम्पन्न हो सकता है, जैसे-शालाओं की उपलब्धियों पर पालकों की गोष्ठियाँ आयोजित कर, समाचार-पत्र तथा संक्षेपिकाओं द्वारा समय-समय पर जानकारी प्रसारित कर, वार्षिक प्रतिवेदन या विशेष प्रतिवेदन वितरित कर, आदि।

(५) इन कार्यक्रमों का समुचित प्रचार और प्रसार किया जाना चाहिये।

(६) विस्तृत तथा विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाना चाहिये।

(७) समाज के जितने अधिक सदस्य इन कार्यक्रमों से सम्बद्ध किये जा सकें उतने अधिक सम्बद्ध किये जाने चाहिये ।

(८) इन कार्यक्रमों के समन्वय तथा नेतृत्व का उत्तरदायित्व एक अच्छे शिक्षक या व्यक्ति को सौंपना चाहिये ।

(९) शिक्षा-अधिकारियों को कुछ शालाओं में शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए कार्यक्रम आयोजित कर धीरे-धीरे अन्य शालाओं में इनका विस्तार करना चाहिये ।

(१०) शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए प्रत्येक शाला का अलग अस्तित्व मानना चाहिये तथा महत्व देना चाहिये ।

(११) इन कार्यक्रमों के प्रत्येक पक्ष तथा सम्पूर्ण कार्य-क्रम का उचित मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है ।

शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए विकसित कार्यक्रमों का मूल्यांकन

"The appraisal, like the organisation, of a public relations program must be based upon its purposes."[1] शाला-समाज-संबंधों के विकास के लिए आयोजित कार्यक्रमों का मूल्यांकन इनके उद्देश्यों के आधार पर किया जाना चाहिये । ये उद्देश्य शाला-विशेष के सामान्य शिक्षा-दर्शन के अनुरूप होंगे । किसी भी कार्यक्रम का मूल्यांकन उसके परिणामों या फल के आधार पर किया जा सकता है । अतः इन कार्यक्रमों में समाज की रुचि, इनके संबंध में समाज की प्रवृत्तियों तथा प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही इनका उचित मूल्यांकन किया जा सकता है। जहाँ तक हो तात्कालिक परिणामों की अपेक्षा दीर्घकालिक परिणामों को ही मूल्यांकन का आधार बनाया जाये ।

कुछ प्रमुख गतिविधियों को चुनकर उनकी क्रियान्विति के समय अवलोकनों को भी मूल्यांकन का आधार बनाया जा सकता है । जैसे—पालक अपनी इच्छा से शाला में आयें और कार्यक्रम के संबंध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें । उनके विचारों को इस तरह जानना चाहिये । यदि विचार अनुकूल हैं तो समझना चाहिये कि कर्यक्रम सफल हो रहे हैं । यदि पालक अपने विचार व्यक्त नहीं करते हैं तब समझना चाहिये कि सफलता जितनी मिलनी चाहिये थी उतनी नहीं मिल रही है। इसी प्रकार पालक-शिक्षक-गोष्ठियों के आयोजन से इन कार्यक्रमों का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

शाला-समाज-संबंधों संबंधी प्रशासकीय समस्याएँ

(१) **क्या शिक्षक-पालक संघ शैक्षणिक सत्ता ढाँचे का भाग होकर भी विचारों तथा कार्यों की दृष्टि से स्वतंत्र रह सकते हैं ?** कुछ विकसित समाजों में पालक-शिक्षक संघ

---

[1] Pittenger, B. F., *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951, p. 467.

शिक्षा के विकास की दृष्टि से बहुत ज्यादा प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। परन्तु अनेक विद्वानों का विचार है कि इन संघों में पालक शिक्षकों के कथनानुसार ही चलते हैं। शिक्षा-संगठन की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं होता है। परन्तु पालकों को शिक्षा-व्यवस्था का अंग बनाना अधिक औचित्यपूर्ण है। यदि शिक्षा से संबंधित विभिन्न भाग सक्रिय तथा बलिष्ठ हैं तब शिक्षा का समुचित विकास सरलता से हो सकेगा। यदि पालकों को केवल चुप रहने वाला सहायक दल ही बना कर रखा गया तो यह निश्चित है कि यह दल शिक्षा के लिए कोई महत्वपूर्ण कार्य न कर सकेगा। विचारों की भिन्नता तथा इस विभिन्नता के स्वतंत्र प्रकाशन में शिक्षा-प्रशासकों को अपेक्षाकृत अधिक विश्वास रखना चाहिये। यदि ईमानदारी से इस दृष्टिकोण से कार्य किया जाये तब शिक्षा में समुचित विकास की अपेक्षा की जा सकेगी। इस दृष्टि से शिक्षक-पालक-संघों को समुचित स्वतंत्रता तथा अधिकार देना चाहिये।

(२) **क्या छोटे शहर या गाँवों में शाला-समाज-संबंधों की वृद्धि पर अधिक बल देना उचित होगा** ? छोटे शहरों तथा गाँवों में स्थानीय राजनीति बहुत अधिक सक्रिय रहती है। क्षेत्र छोटा होने तथा शिक्षा का प्रसार कम होने से शाला-शिक्षक तथा प्राचार्य स्थानीय राजनीति के शिकार जल्दी हो जाते हैं। जहाँ अनेक वर्ग होते हैं तथा उनमें से किसी एक को आमंत्रित कर या सभी को आमंत्रित करने पर किसी एक वर्ग के सदस्यों की स्थिति और जटिल होती है। ऐसे स्थानों में शाला-समाज-संबंध विकसित करना समस्या रहती है।

(३) **बड़े शहरों में दूरी तथा पालकों की अधिक व्यस्तता के कारण पालक-शाला-संबंध कैसे विकसित किये जायें** ? बड़े शहरों में बच्चे काफी दूरी से शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। छात्रों के पालक भी काफी दूरी पर रहते तथा व्यस्त जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसी स्थिति में उनसे शालाओं में आने, बैठकों में भाग लेने आदि की अधिक अपेक्षा करना उचित नहीं है और पालक-शिक्षक-संबंध ऐसी स्थिति में विकसित करना बड़ी जटिल समस्या रहती है।

(४) **क्या शाला-समाज संबंधों के विकास के लिए किये जा रहे कार्यक्रम शिक्षा उद्देश्यों के अनुरूप हैं** ? अनेक विद्वानों का विचार है कि शाला-समाज-संबंधों को विकसित करने के लिए शालाएँ अपनी अच्छाइयों तथा गुणों का प्रचार अधिक करेंगी तथा बुराइयों को छिपाने के प्रयास करेंगी। यह एक स्वाभाविक वृत्ति है। इसके निराकरण के लिए क्या किया जा सकता है ? परन्तु अनेक विद्वानों का विचार है कि शालाएँ जब तक अपने कार्यक्रमों संबंधी तथ्यों को जोर से जनता में प्रसारित न करेंगी; जनता की अपेक्षाओं तथा शाला की उपलब्धियों में मेल नहीं बैठ सकेगा तथा शाला और समाज के बीच खाई की वृद्धि ही होगी। शिक्षा-प्रशासक को केवल शिक्षा-शास्त्री के रूप में ही नहीं रहना है, उसे अपने कार्यक्रमों संबंधी आलोचनाओं को सुनना तथा उनमें सुधार भी करना चाहिये। शालाओं द्वारा प्रचार करने से समाज के प्रौढ़ों के विचार भी विकसित होंगे तथा यह एक प्रकार से प्रौढ़-शिक्षा होगी। शाला-समाज-संबंधों का विकास शैक्षणिक समस्याओं के हल में सहायक ही होगा, बाधक नहीं। इसीलिये मारफेट, जोन्स, रेलर ने कहा है "For these various rea-

sons it appears clear that public relations per se are not inconsistent with the purposes of education in a democracy but are an important factor in achieving those purposes."[1]

परन्तु फिर भी शाला-प्रशासक के समक्ष यह समस्या अवश्य रहेगी कि शाला द्वारा अपने दोषों को छिपाने की प्रवृत्ति को कैसे दूर किया जाये।

(५) **शाला-समाज-संबंध वृद्धि से समाज-अधिकार में वृद्धि होगी**—शाला-समाज संबंधों के अधिक विकसित होने से समाज के कुछ अंग, जो अधिक सक्रिय तथा गतिशील हैं, शैक्षणिक कार्यक्रमों को अपेक्षा से अधिक प्रभावित करेंगे। परन्तु शिक्षा-प्रशासक को अपना नेतृत्व इतना सबल और सक्रिय रखना चाहिये कि समाज के संगठन शिक्षा-अभ्यासों तथा व्यावसायिक तकनीकी बातों में हस्तक्षेप न कर सकें। जब कभी ऐसी कोई स्थिति आती है तब शिक्षा-प्रशासक को उचित विधियों द्वारा जनता को व्यावसायिक तथ्य स्पष्ट करने चाहिये। परन्तु समाज की इच्छा की उपेक्षा नहीं करना चाहिये। यदि ऐसी स्थिति आ ही जाये कि शैक्षणिक विचार तथा समाज के विचारों में विरोध आ जाये तब और अधिक विचार-विमर्श, अध्ययन तथा शोध के उचित अवसर जान कर तत्संबंधी अध्ययन और शोध उत्प्रेरित कर उपयुक्त नेतृत्व प्रदान करने के प्रयास करने चाहिये। उत्तम शिक्षण-अभ्यासों के विकास के लिए यह आवश्यक है कि विशेषज्ञ की सीमाओं को महत्व दिया जाये। कभी-कभी विशेषज्ञ अपनी समस्या में बहुत गहराई में चला जाता है तथा विस्तृत दृष्टिकोण से विचार नहीं करता है। साथ ही साथ अन्य व्यक्ति समस्या की गहराई नहीं समझ पाते। ऐसे अवसर पर जनता को और अधिक विस्तार से बात समझा कर उनके विचारों को प्रभावित किया जा सकता है। यह शिक्षण-अभ्यासों के दृष्टिकोण से अधिक महत्वपूर्ण है कि समाज के रचनात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव भी उन पर पड़े।

फिर भी शिक्षा-प्रशासक की अनेक समस्याएँ हैं। वह विशेषज्ञ की क्षमता तथा सीमा को कितनी मान्यता दे? समाज को विशेषज्ञ का उचित उपयोग करने के लिये किस प्रकार प्रेरित किया जाये? कौन-कौन से क्षेत्रों में शोध तथा अध्ययन आवश्यक है?

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 141.

अध्याय १०

शाला-स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा-प्रशासन

आजकल शाला-स्वास्थ्य की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाता है। यह बात जोरों से महसूस की जा रही है कि बालक के व्यवहार, उसकी ग्राह्य क्षमता तथा उसकी शिक्षा पर उसके स्वास्थ्य का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। पहले शाला जान वाले बालक के स्वास्थ्य का उत्तरदायित्व कुटुम्ब तथा घर पर रहता था परन्तु अब यह उत्तर-दायित्व शाला का माना जाने लगा है। फलस्वरूप शिक्षकों का कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व इस दृष्टि से बढ़ता जाता है। वास्तव में बालक का शारीरिक एवं मानसिक विकास उसकी शिक्षण-प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

शाला-स्वास्थ्य का संबंध शाला के सम्पूर्ण जीवन से रहता है। शाला-जीवन का प्रत्येक पक्ष इससे संबंधित रहता है। शाला-इमारत की रचना, स्थान चुनाव, ढाँचा, शाला-शिक्षण के घंटे, पाठ्यक्रम, बैठने की सीट, पीने का पानी, शौचालय, पेशाब-घर, प्रकाश तथा संवातन आदि सभी का घनिष्ठ संबंध शाला-स्वास्थ्य से है। शाला में शिक्षक की गति-विधियाँ शाला-जीवन का वातावरण निर्मित करती हैं। अतः शाला में स्वस्थ वातावरण के निर्माण का उत्तरदायित्व भी शिक्षकों का ही रहता है।

शाला-इमारत एवं स्वास्थ्य

शाला-स्वास्थ्य के विकास में शाला-इमारत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु संसार के विकसित, अर्ध-विकसित एवं अविकसित सभी देशों में शाला-इमारत संबंधी समस्याएँ काफी हैं। विकसित एवं उन्नत देशों में भी जन-संख्या की वृद्धि के कारण शाला-इमारत में बढ़ती हुई दर्ज-संख्या के अनुरूप स्थान उपलब्ध नहीं कराया जा पाता है। अमेरिका-जैसे विकसित तथा सम्पन्न देश में भी शिक्षकों को अधिक कार्य करना पड़ता है अर्थात् उनका कार्यभार अत्यधिक है। वहाँ भी अनेक शालाओं में एक शिक्षक को एक, दो या अधिक कक्षाओं को पढ़ाना पड़ता है। अनेक देशों में शाला-इमारतें पुरानी हैं तथा इनमें शौचादि एवं सफाई आदि की व्यवस्था यथोचित नहीं है। खुले स्थान तो अनेक देशों की अनेक शालाओं में हैं ही नहीं। ये सभी ऐसे तथ्य हैं जिन्हें शाला-स्वास्थ्य पर विचार करते समय ध्यान में रखना आवश्यक है। शाला-इमारतों की स्थिति अविकसित देशों की शालाओं में तो और भी दयनीय है। इन देशों में तो शाला-इमारतों के

अभाव में परछी या एक कमरे में ही अनेक कक्षाएँ लग जाती हैं। अनेक देशों में तो खुले मदान में कक्षाएँ लगायी जाती हैं। इनसे बालकों का स्वास्थ्य अच्छा अवश्य रहता है परन्तु धूप, आँधी, पानी, वर्फ आदि से सुरक्षा अति आवश्यक है। अविकसित देशों में या अन्य अर्ध-विकसित तथा विकसित देशों में ऐसा नहीं है कि सरकारें शाला-इमारतों की आवश्यकता तथा महत्व को समझती नहीं हैं परन्तु शाला-इमारतों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त प्रयत्न करने पर भी शिक्षा संबंधी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर उनका ध्यान चला जाता है।

शाला-इमारत के प्रश्न पर विचार करते समय मनोरंजन, खेल-कूद तथा अन्य सहायक कार्यक्रमों पर भी विचार करना आवश्यक है। संसार के प्राय: सभी देशों के शिक्षा संबंधी नियमों में यह प्रावधान है कि शाला-इमारत की व्यवस्था या उसका निर्माण करते समय इन बातों का ध्यान रखा जाना आवश्यक है परन्तु संसार की अधिकांश शालाओं में इनकी समुचित व्यवस्था नहीं है। अर्ध-विकसित एवं अविकसित देशों में तो यह स्थिति शोचनीय है। शिक्षण तथा मनोरंजन या आराम में उचित अनुपात रखना अति आवश्यक है। इसी प्रकार शारीरिक शिक्षा, व्यावहारिक या प्रयोग-कार्य तथा बौद्धिक कार्यक्रमों में भी उचित अनुपात रखा जाना आवश्यक है। समुचित संख्या में छुट्टी के दिनों का प्रश्न भी इसी से सम्बंधित है। संसार के विभिन्न देशों में १० से २२ सप्ताह तक की छुट्टियाँ वर्ष भर में दी जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वर्ष का एक-तिहाई भाग शाला के बाहर ही व्यतीत होता है। इस बाहर के समय में भी बालकों के स्वास्थ्य की देख-रेख अति आवश्यक है। परन्तु प्रश्न यह है कि जिन देशों में शाला-समय में ही स्वास्थ्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जाता है वहाँ शाला-समय के बाद में स्वास्थ्य-सेवाओं के माध्यम से बाल-स्वास्थ्य का समुचित ध्यान रखा जाना कठिन-सा ही दिखाई देता है। परन्तु फिर भी शालाएँ इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती हैं कि बालक छुट्टियों के समय को किस प्रकार व्यतीत करते हैं। यह उन समाजों में और भी अधिक आवश्यक है जहाँ गरीबी, अभाव, अज्ञान का प्रभाव अधिक है। अनेक विकसित देशों, जैसे—अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस आदि देशों में छुट्टियों तथा अवकाश के समय के उचित उपयोग के लिए सुव्यवस्थित कैम्प आदि की व्यवस्था स्वास्थ्य-सेवाओं द्वारा की जाती है। इन कैम्पों की व्यवस्था के लिए केन्द्र या राज्य सरकारों के द्वारा आर्थिक सहायता दी जाती है। अनेक देशों में स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ भी आर्थिक सहायता देती हैं।

दोपहर के भोजन की व्यवस्था का प्रभाव भी बालकों के स्वास्थ्य पर पड़ता है। अनेक विकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में मध्यान्ह के भोजन की अच्छी व्यवस्था है परन्तु अनेक देशों में इनका सर्वथा अभाव है। संसार के अनेक देशों, जैसे—एशिया तथा अफ्रीका के देशों में, बालकों को पोषक तत्व मिल ही नहीं पाते हैं। ऐसे देशों में मध्यान्ह के भोजन की समुचित व्यवस्था अति आवश्यक है, क्योंकि समुचित पोषण के अभाव में बालकों का स्वास्थ्य भी बिगड़ा हुआ है, तथा उनकी शिक्षा में इस अभाव के कारण पर्याप्त बाधा भी होती

है। अतः यह अति आवश्यक है कि इन देशों में स्वास्थ्य-सेवाओं के पर्यवेक्षण में बालकों को पर्याप्त पोषक तत्व वाले पदार्थ दोपहर के समय देने की व्यवस्था की जाये।

शारीरिक शिक्षा तो प्रायः सभी देशों के पाठ्यक्रम में किसी न किसी रूप में अनिवार्य ही है परन्तु इसकी समुचित व्यवस्था केवल विकसित तथा कुछ अर्ध-विकसित देशों में ही है। अनेक विद्वानों का विचार है कि शारीरिक शिक्षा के लिए कुल समय का दसवाँ भाग तो व्यय किया ही जाना चाहिये परन्तु शाला-इमारत के अभाव या संकोच के कारण अनेक देशों में तो शारीरिक शिक्षा का उल्लेख केवल पाठ्यक्रम तथा समय-विभाग-चक्र में ही होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण संसार में शाला-इमारत की समस्या जटिल-सी ही है। संसार के अधिकांश देशों में यह नियम बनाया गया है कि एक निश्चित क्षेत्रफल की भूमि प्रत्येक बालक के लिए दी जाये। प्रकाश तथा संवातन की व्यवस्था भी प्रावधान के अनुरूप हो। शौचादि की व्यवस्था भी नियम के अनुसार रहे। इस प्रकार शाला-इमारत-निर्माण की निम्नतम आवश्यकताएँ निर्धारित रहती हैं। इतना ही नहीं संसार के अनेक देशों में सरकार यह निश्चित करती है कि वर्ष में शाला कितने दिन तथा प्रत्येक सप्ताह या दिन में कितनी अवधि तक लगेगी। अनेक देशों में शिक्षा-मंत्रालय शिक्षण, मनोरंजन, आराम आदि की अवधि और व्यवस्था संबंधी सुझाव निर्देशिका आदि के माध्यम से देते हैं। अधिकांश देशों में प्रधानाध्यापक को दैनिक कार्यक्रम स्वतंत्रता से व्यवस्थित करने का अधिकार रहता है। कुछ देशों में जिला-शिक्षा-अधिकारी शालाओं के कार्यक्रमों का अनुमोदन करते हैं। फ्रांस में तो अब एक नियम बनाकर ११ वर्ष के बालकों के लिए गृह-कार्य देने की मनाही कर दी गयी है। वहाँ गृह-कार्य न देने का नियम बालकों के स्वास्थ्य-सुधार की दृष्टि से बनाया गया है।

विकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में एवं कहीं-कहीं अविकसित देशों में शाला-इमारतें सीमेंट तथा कांक्रीट की बनायी जाती हैं। अमेरिका, इंगलैण्ड, कैनेडा, जापान, जर्मनी, रूस, फ्रांस आदि ऐसे ही देश हैं। इटली में नवीन कानून के अनुसार बालकों के लिए शालाओं में लगभग ७०,००० कक्षों की आवश्यकता होगी। अतः जब तक ये बन कर तैयार नहीं हो जाते हैं तब तक बालक पुरानी इमारतों में दो पाली में ही शालाओं में पढ़ेंगे। घाना, न्यासालैंड आदि देशों में पकी ईंटों तथा मिट्टी के गारे से शाला इमारतें बनायी जाती हैं। भारत में कुछ शालाएँ सीमेंट-कांक्रीट की हैं परन्तु यहाँ ईंट और मिट्टी के गारे की शाला-इमारतें ही अधिक हैं। भारत के अनेक ग्रामों में घास-फूस-बाँस की बनी हुई शाला-इमारतें हैं। न्यासालैंड तथा अफ्रीका के अनेक देशों में, कई जिलों में घास-फूस तथा बाँस की शाला-इमारतें बनायी जाती हैं।

संसार के विभिन्न देशों में शाला-इमारतों के संबंध में इतनी विभिन्नता तथा शाला-इमारतों में अनेक अभाव होते हुये भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि घर की अपेक्षा शालाओं में अधिक उन्नत तथा स्वस्थ वातावरण रहता है। परन्तु यह आवश्यक है

कि शालाओं को और भी अच्छे तथा अनुकरणीय स्वस्थ जीवन के केन्द्र बनाने के प्रयास किये जाने चाहियें।

शाला-कार्य तथा स्वास्थ्य

शालाओं में कार्यभार आधिक्य की भी समस्या अत्यधिक कठिन है। इस कारण अनेक देशों में, जैसे—बेल्जियम में, सप्ताह के शिक्षण-घण्टों को सीमित किया गया है। भारत में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। इससे बालकों तथा शिक्षकों का कार्यभार बढ़ता नहीं है। थाईलैण्ड में ७ से ११ वर्ष के बच्चों के लिए ४५ मिनट के घण्टे रहते हैं तथा और अधिक आयु के छात्रों के लिये ५० से ५५ मिनट के घण्टे रहते हैं। प्रत्येक दिन दो बार १५ तथा ६० मिनट का अल्पावकाश आवश्यक रहता है। चीन तथा कोरिया में कार्य तथा आराम क्रमवार व्यवस्थित रहते हैं। प्रत्येक घण्टे की पढ़ाई के बाद १० या १५ मिनट का आराम छात्रों को दिया जाता है। इस प्रकार पढ़ाई के घण्टों को सीमित कर या शिक्षण के उपरान्त कुछ समय आराम के लिए देकर कार्यभार को कम किया जाता है। फिर भी अविकसित तथा अर्ध-विकसित देशों में शिक्षकों का कार्यभार अधिक है। पर्याप्त संख्या में शिक्षकों का न मिलना तथा अर्थाभाव के कारण उचित संख्या में शिक्षकों की नियुक्ति न कर पाना ही इसके मुख्य कारण हैं। पर्याप्त संख्या में शिक्षकों की नियुक्ति न होने से शिक्षकों की कार्य-क्षमता तथा स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। भारत में शिक्षा-विभाग द्वारा शिक्षण-कार्यभार को सीमित करने के लिए शिक्षकों की आवश्यक संख्या निर्धारित की गयी है परन्तु फिर भी यहाँ शिक्षकों का कार्यभार अधिक है। अतः इस दिशा में ठोस कदम उठाना आवश्यक है।

शारीरिक शिक्षा

संसार के प्रायः सभी देशों में बालक-बालिकाओं के लिये शारीरिक शिक्षा का प्रावधान है। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत शारीरिक अवयवों का अच्छा विकास, परिश्रम करने की आदतों का निर्माण तथा विकास, खेल-कूद में कौशल प्राप्ति, श्रम-निष्ठा, आदि का समावेश किया गया है। इनमें से प्रत्येक का अर्थ भिन्न-भिन्न देश में भिन्न-भिन्न रहता है। अतः निश्चित रूप से इन गतिविधियों का विभाजन करना कठिन ही है। परन्तु सामान्यतः खेल-कूद, कसरत, नृत्य, तैरना आदि ही शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत रखे जाते हैं। स्वतंत्रता के उपरान्त भारत में बुनियादी शिक्षा के प्रभाव के कारण उद्योग, समाज-सेवा तथा श्रम को भी शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत रखा जाने लगा है।

प्राथमिक शालाओं की अपेक्षा माध्यमिक शालाओं में शारीरिक शिक्षा की व्यवस्था अधिक अच्छी है तथा अनेक देशों में इस कार्य के लिए विशेषज्ञ शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है। स्वीडन में जिमनेस्टिक शिक्षक शाला-स्वास्थ्य-कर्मचारियों के सम्पर्क में रहकर बच्चों में उत्तम आदतों का विकास करते हैं। यहाँ "शाला-स्नान" तथा "छुट्टी-शिविर" भी संगठित किये जाते हैं। जर्मनी में माध्यमिक स्तर की परीक्षा में लिखित, मौखिक तथा

व्यावहारिक परीक्षण सम्मिलित किये गये हैं। फ्रांस में १४ वर्ष से अधिक आयु के छात्र-छात्राओं के लिए ही कसरत और खेलकूद की प्रतियोगिताओं में भाग लेने का प्रावधान है। इंगलैण्ड तथा बेल्जियम में यूथ आन्दोलन तथा स्पोर्ट्स क्लब की विभिन्न गतिविधियाँ शाला-घण्टों के बाद व्यवस्थित की जाती हैं। स्विटजरलैण्ड में कैम्प, बर्फ पर हाइकिंग तथा स्कीइंग आदि के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

World Trends in Education पुस्तक में निम्नलिखित चार्ट प्रतिदिन शारीरिक शिक्षा के लिए निर्धारित समय को प्रदर्शित करता है। इससे हमें संसार के विभिन्न देशों में शारीरिक शिक्षा के लिए दिये जाने वाले समय का ज्ञान होता है।

शाला-दिन में शारीरिक शिक्षा के लिए दिया जाने वाला समय

मिनट	७ वर्ष के बालक के लिए	११ वर्ष के बालक के लिए	१५ वर्ष के बालक के लिए
२० मिनट प्रतिदिन	गेम्बिया (+ ४० मिनट प्रति सप्ताह का एक घंटा), फिलिपाइन्स्	—	—
२५ ,,	अमेरिका	फिलिपाइन्स्	फिलिपाइन्स
३० ,,	इटली, यूगोस्लाविया	गेम्बिया (+४० मिनट का एक घंटा प्रति सप्ताह) अमेरिका	चीन
४० ,,	—	—	गेम्बिया (+ ४० मि० का घंटा प्रति सप्ताह)
६० मिनट प्रति सप्ताह	डेनमार्क, भारत, स्वीडन	डेनमार्क, भारत, आयरलैण्ड	भारत
७५ ,,	उत्तरी आयरलैण्ड	—	—
९० ,,	न्यूजीलैण्ड	न्यूजीलैण्ड, न्यासालैण्ड	न्यासालैण्ड
१२० ,,	हांगकांग लक्सेम्बर्ग पश्चिमी जर्मनी	हांगकांग, इटली, लक्सेम्बर्ग, स्विटजरलैण्ड पश्चिमी जर्मनी	हांगकांग, इटली लक्सेम्बर्ग, न्यूजीलैण्ड पश्चिमी जर्मनी
१५० ,,	घाना, नीदरलैण्ड्स न्यासालण्ड, स्काटलैण्ड	चीन, घाना नीदरलैण्ड्स, स्काटलैण्ड	नीदरलैण्ड्स स्काटलण्ड

मिनट	७ वर्ष के बालक के लिये	११ वर्ष के बालक के लिये	१५ वर्ष के बालक के लिये
११० से १७० मिनट प्रति सप्ताह	कोरिया	कोरिया	कोरिया
१८० मिनट प्रति सप्ताह	चीन, जापान नीदरलैण्ड्स स्विटजरलैण्ड थाईलैण्ड	जापान स्वीडन थाईलैण्ड यूगोस्लाविया	डेनमार्क, घाना, जापान, उ० आयरलैण्ड, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड अमेरिका, यूगोस्लाविया
समय का उल्लेख नहीं है परन्तु पाठ्यक्रम में सभी आयु के लिये प्रावधान है।	बेल्जियम कैनेडा इंग्लैण्ड फ्रांस (२-३½ घंटे) माल्टा इरान पनामा		

शाला-भोज या मध्यान्ह भोजन

बालकों को मध्यान्ह भोजन देना अति आवश्यक है। इससे घर के भोजन में न मिल पाने वाले पोषक तत्वों की पूर्ति भी होती है तथा शाला में अधिक समय तक रहने के कारण भूख लगने का उपाय भी हो जाता है। मध्यान्ह भोजन में दूध, फल, तरकारी, मांस, अण्डा आदि ही दिया जाता है। ये सभी वस्तुएँ पोषक तत्वों से परिपूर्ण होती हैं। इंगलैण्ड, उत्तरी आयरलैण्ड, पनामा, स्काटलैण्ड, स्वीडन, अमेरिका आदि देशों में केन्द्रीय सरकारें शालाओं या स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को मध्यान्ह भोजन के लिए उदार रूप से आर्थिक सहायता देती हैं। जापान में शालाओं में डबल रोटी तथा इटली में पनीर आदि का उपयोग अधिक किया जाता है। यूगोस्लाविया में चावल, काफी, चाय, जाम आदि दिया जाता है। यहाँ बालक भोज्य पदार्थों के उत्पादन तथा पकाने की विधियाँ भी सीखते हैं। यूरोपियन देशों में आलू, गोश्त के सूप के साथ, फल, तरकारी आदि अधिक दिया जाता है। एशियाई देशों में चावल, दूध, सेम, मछली का ही अधिक प्रचलन है। घाना में नारियल के तेल से बने पदार्थ तथा चावल का चलन है। परन्तु अधिकांश देशों में डबल रोटी तथा मक्खन ही अधिक प्रचलित है। डेनमार्क तथा स्वीडन में दोपहर का पूर्ण भोजन ही निःशुल्क दिया जाता है। भारत में तमिलनाडु में मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक की गयी है। अन्य राज्यों में भी डिब्बों का दूध, फूले हुए चने आदि प्राथमिक शालाओं के बच्चों को कहीं-कहीं दिये जाते हैं। माध्यमिक स्तर पर मध्यान्ह भोजन देने की

व्यवस्था बहुत कम शालाओं में है। वास्तव में पिछड़े तथा अविकसित देशों में मध्यान्ह भोजन की अच्छी व्यवस्था करना अत्यधिक आवश्यक है। विकसित तथा सम्पन्न देशों में भी सभी बालकों को मध्यान्ह भोजन देने की व्यवस्था अभी तक नहीं हो सकी है। पनामा तथा यूगोस्लाविया ही ऐसे देश हैं जहाँ प्रायः सभी बच्चों को मध्यान्ह भोजन दिया जाता है। स्वीडन, बेल्जियम में लगभग ७० प्रतिशत माध्यमिक शाला-बालकों को मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था है। बेल्जियम में प्राथमिक शाला-बालकों के लिए तो यह व्यवस्था और भी कम है। जापान में ६४ प्रतिशत प्राथमिक शाला-बालकों तथा १० प्रतिशत मिडिल शाला-बालकों के लिए, इंगलैण्ड तथा उत्तरी आयरलैण्ड में ५० प्रतिशत बालकों के लिए, अमेरिका, स्काटलैण्ड, इटली आदि देशों में केवल एक-तिहाई बालकों के लिए मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था की जा सकी है। जब विकसित तथा विकासशील देशों की यह स्थिति है तब अविकसित देशों की स्थिति तो और भी दयनीय ही होगी। परन्तु यह निर्विवाद है कि सभी बच्चों के लिए पौष्टिक मध्यान्ह भोजन मिलना राष्ट्र के स्वास्थ्य तथा विकास के लिए अति आवश्यक है। मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था तथा पर्यवेक्षण के लिए शिक्षा-प्रशिक्षण संस्थाओं को उचित प्रशिक्षण देने के कार्यक्रम अपने प्रशिक्षण में शामिल करना अति आवश्यक है।

स्वास्थ्य की देख-रेख

छात्रों के स्वास्थ्य की देख-रेख उसके निवास के स्थान पर निर्भर रहती है। संसार के ८ यूरोपीय देशों में तथा न्यूजीलैण्ड और हांगकांग में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा के द्वारा छात्रों के स्वास्थ्य की देख-रेख की व्यवस्था है। अन्य देशों में छात्र-स्वास्थ्य देख-रेख में प्रशिक्षित स्वास्थ्य अधिकारियों, साधन तथा उपकरणों के अभाव के कारण अच्छी तरह नहीं की जा पाती है। अनेक राष्ट्र यह भी सोचते हैं कि छात्रों के स्वास्थ्य की देख-रेख करना शाला का उत्तरदायित्व नहीं है। यह कार्य तो पालकों का है। फ्रांस में पालकों को बच्चों की संख्या के आधार पर भत्ता दिया जाता है। इनके घरों में यदि स्वास्थ्य संबंधी कुछ निर्धारित उपकरण रहते हैं तब उन्हें और अधिक भत्ता दिया जाता है। कुछ देशों में कमजोर बच्चों के स्वास्थ्य-विकास के लिए कैम्प, आराम करने आदि की व्यवस्था भी है। भारत में शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान छात्रों को दिया जाता है। बालिकाओं को 'पोषण' का ज्ञान भी गृह-विज्ञान के अन्तर्गत दिया जाता है। ईरान में सभी छात्रों को स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान दिया जाता है। इटली में सभी माध्यमिक शालाओं में स्वास्थ्य शिक्षा के लिए प्रति सप्ताह एक घण्टा दिया जाता है।

स्वास्थ्य शिक्षा की विधियों के अन्तर्गत सुरक्षा तथा स्वास्थ्य का अप्रत्यक्ष तथा आकस्मिक संदर्भ, विधिवत शिक्षण, योजनाओं, प्रदर्शन, भ्रमण आदि कार्य आते हैं।

शाला-स्वास्थ्य प्रशासन संबंधी समस्याएँ

शाला-स्वास्थ्य प्रशासन के संबंध में अनेक समस्याएँ हैं। उनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(१) भौतिक तथा मानवीय साधनों की कमी

विकसित हो रहे तथा पिछड़े देशों में स्वास्थ्य शिक्षा के लिए आवश्यक मानवीय साधनों का बहुत अभाव है। वहाँ योग्य प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता, नर्स, मनोवैज्ञानिक, समाज-सेवा-कार्यकर्त्ता, टेकनीशियन्स, दाँत के विशेषज्ञ, आँख के विशेषज्ञ, सभी की कमी है। केवल कुछ सम्पन्न देशों में स्वास्थ्य संबंधी विशेषज्ञ अपेक्षाकृत अधिक हैं।

इन कमियों के साथ-साथ वातावरण संबंधी अभाव भी है। साफ इमारतें, भीड़मुक्त कक्षाएँ, उत्तम स्वास्थ्यवर्द्धक गृह आदि की कमी भी अनेक देशों में है।

समाज के सदस्यों में स्वास्थ्य संबंधी ज्ञान की कमी भी अत्यधिक पायी जाती है। अनेक व्यक्ति जीवन में बच्चों के स्वास्थ्य का उसकी व्यक्तिगत उन्नति से संबंध को भी ठीक से नहीं समझते हैं। स्वास्थ्य तथा शिक्षा अध्ययन में भी घनिष्ठ संबंध है। यह बात भी अनेक लोग नहीं जानते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छात्र-स्वास्थ्य विकास के संबंध में अनेक प्रकार के अभाव हैं। इन अभावों को कैसे दूर किया जाये? इनमें से किन अभावों को पहले दूर किया जाये? किन विधियों को अपनाया जाये? आदि अनेक समस्याएँ शिक्षा-प्रशासन के समक्ष हैं।

(२) स्वास्थ्य विभाग, अन्य संगठनों तथा शिक्षा विभाग से छात्र-स्वास्थ्य सेवा के लिए किस प्रकार सहयोग लिया जाये?

समाज में ऐसे अनेक संगठन कार्यरत रहते हैं जो बच्चों के स्वास्थ्य-विकास में रुचि रखते हैं। स्वास्थ्य-विभाग भी समाज के स्वास्थ्य में रुचि रखने के कारण बच्चों के स्वास्थ्य-विकास में रुचि रखता है। परन्तु इन विभिन्न संगठनों की सेवाओं का छात्र-स्वास्थ्य-विकास के लिए शिक्षा-प्रशासन किस प्रकार संगठन करे?, इनका अधिकतम सहयोग कैसे लिया जा सकता है? आदि समस्याएँ शिक्षा-प्रशासन के समक्ष हैं।

(३) छात्र-स्वास्थ्य विकास के लिए मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था किस प्रकार की जाये?

इंग्लैण्ड, अमेरिका आदि सम्पन्न देशों में शाला-मध्यान्ह-भोजन के माध्यम से छात्रों के स्वास्थ्य-विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। "In England there has been a marked improvement in the health of many children as a result of the accumulative effect of the school Health Services and provision of milk and meals."[1] शाला-भोज-कार्यक्रमों के द्वारा छात्र-स्वास्थ्य-विकास में पर्याप्त सहायता मिली है। इस संबंध में तो कोई मत-वैभिन्य नहीं है। परन्तु भारत या अन्य पिछड़े देशों

---

[1] *World Trends in Education*, The Society for the Promotion of Education in India, Madras-28, 1967, p. 303.

में जहाँ सामान्य शिक्षा के लिए ही पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं है तथा जीवन स्तर ऊँचा नहीं है, मध्यान्ह भोजन कैसे उपलब्ध कराया जाये। जाति-पाँति का भेदभाव भी इतना अधिक है कि प्रशासकीय दृष्टि से मध्यान्ह भोजन की व्यवस्था करने में बहुत अधिक कठिनाइयाँ हैं। ऐसी स्थिति में शिक्षा-प्रशासन का कार्य और भी कठिन हो जाता है।

(४) छात्र-स्वास्थ्य-सेवाओं के संगठन के लिए विभिन्न संगठन कैसे विकसित किये जायें ?

यह तो अब निर्विवाद रूप से मान्य किया जाने लगा है कि शालाओं तथा शिक्षा-प्रशासन को छात्र-स्वास्थ्य के संबंध में अपने उत्तरदायित्वों का समुचित निर्वाह करना चाहिये। संसार के अनेक देशों में इस उत्तरदायित्व का निर्वाह सन्तोषजनक ढंग से किया जा रहा है परन्तु अनेक देशों में छात्र-स्वास्थ्य-सेवा तो केवल नाम मात्र के लिए की जा रही है। परन्तु छात्र-स्वास्थ्य-सेवा के लिए निम्नलिखित प्रकार से कार्यक्रम तथा योजनाएँ विकसित की जाना अति आवश्यक है।

(१) क्षेत्र की स्वास्थ्य संबंधी स्थितियों तथा आवश्यकताओं का अध्ययन।

(२) वर्तमान में जो छात्र-स्वास्थ्य-विकास कार्यक्रम चल रहा है, उसका समुचित मूल्यांकन करना।

(३) छात्र-स्वास्थ्य में रुचि रखने वाले समाज के सभी संगठनों के सहयोग से सुनियोजित कार्यक्रम विकसित करना।

परन्तु शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह समस्या है कि छात्र-स्वास्थ्य में रुचि रखने वाले संगठनों का सहयोग कैसे लिया जाये ? किन-किन क्षेत्रों में किन-किन संगठनों का सहयोग लिया जाये ? इन सभी विभिन्न संगठनों की छात्र-स्वास्थ्य-सेवाओं का समन्वय कैसे किया जाये ?

अध्याय ११

शिक्षा-प्रशासन के स्तर

(केन्द्र, राज्य, स्थानीय)

सामान्यत: शिक्षा-प्रशासन के तीन स्तर होते हैं—केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय। भारत में शिक्षा के ये ही तीन स्तर रहे हैं। "Education in India is at present under the control of three *District* bodies—Central government, State Governments and local bodies."[1] अमेरिका में भी शिक्षा-प्रशासन के ये ही तीन स्तर हैं। शिक्षा-प्रशासन के इन तीनों स्तरों के संबंध में विचार करना आवश्यक है क्योंकि हमेशा से यह विवाद चला हुआ है कि इन तीनों स्तरों में किसका क्या अधिकार तथा उत्तरदायित्व रहे।

शिक्षा का केन्द्रीय प्रशासन तथा नियंत्रण

केन्द्रीय शिक्षा-प्रशासन के अनेक कार्य हैं।

(१) केन्द्रीय संगठन देश के सभी साधनों को एकत्रित कर आवश्यकतानुसार उचित मात्रा में वितरित करता है।

(२) केन्द्रीय संगठन से राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित होता है।

(३) केन्द्रीय संगठन से राष्ट्रीय संस्कृति एवं सभ्यता के संरक्षण तथा विकास में सहायता मिलती है।

(४) केन्द्रीय संगठन से विस्तृत दृष्टिकोण के व्यक्ति विकसित होते हैं।

(५) केन्द्रीय संगठन से शिक्षा तथा पाठ्यक्रम में एकरूपता विकसित होती है।

(६) केन्द्र के पास धन तथा मानवीय साधनों की प्रचुरता के कारण शिक्षा-योजना बहुत पहले से तथा काफी लम्बी अवधि के लिए बनायी जा सकती है।

(७) केन्द्र राष्ट्र के सभी तत्वों का मेल कर आपसी भेद-भावों को दूर कर सकता है।

देश के सभी क्षेत्र समान रूप से सम्पन्न तथा विकसित नहीं होते हैं। सम्पन्न क्षेत्रों के पास तो साधन बहुत रहते हैं परन्तु अविकसित या विकसित हो रहे क्षेत्रों के पास धन,

---

[1] Dr. Mukerji, S. N., *Secondary School Administration—Its Principles and Functions in India*, Acharya Book Depot, Baroda, 1963, p. 20.

मानवीय तथा भौतिक साधनों का अभाव ही रहता है। ऐसे क्षेत्रों में शिक्षा का समुचित विकास शिक्षा के केन्द्रीय नियंत्रण तथा प्रशासन में ही अधिक सम्भव रहता है। राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकास तथा राष्ट्रीय संस्कृति एवं सभ्यता का विकास भी केन्द्र के माध्यम से ही अच्छी तरह होता है। केन्द्रीय शिक्षा-प्रशासन में सभी क्षेत्रों की शिक्षा के तत्वों में एकरूपता विकसित हो जाती है। साधनों की प्रचुरता केन्द्र में ही सम्भव है। फलस्वरूप शिक्षा नियोजन में सुविधा होती है।

लोकतंत्र में केन्द्र एक सलाहकारी संगठन के रूप में ही कार्य करता है। साथ ही साथ पिछड़े तथा विकसित हो रहे क्षेत्रों में शिक्षा-विकास के लिए अपेक्षाकृत अधिक वित्तीय सहायता देकर शिक्षा-विकास की गति को बढ़ा सकता है। साम्यवादी, अधिनायकवादी राष्ट्रों में शिक्षा का प्रशासन तथा नियंत्रण केन्द्र से होता है।

शिक्षा के केन्द्रीय प्रशासन तथा नियंत्रण से अनेक हानियाँ भी होती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(१) केन्द्र के बहुत दूर होने से स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई होती है।
(२) इसमें स्थानीय आदर्शों, मान्यताओं तथा आकांक्षाओं की अपेक्षा होती है।
(३) केन्द्रीय प्रशासन से राष्ट्र के उपसांस्कृतिक तथा भाषा खण्डों को हानि होने की सम्भावना रहती है।
(४) स्थानीय संगठन का कार्य केवल आज्ञा पालन तक सीमित रहने से उनमें स्वयं विकास करने की शक्ति का अभाव हो जाता है।
(५) स्थानीय संगठनों को प्रयोग के अवसर नहीं मिलते तथा एकरूपता पर अधिक बल दिये जाने से शिथिलता तथा ऊब का अनुभव होने लगता है।
(६) उन्नत तथा विकसित क्षेत्रों को अपेक्षाकृत कम साधन मिल पाते हैं।
(७) स्थानीय संगठन केन्द्र पर आश्रित रहने के आदी हो जाते हैं।

भारतीय केन्द्र सरकार तथा शिक्षा-प्रशासन

प्राचीन भारत में केन्द्रीय सरकार के अभाव के कारण शिक्षा पर केन्द्रीय प्रशासन का नियंत्रण नहीं रहा है। हाँ, मौर्य, गुप्त एवं मुस्लिम युगों में अवश्य ही केन्द्रीय नियंत्रण थोड़ा बहुत रहा है। परन्तु इन युगों में भी शिक्षा संस्थाओं से गाँव या जायदाद संलग्न रहती रही है। इनकी आय से ही शिक्षा संस्थाएँ चलती रहती थीं। अंग्रेजों के भारत-आगमन से लगभग १५० वर्ष तक ईस्ट इंडिया कम्पनी युद्धों में ही व्यस्त रही। अतः शिक्षा की व्यवस्था की ओर इसका ध्यान बहुत कम गया। इंग्लैण्ड के सम्राट द्वारा राज्य शासन हाथ में लेने पर शिक्षा के लिए सन् १८१३ में सरकार द्वारा एक लाख रुपया व्यय के लिए निर्धारित किया गया परन्तु १८३५ तक इसके व्यय के संबंध में द्वन्द्व चलता रहा। लार्ड मेकाले द्वारा अंग्रेजी-शिक्षा पर व्यय करने की नीति निर्धारित करने पर इस द्वंद्व का

समाधान हुआ । इसके उपरान्त १८५४ के बुड शिक्षा महाविधान से लेकर १८८२ के हन्टर शिक्षा आयोग ने शिक्षा में केन्द्रीय नियंत्रण की वृद्धि को ही प्रोत्साहित किया । परन्तु राजनीतिक परिस्थिति-वश अंग्रेजों ने शिक्षा का उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों पर ही छोड़ा। सन् १८७१ से १९०१ के बीच भारतीय केन्द्र सरकार की वित्तीय दशा ठीक न होने के कारण केन्द्र ने प्रान्तों को वित्तीय सहायता देना बन्द-सा ही कर दिया था । १९०१ से १९२१ के बीच केन्द्र ने शिक्षा में पुनः रुचि दिखलायी क्योंकि इस काल में देश में धन की वृद्धि हुई ।

सन् १९१९ के मांटफोर्ड सुधारों के क्रियान्वित होने से शिक्षा-विषय प्रान्तों को सौंपा गया । फलस्वरूप शिक्षा संबंधी उत्तरदायित्वों से केन्द्र मुक्त-सा ही हो गया । "सन् १९३७ में प्रान्तीय स्व-शासन की स्थापना हुई । केन्द्र में संघीय सरकार स्थापित हुई परन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण इस विधि का निर्वाह न हो सका । फलस्वरूप स्वतंत्रता प्राप्ति तक केन्द्रीय सरकार ने प्रान्तीय शिक्षा की ऊपरी देख-रेख करने के अतिरिक्त उसमें और कोई हस्तक्षेप नहीं किया । वित्तीय साधनों के अभाव में केन्द्रीय सरकार ने केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद तथा शिक्षा ब्यूरो सन् १९२३ में बन्द कर दिये । साथ ही साथ शिक्षा, स्वास्थ्य एवं भूमि विभागों को मिला कर एक विभाग बना दिया ।

स्वतंत्रता के उपरान्त केन्द्र ने पुनः शिक्षा में रुचि प्रदर्शित की । देश में राष्ट्रीय शिक्षा-विकास के प्रयास किये गये । राज्यों को प्रधानतः शाला-शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा गया । भारतीय संविधान में शिक्षा के लिए केन्द्र के उत्तरदायित्वों को स्पष्ट किया गया है । इसके अनुसार केन्द्र पर शिक्षा संबंधी निम्नलिखित उत्तरदायित्वों को मान्य किया गया है ।

(१) केन्द्रीय सूची तथा सहवर्ती सूची में वर्णित सभी विषय ।
(२) केन्द्रीय प्रशासन के अन्तर्गत क्षेत्रों की शिक्षा ।
(३) समाज-कल्याण-कार्य ।
(४) शिक्षा के संबंध में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग एवं समन्वय ।
(५) राष्ट्र के शिक्षा संबंधी आंकड़ों तथा सूचनाओं का समन्वय, एकत्रीकरण एवं प्रसार ।
(६) देश में तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा की व्यवस्था तथा प्रसार ।
(७) राष्ट्र में सभी स्तरों की शिक्षा का विकास एवं स्तर की उन्नति ।

इस दृष्टि से भारत में केन्द्रीय सरकार ने शाला-शिक्षा-स्तर उन्नति तथा विकास, शिक्षक-प्रशिक्षण, छात्राओं की शिक्षा, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा के विकास एवं स्तर सुधार के लिये अनेक गतिविधियाँ केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के माध्यम से व्यवस्थित की हैं ।

केन्द्रीय शिक्षा-प्रशासन संबंधी समस्याएँ

शिक्षा पर केन्द्र द्वारा अधिकाधिक ही व्यय किया जा रहा है । केन्द्र द्वारा शिक्षा-प्रशासन करने के संबंध में अनेक विवाद हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(१) क्या केन्द्र बिना केन्द्रीय नियंत्रण के वित्तीय सहायता दे ?

राज्यों तथा स्थानीय शिक्षा-प्रशासनों को अनेक कारणों से केन्द्र से वित्तीय सहायता की आवश्यकता होती है। राज्यों में आर्थिक असमानतायें रहती हैं । इनमें शिक्षा-विकास संबंधी असमानताएँ भी रहती हैं । प्रत्येक राज्य में शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या समान नहीं होती है । अतः यह आवश्यक है कि राष्ट्र का केन्द्रीय संगठन अपने सभी क्षेत्रों में शिक्षा-विकास के लिए वित्तीय सहायता दे । देश के सभी छात्र राष्ट्रीय धन हैं। अतः ये कहीं भी हों केन्द्र का धर्म है कि इनकी शिक्षा की व्यवस्था उचित रूप से हो। परन्तु केन्द्र द्वारा अन्य संग नों पर वित्तीय सहायता देने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाना चाहिये । ग्राइडर तथा रोसेन्सटेनगेल ने लिखा है कि "Although there is a tendency towards centralization of power and authority in many fields of activity, federal aid for education need not inevitably be accompanied by control beyond routine audit."[1]

वास्तव में केन्द्र के वित्तीय साधन समुचित होते हैं तथा वह शिक्षा के लिए समुचित वित्तीय सहायता दे सकता है। परन्तु वित्तीय सहायता के साथ-साथ कोई नियंत्रण रखने से शिक्षा पर केन्द्रीय नियंत्रण की वृद्धि होगी जो उचित नहीं है। राज्यों तथा स्थानीय प्रशासनों को शिक्षा संबंधी अपना विकास करने की स्वतंत्रता होना आवश्यक है। यह उपयोगी भी है।

(२) केन्द्र शिक्षा-विकास के लिए सामान्य अनुदान दे अथवा विशेष मदों के लिए अनुदान दे ?

विशेष मदों के लिए विशेष अनुदान देने में एक समस्या यह है कि इससे केन्द्र के विशेष विभाग या कार्यालय को उस कायक्रम को कानून के अनुसार चलाने के लिए बहुत अधिक ऐच्छिक अधिकार दे दिये जाते हैं। फलस्वरूप केन्द्रीय नियंत्रण की वृद्धि होती है । यदि विशेष मदों के लिए अनुदान देने के स्थान में राज्यों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा विकास के लिए सामान्य अनुदान दिया जाये तो स्थानीय तथा राज्य स्तरीय नेतृत्व विकसित होगा तथा स्थानीय आवश्यकताओं की समुचित पूर्ति भी होगी । इससे सभी व्यक्तियों में सहयोग करने की भावना भी विकसित होगी तथा शिक्षकों का नैतिक स्तर भी उच्च होगा। स्थानीय नेतृत्व का विकास शिक्षा के समुचित विकास के लिए अति आवश्यक है । इसीलिए आजकल राज्यों तथा स्थानीय संगठनों को केन्द्र द्वारा सामान्य वित्तीय अनुदान देने पर अधिक बल दिया जाता है।

(३) केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का शिक्षा प्रशासन में क्या स्थान तथा कार्य हों ?

केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय क्या शिक्षा-नीति तथा निर्णय पर नियंत्रण रखने वाला हो या प्रशासकीय तथा नियंत्रक कार्यों से इसे मुक्त कर केवल सलाह के कार्यों के लिए उत्तरदायी

[1] Grieder & Rosenstengel, *Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954, pp. 75-76.

समझा जाये। भारतीय संविधान में केन्द्र के शिक्षा संबंधी कार्यों के संबंध में उल्लेख है। राज्य को शिक्षा के लिए पूर्णत: उत्तरदायी बनाया गया है परन्तु केन्द्रीय सूची तथा सहवर्ती सूची तैयार कर केन्द्र को भी शिक्षा के संबंध में अनेक कार्य सौंपे गये हैं। इस प्रकार भारत में शिक्षा राज्य का ही उत्तरदायित्व है। केन्द्रीय सरकार तो परोक्ष रूप से ही शिक्षा का उत्तरदायित्व वहन करती है। वास्तव में भारत में शिक्षा राज्य एवं केन्द्र की साझेदारी का विषय है।

अमेरिका तथा अन्य लोकतंत्रीय राष्ट्रों में शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व है। अत: उन देशों में भी केन्द्र एक सलाहकारी संगठन के रूप में ही कार्य करता है।

(४) केन्द्र किन-किन करों को अपने अधिकार में रखे ?

शिक्षा राज्य का उत्तरदायित्व है परन्तु केन्द्र के अधिकार में अधिक वित्त देने वाले कर हैं। केन्द्रीय करों की अधिकता के कारण शिक्षा के समुचित विकास तथा उपयुक्त व्यवस्था करने के लिए आवश्यक धन उपलब्ध न होने से राज्यों द्वारा बहुत अधिक कठिनाई अनुभव की जा रही है। अत: यह स्वाभाविक है कि शिक्षा-विकास के लिए राज्य केन्द्र की ओर उन्मुख रहें। परन्तु केन्द्र पर अधिक निर्भरता का अर्थ होगा केन्द्र का अधिक नियंत्रण, जो उचित नहीं है। इस दृष्टि से कराधान नीति में केन्द्र द्वारा आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक है।

शिक्षा का राज्य-स्तरीय प्रशासन तथा नियंत्रण

"In our generation it is generally recognized, especially by educators, that education is subject to state control."[1] राज्य के अन्तर्गत शिक्षा-नियंत्रण अनेक प्रकार से लाभकारी है। इनमें से निम्नलिखित लाभ प्रमुख हैं।

(१) राष्ट्र के समान बड़ा भूभाग न होने के कारण शिक्षा संगठन उचित प्रकार से हो सकता है।

(२) राज्य के अन्तर्गत स्थानीय आवश्यकताओं तथा मान्यताओं को उचित स्थान मिल सकता है।

(३) राज्य समुचित बड़ा संगठन होने के कारण बृहत साधन जुटाने में समर्थ रहता है।

(४) राज्य स्थानीय गुटबाजी से बचा रहता है।

इस लाभों के कारण संसार के लोकतंत्रीय राष्ट्रों में शिक्षा का नियंत्रण तथा प्रशासन राज्य के अन्तर्गत ही है। कहीं-कहीं यदि स्थानीय प्रशासन शिक्षा का नियंत्रण करता भी है तब वह एक प्रकार से राज्य की इच्छा का स्वरूप ही संगठित करता है। वास्तव में राज्य ही शिक्षा का नियंत्रक है। "It is true that decentralization characterizes

---

[1] Grieder & Rosenstengel, *Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954, p. 31.

most State school systems, that in all States, considerable authority is delegated to school districts, and that permissive legislation and implied powers allow for the use of much discretion by local boards. These facts may be interpreted erroneously by an uninformed person who fails to bear in mind that the use of discretion is available to local authorities only because the State permits it."[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय संगठनों को शिक्षा-व्यवस्था तथा प्रशासन का अधिकार राज्य द्वारा प्रदान किया गया है। कुबर्ले का कथन भी इसकी पुष्टि करता है कि राज्य द्वारा शिक्षा का प्रशासन तथा नियंत्रण ऐतिहासिक है। कुबर्ले का कथन है कि "Throughout all our educational history it has been the voice of the State that has ordered children educated, advantages extended, standards raised and taxation for education increased...The State has been, throughout our history, the unit in all legislative progress in school control."[2] कुबर्ले का यह कथन अमेरिका के संबंध में है। भारत में भी राज्य द्वारा शिक्षा का संगठन तथा नियंत्रण किया जाता है। भारत में राज्य पूर्ण स्वतंत्र हैं तथा बृहत् भी हैं। इनमें भाषाओं की विभिन्नताएँ भी हैं। अत: केन्द्र को समन्वयात्मक कार्य करना आवश्यक है। केन्द्र द्वारा समन्वयात्मक कार्यों के अभाव में राष्ट्रीय एकता में बाधाएँ उपस्थित हो सकती हैं। अभी भारत में राज्य भाषाओं का समुचित विकास भी होना है। अत: राज्य द्वारा सम्पूर्ण शिक्षा के नियंत्रण में काफी कठिनाइयाँ हैं।

इंग्लैण्ड में भी शिक्षा का संगठन पूर्ण रूप से केन्द्रीकृत नहीं है। हालाँकि वहाँ शिक्षा-मंत्रालय है परन्तु स्काटलैण्ड तथा आयरलैण्ड अपने-अपने क्षेत्रों में शिक्षा की व्यवस्था स्वतंत्र रूप से करते रहे हैं। "In fact, even with the Union, Scotland kept three things separate—law, religion and education."[3] वेल्स का संबंध इंग्लैण्ड से बहुत समय से रहा है परन्तु वहाँ भी जनता का कथन है कि वेल्स की संस्कृति तथा भाषा इंग्लैण्ड से भिन्न है। इसलिए वहाँ की शिक्षा का स्वरूप भिन्न ही होना चाहिये। आयरलैण्ड में केल्टिक आन्दोलन के फलस्वरूप अब स्वतंत्र सरकार है। ऐसी स्थिति में यह कहना कठिन है कि भविष्य में एक ही राज्य में विभिन्न शिक्षा-व्यवस्था का स्वरूप क्या होगा?

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि संसार के विकसित तथा विकसित हो रहे राष्ट्रों में राज्य ही शिक्षा-प्रशासन तथा नियंत्रण का प्रमुख संगठन है। परन्तु राज्यों में भी

[1] Grieder & Rosenstengel, "*Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954, p. 31.

[2] Cubberley, E. P., *State School Administration*, Houghton Mifflin Co., Boston, 1927, p. 130.

[3] Mukherjee, L., *Problems of Administration of Education in India*, Kitab Mahal, Allahabad, 1960, pp. 83-84.

शिक्षा-अभ्यास तथा नीति संबंधी अनेक विभिन्नताएँ हैं। शिक्षा-विकास का स्तर भी असमान है। फिर भी शिक्षा-प्रशासन के राज्य में केन्द्रीकरण होने की प्रवृत्तियाँ विकसित होती जा रही हैं। स्थानीय संगठनों के संबंध राज्य से स्पष्ट तथा दृढ़ होते जा रहे हैं। राज्य के शिक्षा-नियंत्रण का तात्पर्य यह भी नहीं समझना चाहिये कि केन्द्र को राज्य की शिक्षा-व्यवस्था से दूर रहना है। राज्य शिक्षा का नियंत्रण करके राष्ट्रीय हितों के विकास में सहायक ही होगा। फ्रेंच, हल तथा डाड्स का कथन है—"When one accepts the view that the State is primarily responsible for the education of its youth, he is not thereby required to deny the nation's interest in education or entitled to demand from the federal government a 'hands-off' policy. Instead, he must accept as a corollary the view that the States are responsible for cultivating the national interest in education as well as the idea that through their educational programs the States protect and promote the national security, welfare, and well being."[1]

राज्य शिक्षा प्रशासन से हानियाँ

राज्य-शिक्षा-प्रशासन के विरोधियों का विचार है कि "the least governed are the best governed"। राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन में स्थानीय आवश्यकताओं की उपेक्षा होती है। राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन निरंकुश तथा प्रतिबन्धात्मक होता है। राज्य के सभी क्षेत्रों में शिक्षा का समुचित विकास नहीं होता है। प्रभावशाली तथा सम्पन्न क्षेत्रों में शिक्षा अपेक्षाकृत अधिक विकसित होती है तथा पिछड़े भाग उपेक्षित रहते हैं। राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास भी इसमें सम्भव नहीं रहता है। राष्ट्रीय एकता के विकास में राज्य-नियंत्रण बाधक सिद्ध होता है। साधनों के अभाव में हमेशा केन्द्र की ओर वित्तीय सहायता के लिए उन्मुख रहना पड़ता है।

भारत में राज्य द्वारा शिक्षा-प्रशासन

भारत में सन् १६२१ से शिक्षा का विषय राज्य का ही उत्तरदायित्व रहा है। सन् १६५० में भारतीय संविधान के अनुसार राज्यों के शिक्षा संबंधी उत्तरदायित्वों में पर्याप्त वृद्धि हुई। स्वतंत्रता के उपरान्त शिक्षा में जनता की रुचि भी अत्यधिक बढ़ी है। राष्ट्र के विकास के लिए शिक्षा का विकास आवश्यक माना जाने लगा। फलस्वरूप पंच-वर्षीय योजनाओं में शिक्षा को समुचित महत्व दिया गया। सन् १६५२-५३ में मुदालियर शिक्षा आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सुझाव दिये। राज्यों ने इन सुझावों के अनुसार माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के प्रयास केन्द्रीय वित्तीय सहायता से

---

[1] French, Hull & Dodds, *American High School Administration—Policy and Practice*, Rinehert & Co., Inc., New York, 1956, p. 45.

किये। राज्यों ने निःशुल्क प्राथमिक अनिवार्य शिक्षा विकास के लिए भी समुचित प्रयास किये। वर्तमान में राज्य शिक्षा पर १५ प्रतिशत से २५ प्रतिशत तक व्यय कर रहे हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता के उपरान्त राज्यों ने शिक्षा-विकास में समुचित रुचि प्रदर्शित की। इसके अलावा शिक्षा-विकास के लिए विभिन्न योजनाएँ क्रियान्वित की गयी हैं। इस प्रकार राज्य ही शिक्षा के लिए उत्तरदायी है परन्तु केन्द्र का कार्य इन राज्यों की शिक्षा-गतिविधियों में समन्वय स्थापित करना है। हमारे देश में राज्यों की क्षेत्रीय भाषाएं तथा अन्य आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियाँ बड़ी भिन्न-भिन्न हैं। अतः राष्ट्र व्यापी दृष्टिकोण अपनाने, शिक्षा के स्वरूप को विस्तृत करने तथा राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने की दृष्टि से केन्द्र की शिक्षा संबंधी नीति बड़ी उपयोगी है।

राज्य में शिक्षा-मंत्री शिक्षा-सचिव तथा शिक्षा-संचालक की सहायता से शिक्षा व्यवस्था करता है। शिक्षा-सचिव तथा शिक्षा-संचालक की सहायता के लिए अनेक सहायक अधिकारी भी रहते हैं। शिक्षा के लिए सम्पूर्ण राज्य क्षेत्रों या सम्भागों तथा जिलों में विभक्त रहता है। कुछ राज्यों में जिला शिक्षा-प्रशासन की इकाई होता है, जैसे—उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र आदि में है। मध्य प्रदेश में सम्भाग या क्षेत्र शिक्षा-प्रशासन की इकाई हैं। परन्तु यहाँ भी जिला को शिक्षा-प्रशासन की इकाई बनाने की योजनाएँ बनायी जा रही हैं।

राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन की समस्याएँ

राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन की अनेक समस्याएँ हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं।

(१) राज्य-स्तरीय शिक्षा-संगठन स्थानीय तथा अन्य शिक्षा-संगठनों के साथ किस प्रकार कार्य करें?

अनेक राज्यों में राज्य-शिक्षा-संगठन केवल परम्परागत कार्य ही करते रहे हैं। इन राज्यों में अनेक स्थानीय तथा अन्य शिक्षा-संगठन अत्यन्त सक्रिय रहे हैं तथा यह चाहते हैं कि राज्य-शिक्षा-संगठन इनके कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करे। ये पूर्ण स्वतंत्रता से कार्यरत रहना चाहते हैं। इन्हें राज्य-शिक्षा-प्रशासन के नेतृत्व का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष हस्तक्षेप अच्छा नहीं लगता है।

परन्तु अनेक राज्यों में राज्य-शिक्षा-प्रशासन प्रभावी तथा सक्रिय नेतृत्व प्रदान कर रहा है। वह शिक्षा-नियोजन करता, शैक्षणिक कार्यक्रम संगठित करता, शिक्षा के विभिन्न पक्षों के विकास के लिए अनेक समितियाँ गठित करता तथा शिक्षा-समस्याओं के हल तथा शिक्षा-उन्नति के लिए अनेक उपाय अपनाता है। राज्य-शिक्षा-प्रशासन अनेक समन्वयात्मक गतिविधियाँ अपनाकर शिक्षा-गतिविधियों में समन्वय के लिए उचित प्रभावी नेतृत्व प्रदर्शित करता है।

इस प्रकार, राज्य-शिक्षा-प्रशासन के नेतृत्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत व्यक्त किये जाते हैं। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन किस प्रकार शिक्षा-योजना निर्मित करे? अन्य संगठनों के साथ उसके क्या संबंध हों? यदि राज्य-

१३

शिक्षा-संगठन नेतृत्व करता है तब अन्य संगठनों पर हावी होने तथा उनके साथ विरोध को कैसे कम किया जा सकता है ?

(२) राज्य-शिक्षा-नीति, स्तर तथा नियम कैसे विकसित किये जायें ?

अनेक बार राज्य-शिक्षा-अधिकारी तथा शिक्षा-परिषदें ही राज्य-शिक्षा-नीति, नियम तथा स्तर निश्चित करते हैं। अनेक बार राज्य-शिक्षा-अधिकारी तथा मंत्री सलाहकार समितियों की बैठकें बुला लेते हैं तथा कहते हैं कि "हम आप की बात सुनना चाहते हैं परन्तु हमें शिक्षा-प्रशासन करना है। अतः हम सोचेंगे कि आपकी कितनी बातों का समावेश अपनी योजनाओं में कर सकेंगे।" ऐसी स्थिति न तो अच्छी कही जा सकती है और न राज्य-शिक्षा-नीति, स्तर तथा नियम विकसित करने के लिए उपयुक्त। सलाहकार समितियों की अन्तर्दृष्टि तथा सूझ-बूझ विकास में भी यह नीति सहायक नहीं होती है। यदि सलाहकार समितियों के सदस्य शिक्षा-समस्याओं का अध्ययन करें तथा अध्ययन के आधार पर नीतियों सम्बन्धी प्रस्ताव भेजें, शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं के हल के लिए राज्य में समुचित शोध कार्य किया जाये तब सहयोगी शिक्षा-नियोजना सम्भव रहेगी। इसमें विशेषज्ञों का मत भी सम्मिलित रहेगा। ऐसी स्थिति में राज्य में अच्छी शिक्षा नीतियाँ विकसित होंगी, शिक्षण स्तर उच्च होगा तथा शिक्षा-नियम निर्मित होंगे।

उपर्युक्त विरोधी विचारों के कारण राज्य-शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह समस्या रहती है कि राज्य-शिक्षा-नीतियों, स्तर तथा नियमों के विकास के लिए क्या किया जाये ? राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन अधिकारियों के इनके संबंध में क्या उत्तरदायित्व रहें ? इनके संबंध में राज्य के अधिक से अधिक व्यक्तियों को संबंधित कैसे किया जाये ?

(३) राज्य-शिक्षा-प्रशासन का स्वरूप क्या हो ?

विभिन्न राज्यों के शिक्षा-प्रशासन के ढाँचे तथा व्यवस्था में अन्तर होना स्वाभाविक है। परन्तु यह निश्चित करना आवश्यक है कि ये विभिन्नताएँ या अन्तर क्या हों ?

शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में बहुधा यह विवाद बना रहता है कि राज्य में शिक्षा सलाहकार-परिषद एक हो या विभिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए अलग-अलग परिषदें हों। राज्य में विभिन्न परिषदें हों, इस मत के पक्ष में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये जाते हैं :

(१) शिक्षा का प्रत्येक क्षेत्र महत्वपूर्ण है अतः प्रत्येक के लिए अलग-अलग परिषद होना आवश्यक है।

(२) राज्य-शिक्षा-सलाहकार-परिषद का कार्य समन्वयात्मक होना चाहिये।

(३) सामान्य शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा आदि के समन्वय की समस्याएँ काफी जटिल होती हैं अतः अलग-अलग परिषदें नियुक्त की जायें।

(४) शिक्षा की समस्याएँ इतनी जटिल तथा विविध हैं कि कोई एक परिषद इनके हल तथा उचित विकास के प्रति न्याय नहीं कर सकती है।

• राज्य में केवल एक परिषद हो—इस मत के पक्ष में निम्नलिखित मत दिये जाते हैं :

(१) राज्य में एक समन्वयात्मक परिषद होना आवश्यक है।

(२) राज्य तथा केन्द्र में शिक्षा संबंधी इतने अधिक संगठन हैं कि राज्य में एक ऐसी परिषद होना आवश्यक है जो 'क्लीयरिंग हाउस' का कार्य सम्पन्न कर सके।

(३) राज्य में शिक्षा-नीति, स्तर तथा नियमों के विकास के लिए एक केन्द्रीय परिषद होना आवश्यक है।

इस प्रकार राज्य में एक ही शिक्षा-परिषद हो—इस बात के पक्ष-विपक्ष में विभिन्न मत व्यक्त किये जाते हैं। शिक्षा-प्रशासन की यह समस्या है कि राज्य-शिक्षा-विकास की सबसे उपयुक्त योजना क्या हो सकती है ? राज्य-शिक्षा-प्रशासन किस प्रकार विभिन्न संगठनों के हितों की रक्षा समुचित रूप से कर सकता है ?

(४) राज्य-शिक्षा-कार्यक्रमों को उन्नत बनाने के लिए कौन विधि अपनाई जाये ?

यदि राज्य की शिक्षा-समस्याओं पर यथासमय ध्यान दिया जाये तथा उनका अध्ययन कर कार्यक्रमों को परिवर्धित किया जाये तो राज्य में शिक्षा का समुचित विकास होता रह सकता है। राज्य में विकास होता रहता है परन्तु शिक्षा इस विकास के अनुरूप नहीं होती है। अतः शिक्षा-विकास की विस्तृत रूपरेखा तैयार करने की आवश्यकता प्रत्येक राज्य में रहती है।

राज्यों में शिक्षा-विकास की रूपरेखा बनाने के लिए निम्नलिखित तीन प्रकार की विधियाँ अपनायी जाती हैं :

(१) बाह्य विशेषज्ञों की नियुक्ति कर समस्याओं के हल के उपाय तथा प्रतिवेदन तैयार कराना।

(२) राज्य के ही ऐसे व्यक्तियों से सर्वेक्षण कराना जो शिक्षा में रुचि रखते हों।

(३) राज्य के बाहर तथा राज्य के विशेषज्ञों की समिति या आयोग नियुक्त कर सुझाव लेना।

इन तीनों उपायों में तीसरा उपाय अभी-अभी ही उपयोग में लाया जाने लगा है। इसमें लाभ यह है कि राज्य के बाहर के लोगों के अनुभव का लाभ भी राज्य को मिलता है।

इसके साथ-साथ शिक्षा-प्रशासन में यह समस्या बनी है कि शिक्षा-विशेषज्ञों तथा सामान्य जनता का कितना सहयोग शिक्षा-समस्याओं के अध्ययन के लिए किया जाये ? अनेक राज्यों में शिक्षा-प्रशासक या विशेषज्ञ को प्रशासकीय सचिव बनाकर, अधिक से अधिक संख्या में सामान्य व्यक्तियों को सदस्य रखकर समितियाँ निर्माण करने तथा सर्वेक्षण कराने का चलन अभी कुछ समय से हुआ है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग विषयों के लिए विशेषज्ञों तथा सामान्य जनता के सदस्यों की अलग-अलग विशेष समितियाँ

बनायी जाती हैं। ये विशेष समितियाँ प्रमुख सर्वेक्षण समिति के निर्देशन में कार्य करती हैं। अन्त में इन विशेष समितियों की रिपोर्ट के आधार पर प्रमुख सर्वेक्षण समिति अपना प्रतिवेदन या सिफारिशें तैयार करती है।

राज्य-प्रशासन के समक्ष यह समस्या रहती है कि किस समय ये अध्ययन समितियाँ नियुक्त की जायें ? किस प्रकार का अध्ययन कराया जाये ? सामान्य जनता के प्रतिनिधियों का क्या कार्य रहे ? इन समितियों के द्वारा अध्ययन के लिए समुचित वित्त-व्यवस्था कहाँ से तथा कैसे की जाये ?

(५) अशासकीय शिक्षण-संस्थायें खोलने वाले संगठनों के प्रति राज्य-प्रशासन का क्या उत्तरदायित्व है ?

अनेक राज्यों में निजी संगठन जब चाहे तथा जहाँ चाहे शालाएँ खोलने की स्वतंत्रता चाहते हैं। राज्य-शिक्षा-प्रशासन का इनके प्रति क्या उत्तरदायित्व है ? क्या इन संगठनों को जब चाहे तथा जहाँ चाहे शालाएँ खोलने की स्वतंत्रता देना उचित होगा ? राज्य शिक्षा के समुचित अवसर सभी बच्चों को देना चाहता है। सभी बच्चों को ये समुचित अवसर किस प्रकार दिये जा सकते हैं ? अनेक राज्यों में निजी संगठनों द्वारा शालाएँ खोलने के संबंध में कुछ नियम बनाये गये हैं । इन नियमों के अन्दर यदि वे चाहें तो बिना किसी अन्य शाला को हानि पहुँचाये, शिक्षा-विभाग की मंजूरी से शालाएँ खोल सकते हैं। इन नियमों को बनाने के संबंध में भी शिक्षा-प्रशासन की समस्या रहती है। इन नियमों को बनाने में आने वाली कठिनाइयों का उत्तरदायित्व भी शिक्षा-प्रशासन को ग्रहण करना पड़ता है।

शिक्षा का स्थानीय प्रशासन तथा नियंत्रण

शिक्षा के स्थानीय प्रशासन से अनेक लाभ हैं; जैसे—(१) प्रशासनीय क्षमता अपेक्षाकृत अधिक रहती है, (२) स्थानीय विभिन्नताओं की उपेक्षा नहीं होती है, (३) स्थानीय उत्साह, रुचि तथा समीक्षा बनी रहती है, आदि। लोकतंत्र की प्रभावी कार्यान्विति तभी अच्छी तरह होती है जब प्रशासन की इकाई छोटी हो। यह एक प्रभावी प्राचीन अनुभव है। अमेरिका में स्थानीय समाज ही शिक्षा की व्यवस्था करता है । फ्रांस में "कम्यून्स" ने छोटे क्षेत्रों में प्राथमिक तथा माध्यमिक शालाएँ व्यवस्थित की हैं। इंग्लैण्ड में तो स्थानीय शिक्षा-सत्ता (LEAS) ने शिक्षा की समुचित व्यवस्था की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय प्रशासन शिक्षा के क्षेत्र में अधिक सक्रिय तथा प्रभावी रूप से कार्य करता है।

स्थानीय इकाइयों के वित्तीय साधन सीमित होते हैं। मानवीय साधनों की कमी भी स्थानीय इकाइयों में पायी जाती है। स्थानीय दबाव तथा संकीर्ण राजनीति का कुप्रभाव शिक्षा पर पड़ता है।

वास्तव में स्थानीय प्रशासन क्षेत्र के छोटे होने से साधनों का वित्तीय तथा मानवीय दोनों प्रकार से सीमित होना स्वाभाविक है। फलस्वरूप इसकी गतिविधियाँ भी सीमित

रहेंगी । यदि स्थानीय प्रशासन का क्षेत्र बृहत् हो तो वित्तीय तथा मानवीय साधन अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। परन्तु इस प्रकार की व्यवस्था में स्थानीय रुचि समुचित नहीं रहती तथा सहयोग परोक्ष रहता है। स्थानीय प्रशासन का सबसे बड़ा दोष पक्षपात रहित प्रशासन का न हो पाना है। स्थानीय दबाव अधिक रहता है। इससे निष्पक्ष कार्यविधियों के विकास में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं।

भारत में स्थानीय शिक्षा-प्रशासन

अंग्रेजी शासन-काल में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास भारतीयों को कुछ क्षेत्रों में स्वशासन देने की दृष्टि से ही नहीं था। अंग्रेज भारतीयों को थोड़ा स्वशासन देकर राष्ट्रीय चेतना को शान्त करना चाहते थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ शिक्षा के क्षेत्र में अच्छे सहयोगी के रूप में कार्य न कर सकीं। "With such a start, naturally, the local bodies could not function as efficient partners in educational effort."[1]

स्वतंत्रता के उपरान्त शासन के विकेन्द्रीकरण के अधिक प्रयास किये गये परन्तु स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के स्तर पर अभी भी यह बहुत स्पष्ट नहीं है।

भारतीय संविधान में स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ स्थानीय शासन के लिए राज्य-विधान-सभाओं तथा राज्य-शासन द्वारा दिये गये अधिकारों का उपयोग ही करती हैं। इस प्रकार राज्य-सरकार ही इन स्वायत्त संस्थाओं पर नियंत्रण रखती हैं। इस दृष्टि से ये राज्य सरकार की एजेन्ट ही हैं। भारत में स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ दो प्रकार की हैं—(१) शहरी एवं (२) ग्रामीण। शहरों में नगरपालिका तथा नगर-निगम हैं एवं ग्रामीण क्षेत्रों में जनपद, पंचायत आदि रहती हैं। सन् १९४७ के बाद "पंचायत राज" के अन्तर्गत इनके तीन स्तर मान्य किये गये हैं—(१) गाँव, (२) खण्ड तथा (३) जिला। पंचायत राज में इन तीनों स्तरों पर स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं तथा विशेष अधिकार भी दिये गये हैं। शिक्षा की दृष्टि से अनेक राज्यों में पंचायत राज कानूनों का निर्माण किया गया है तथा महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु आंध्र, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, तथा राजस्थान में शिक्षा का उत्तरदायित्व, विभिन्न श्रेणियों में, इन स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सौंपा गया है। आसाम, बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, और पंजाब में "पंचायत राज" कानून बने अवश्य हैं, परन्तु शिक्षा का प्रशासन इनके अन्तर्गत नहीं है। मैसूर तथा जम्मू-काश्मीर में तो अभी इस प्रकार के कानून का विकास ही नहीं हुआ है। शिक्षा-आयोग १९६४-६६ ने स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का उत्तरदायित्व शिक्षा का विकास कर अनिवार्य सार्वजनिक शिक्षा के लक्ष्य की उपलब्धि में सहायक होना मान्य किया है। स्वतंत्रता के

---

[1] Uday Shanker & Ahluwalia, *Development of Education in India*—1947-66, Department of Education, Kurukshetra University Kurukshetra, (Haryana), 1967, p. 133.

बाद सामुदायिक विकास कार्यक्रम को पुनर्गठित करने के लिए बनी 'बलवन्त राय मेहता समिति' ने भारत में प्राथमिक शिक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को सौंपने की सिफारिश की है। भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व अनेक आयोगों तथा समितियों ने स्थानीय स्वशासन को शिक्षा से संबंधित करने का विरोध किया है। सन् १९२८ में हर्टाग समिति स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं को शिक्षा से संबंधित करने के विरोध में थी। सन् १९४४ में सार्जेन्ट रिपोर्ट में भी स्थानीय स्वशासन को शिक्षा से संबंधित करने की प्रक्रिया को हानिप्रद बतलाया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की स्थितियों में सुधार हुआ है। परन्तु अभी भी शिक्षा के क्षेत्र में इनका योगदान सीमित ही है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह ठोस सिद्धान्त है कि स्थानीय शिक्षा स्थानीय स्वशासन का उत्तरदायित्व हो। परन्तु भारत में यथार्थ में स्थितियाँ इस आदर्श स्थिति तक नहीं पहुँच पायी हैं। वित्त का अभाव तथा राजनीतिक स्थितियाँ स्थानीय स्वशासन को शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपने में बड़ी बाधक हैं। राजस्थान, महाराष्ट्र आदि राज्यों में पंचायत राज के अन्तर्गत स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को सौंपे गये शिक्षा के उत्तरदायित्वों की बड़ी कटु आलोचना की जाती है। भारत में अभी भी इस दिशा में बहुत कार्य करना शेष है।

स्थानीय शिक्षा-प्रशासन की समस्याएँ

स्थानीय शिक्षा-प्रशासन की अनेक समस्याएँ हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(१) क्या स्थानीय शिक्षा-प्रशासन राज्य तथा केन्द्र के शिक्षा-प्रशासन से पूर्ण मुक्त होकर ही कार्य कर सकता है ?

वास्तव में स्थानीय शिक्षा-प्रशासन के औचित्य की स्थापना का अर्थ यह नहीं है कि राज्य तथा केन्द्र शिक्षा में कोई रुचि न ले। किन्तु एक मान्यता यह भी है कि स्थानीय शिक्षा-प्रशासन तभी उचित ढंग से कार्य कर सकता है जब वह राज्य तथा केन्द्र के नियंत्रण से मुक्त हो। "'Home rule' in education is therefore the best rule. Education be kept 'close to the people.'"[1]

राज्य तथा केन्द्र का हस्तक्षेप स्थानीय प्रशासन के उत्साह तथा गतिविधियों को कम ही करता है। अतः यह आवश्यक है कि राज्य तथा केन्द्र शिक्षा-प्रशासन और शिक्षा-नियंत्रण कम से कम करें तथा स्थानीय शिक्षा-प्रशासन को समुचित स्वतंत्रता और उत्साह से शिक्षा-व्यवस्था करने दें। "The ideal situation, therefore, exists where education is left entirely free to be developed in each locality as the parents of that locality see fit."[2]

राज्य तथा केन्द्र को शिक्षा के स्तर निश्चित करने चाहिये। इन्हें वित्तीय सहायता किसे कितनी दी जाये—यह भी निश्चित करना चाहिये। परन्तु शिक्षा की व्यवस्था का उत्तर-

[1] French, Hull Dodds-*American High School Administration—Policy and Practice*, Rinehert & Co. Inc., New York, 1956, p. 38.

[2] *Ibid.*, p. 39.

दायित्व स्थानीय प्रशासन का ही रहे। कोई भी स्थानीय प्रशासन पूर्ण साधन तथा स्वतंत्रता होने पर निम्न स्तरीय शिक्षा-संस्थाएँ विकसित नहीं करना चाहेगा। परन्तु यदि स्थिति ऐसी हो भी तो राज्य प्रशासन को आगे आकर स्तर उठाने के प्रयास कराना चाहिये।

(२) स्थानीय प्रशासन के वित्तीय तथा मानवीय साधनों का विकास कैसे किया जाये ?

सामान्यतः स्थानीय प्रशासन को शिक्षा-व्यवस्था के लिए सम्पत्ति या अन्य कर लगाने एवं व्यय करने के अधिकार रहते हैं। परन्तु सम्पत्ति-कर या शिक्षा-कर लगाने तथा वसूल करने की विधियों में विभिन्नता तथा असमानता होने से अनेक समस्याएँ उपस्थित होती हैं। अनेक पिछड़े क्षेत्रों में स्थानीय प्रशासन के पास शिक्षा-व्यवस्था के लिए बहुत कम धन रहता है। अतः इन क्षेत्रों में शिक्षा के विकास में कठिनाई होती है।

विद्वानों ने सम्पत्ति-कर लगाने तथा वसूल करने के संबंध में अनेक सुझाव दिये हैं। इन सुझावों के आधार पर शिक्षा के साधनों का विकास किया जा सकता है। पिछड़े इलाकों को शिक्षा-प्रशासन के लिए सम्पन्न इलाकों के साथ जोड़ा जा सकता है। राज्य तथा केन्द्र सामान्यतः विस्तृत रूप से स्थानीय प्रशासन को वित्तीय सहायता दे सकते हैं। परन्तु इनकी सहायता के साथ कोई नियंत्रण नहीं रहना चाहिये।

(३) स्थानीय प्रशासन किस स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था करे ?

आजकल भारत के विभिन्न राज्यों में स्थानीय प्रशासन विभिन्न स्तरों तक की शिक्षा के लिए उत्तरदायी है। पश्चिमी बंगाल में निम्न प्राथमिक स्तर, तमिलनाडु में पूर्ण प्रायमरी स्तर, आंध्र तथा महाराष्ट्र में प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था स्थानीय प्रशासन करता है। राजस्थान तथा तमिलनाडु में इसे ब्लाक स्तर पर भी शिक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। इस प्रकार देश के राज्यों में स्थानीय शिक्षा-प्रशासन में विभिन्नता विद्यमान है। अतः शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने यह सुझाया है कि "The close involvement of schools with their communities is a principle of great educational significance."[1] शालाओं को स्थानीय समाज से संबद्ध करने की नीति उत्तम है। शिक्षा-आयोग ने इस सिद्धान्त को मानते हुए यह भी व्यक्त किया है कि स्थानीय प्रशासन को शिक्षा के विकास का उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिये परन्तु यह शैक्षणिक आधार पर हो, राजनीतिक आधार पर नहीं। साथ ही साथ, स्थानीय प्रशासन को शिक्षा की व्यवस्था का कार्य अधिकार के रूप में नहीं सौंपना चाहिये। यह उनका उत्तरदायित्व हो तथा जब तक वे उपयुक्त व्यवस्था कर सकें शिक्षा का उत्तरदायित्व उन्हें सौंपा

---

[1] *Report of the Education Commission*, 1964-66, Education & National Development, Ministry of Education, Government of India, New Delhi, 1966, p. 448.

जाये। शिक्षा का विकास तथा उत्तम प्रशासन, ये दो शर्तें ही स्थानीय प्रशासन के शिक्षा-व्यवस्था संबंधी उत्तरदायित्व का आधार रहें।

भारतीय शिक्षा-आयोग के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शाला स्तर तक की शिक्षा-व्यवस्था तथा प्रशासन के कार्य स्थानीय प्रशासन को सौंपे जायें। परन्तु स्थानीय राजनीति इसमें न पैठे, इसका ध्यान रखा जाये। शिक्षा-प्रशासन के समक्ष यह समस्या है कि किस स्तर तक की शिक्षा स्थानीय प्रशासन को सौंपी जाये ? इसे किस प्रकार प्रभावी तथा गतिपूर्ण बनाया जाये ? स्थानीय प्रशासन को सक्षम तथा उत्तम बनाने के लिए प्रशासन-नेतृत्व किस प्रकार प्राप्त किया जाये ?

अध्याय १२

प्रशासकीय निर्देशन तथा नेतृत्व

प्रशासकीय निर्देशन तथा नेतृत्व संबंधी विचार अत्यन्त शीघ्रता से परिवर्तित होते जा रहे हैं। इन पर अनेक शोध किये गये हैं जिससे इनकी प्रक्रिया तथा प्रकृति आदि के संबंध में अनेक नवीन तथ्य स्पष्ट हुए हैं।

प्रशासकीय निर्देशन

अनेक शिक्षा शास्त्रियों तथा विद्वानों का विचार है कि सभी प्रकार की शिक्षा एक प्रकार से निर्देशन ही है। परन्तु प्रशासन के क्षेत्र में अधिकारी इसकी ओर कम ध्यान देते हैं। वर्तमान समय में जीवन की जटिलताओं के अधिक बढ़ने तथा जीवन अपेक्षाकृत अधिक संघर्षपूर्ण होने से शिक्षा-प्रशासक इसे महत्वपूर्ण मानने लगे हैं कि प्रशासकीय निर्देशन शिक्षा-गतिविधियों को विधिवत् प्रभावी रूप से चलाने के लिए अति आवश्यक है।

शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक, व्यावसायिक, शैक्षणिक, अवकाश समय संबंधी, व्यक्तिगत, सामाजिक आदि अनेक कार्यों में निर्देशन आवश्यक रहता है। इनमें से अनेक तो कक्षाओं के शिक्षण से सीधे संबंधित हैं परन्तु अन्य का संबंध समाज, व्यवसाय आदि से है। इन सभी का संबंध शिक्षा-प्रशासन से है।

शिक्षा-प्रशासकीय निर्देशन का संबंध शालाओं में छात्रों के लिए आवश्यक निर्देशन सेवाओं की व्यवस्था करने, शिक्षकों की व्यावसायिक कठिनाइयों को हल करने, शाला-समाज-संबंध विकसित करने, शिक्षक-प्रशासक अच्छे संबंधों का विकास करने, शिक्षा के स्तर को उच्च बनाने आदि अनेक बातों से है। शिक्षण-विषयों, पाठ्यक्रम, सह-पाठ्यक्रमगामी क्रियाओं आदि से भी प्रशासकीय निर्देशन संबंधित है।

प्रशासकीय निर्देशन के आधार

प्रशासकीय निर्देशन शिक्षा निर्देशन के समान शिक्षा-क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों से संबंधित है। प्रशासकीय निर्देशन स्वयं भी अनेक विधियों से शिक्षकों तथा अन्य शिक्षा अधिकारियों को मिल जाता है, जैसे—प्रशासकीय नियमों की जानकारी, वरिष्ठ अधिकारियों तथा शिक्षकों से चर्चा आदि के माध्यम से। परन्तु प्रभावी तथा उपयोगी प्रशासकीय निर्देशन शिक्षा-प्रशासक से चर्चा करने से अधिक अच्छे ढंग से मिलता है। शिक्षा-प्रशासक को शिक्षा

संबंधी मामलों में समुचित निर्देशन देने के लिए निम्नलिखित सूचनाएँ पहले से एकत्रित करना चाहिये।

(१) शिक्षकों की क्षमता

शिक्षकों को उचित कार्य सौंपने तथा उनकी कठिनाइयों के उचित हल हेतु यह आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासक को शिक्षकों तथा अपने अन्य सभी अधीनस्थ कर्मचारियों की मानसिक, शारीरिक तथा अन्य क्षमताओं का समुचित ज्ञान हो। शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों की क्षमताओं का ज्ञान उनकी शैक्षणिक योग्यताओं, पुराने कार्यों के लेखों तथा आपसी चर्चा के माध्यम से अच्छी तरह प्राप्त किया जा सकता है।

(२) शिक्षकों के प्रशिक्षण का ज्ञान

प्रशासकीय निर्देशन के लिए यह अति आवश्यक है कि शिक्षा-प्रशासक को शिक्षकों तथा अन्य कर्मचारियों के प्रशिक्षण का समुचित ज्ञान हो। इससे उसे यह विदित होगा कि वास्तव में ये किस कार्य के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित हैं तथा इन्हें किन क्षेत्रों में अधिक प्रभावी ढंग से लगाया जा सकता है।

(३) व्यक्तिगत रुचियाँ तथा रुझान

शिक्षा के लिए खेल-कूद, मनोरंजनात्मक, सामाजिक, व्यावसायिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि रुचियाँ ही अधिक महत्व की हैं। अतः प्रशासकीय निर्देशन के समय इस बात का ज्ञान अवश्य होना चाहिये कि जिसे निर्देशित किया जा रहा है, उसकी रुचियाँ क्या हैं? आपसी चर्चा या गोष्ठियों के माध्यम से व्यक्तिगत रुझानों तथा रुचियों का समुचित ज्ञान हो सकता है। इन विशेष रुचियों के आधार पर कार्य वितरित करने से अनेक प्रशासकीय कठिनाइयाँ सरलता से हल हो जाती हैं।

(४) भावनात्मक गुण (Emotional Traits)

भावनात्मक गुणों का निश्चय करने के समान कठिन और कोई बात नहीं है। भावनात्मक गुणों को जानने के लिए शिक्षकों का श्रेणी-विभाजन, परिवार का इतिहास तथा स्थिति आदि की जानकारी अत्यन्त उपयोगी होती है। आपसी चर्चा या कुछ समय तक साथ में कार्य करने से भी भावनात्मक गुणों का पता लग जाता है। शिक्षकों तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं का सामान्य भावनात्मक व्यवहार तो प्रशासक के सामान्य निर्देशन कार्यक्रम को अधिक प्रभावित नहीं करेगा परन्तु अस्थिर भावनात्मक स्थितियों के लिए जिनसे शारीरिक तथा सामाजिक व्यवहार प्रभावित होते हैं, विशेष निर्देशन-गतिविधियों को व्यवस्थित करना आवश्यक रहता है।

(५) चरित्र सम्बन्धी गुण

प्रशासकीय निर्देशन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण विचारणीय बात शिक्षकों तथा अन्य

अधिकारियों के चरित्र संबंधी व्यक्तिगत गुण हैं। ये गुण अध्यवसाय, विनम्रता, ईमानदारी, सहयोगी भावना या सहयोग करने की क्षमता, विश्वसनीयता, आदि हैं। इनके ज्ञान के आधार पर निर्देशन अत्यन्त सरल हो जाता है। प्रशासक को शिक्षकों के श्रेणी-विभाजन करने में यह ज्ञान सहायक होता है। इनके ज्ञान के आधार पर शिक्षा-प्रशासक यह सरलता से निश्चय कर सकता है कि किन क्षेत्रों में निर्देशन आवश्यक है।

प्रशासकीय निर्देशन की विधियाँ

प्रशासकीय निर्देशन अनेक विधियों द्वारा दिया जा सकता है। सामान्य रुचियाँ ज्ञात करने, व्यावसायिक क्षमताओं का पता लगाने, शैक्षणिक योग्यताओं का ज्ञान करने, प्रारम्भिक प्रशिक्षण देने तथा प्रशासकीय सामान्य बातों का ज्ञान कराने के लिए आपसी चर्चाएँ अत्यन्त उपयोगी होती हैं। इन बैठकों तथा आपसी चर्चाओं में यदि उद्देश्य स्पष्ट कर दिया जाये तो सफलता अधिक मिल सकेगी।

पत्रों के माध्यम से भी प्रभावी रूप से प्रशासकीय निर्देशन दिया जा सकता है। परन्तु पत्र सामान्य स्थितियों में न लिखकर विशेष स्थितियों में लिखना अधिक उपयोगी रहता है। एक तो प्रशासक को समय का अभाव रहता है तथा वह अन्य कार्यक्रमों में इतना फँसा रहता है कि हमेशा सामान्य बातों के लिए पत्र लिखना सम्भव नहीं होता है।

विचार-गोष्ठियाँ आयोजित कर शिक्षण संबंधी बातों के लिए आवश्यक निर्देशन दिया जा सकता है। इन गोष्ठियों की नियोजना पहिले से तथा अच्छी तरह करनी चाहिये। व्यावसायिक कौशल-परीक्षण, फिल्म-प्रदर्शन, पुस्तक तथा पत्रिकाओं का अध्ययन, दण्ड, पुरस्कार, आदि के माध्यम से भी आवश्यक निर्देशन दिया जा सकता है। प्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञ चाणक्य ने (१) साम, (२) दाम, (३) दण्ड तथा (४) भेद के आधारों पर प्रशासकीय निर्देशन करने की सलाह दी है। चाणक्य के ये चार आधार राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में बहुत मान्य किये जाते हैं। शिक्षा-प्रशासन में भी इनका समुचित उपयोग हो सकता है।

शिक्षा-नेतृत्व

शिक्षा-नेतृत्व का अध्ययन अत्यन्त जटिल कार्य है। नेतृत्व मानव-समाज में अत्यन्त मूल्यवान माना जाता है। नेतृत्व के सम्बन्ध में अनेक अध्ययन किये गये हैं। इनमें से सन् १९४५ के पूर्व के अध्ययन नेताओं के गुणों तथा योग्यताओं के अध्ययन से संबंधित ही रहे हैं। इस समय मान्यता यह थी कि मानव को दो समूहों—नेता तथा अन्य सामान्य जनता—में विभक्त किया जा सकता है। नेता में कुछ विशेष गुणों के कारण कुछ विशेष क्षमता होती है जिसके कारण वह नेतृत्व करता है। इसी के आधार पर यह कहा जाता था कि "नेता जन्म लेते हैं, विकसित नहीं होते हैं।" स्टागडिल ने नेतृत्व परक गुणों से संबंधित १२४ अध्ययनों पर विचार किया तथा वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लगभग १५

या अधिक अध्ययनों से यह सिद्ध हुआ कि नेतृत्व करने वाला व्यक्ति (१) बुद्धि, (२) योग्यता, (३) उत्तरदायित्व वहन करने, (४) क्रिया तथा सामाजिक सहयोग तथा (५) सामाजिक-आर्थिक स्थिति में अन्य व्यक्तियों से उच्च रहता है। नेता की योग्यताएँ, कौशल आदि उन स्थितियों की माँग द्वारा निश्चित की जाती हैं जिनमें वह कार्य करता है।[1] परन्तु स्टागडिल अध्ययन के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कोई भी व्यक्ति केवल कुछ गुणों के आधार पर ही नेता नहीं बनता है। नेतृत्व करने वाले की व्यक्तिगत बातों के स्वरूप का मेल जनता या पीछे चलने वालों की गतिविधियों, उद्देश्यों आदि से होना चाहिये।[2] इस प्रकार नेतृत्व कोई परोक्ष स्थिति नहीं है, न यह नेता में किन्हीं विशेष गुणों के कारण ही उपलब्ध होता है। परन्तु "Rather, the leader acquires leader status through the interactions of the group in which he participates and demonstrates his capacity for assisting the group to complete its tasks."[3]

मायर्स ने लगभग २०० नेतृत्व संबंधी अध्ययनों पर ध्यानपूर्वक विचार किया तथा निष्कर्ष निकाला[4] कि नेतृत्व से भौतिक तत्व महत्वपूर्ण रूप से संबंधित नहीं होते हैं। नेता में अन्य सदस्यों की अपेक्षा कुछ अधिक उच्च बुद्धि होती है। परन्तु बुद्धि तथा नेतृत्व का कोई आपसी संबंध नहीं है।

समूह की समस्याओं के हल के लिए आवश्यक ज्ञान नेतृत्व की स्थिति दिलाने में अधिक सहायक होता है। अन्तर्दृष्टि, पहल करने की क्षमता, सहयोग, मौलिकता, भावनात्मक स्थिरता, निर्णय लेने की क्षमता, विचार-विनिमय-कौशल, निश्चित जीवन-ध्येय आदि गुण नेतृत्व से अधिक संबंधित हैं। हापर तथा बिल्स ने शिक्षा-प्रशासकों की बुद्धि और प्रशासन-सफलता का सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए एक अध्ययन किया था। इनका मत है कि शाला-प्रशासक में कुछ अधिक बुद्धि अवश्य होती है परन्तु बुद्धि तथा प्रशासन-सफलता में बहुत कम संबंध है।[5]

इन सभी अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि गुणों का नेतृत्व से संबंध कम है। वास्तव में जिन गुणों का संबंध नेतृत्व-क्षमता से जोड़ा जाता है वे मानव-सम्बन्ध परक गुण

---

[1] Stogdill, R. M., "Personal factors associated with leadership"—A survey of the literature, *Journal of Psychology*, XXV, 1948, p. 63.

[2] *Ibid.*, p. 64.

[3] Myers, Robert, B., *The Development and Implications of a Conception of Leadership for Leadership Education*, Doctoral dissertation, University of Florida, 1954, p. 107.

[4] *Ibid.* pp. 105-106.

[5] Hopper & Bills, "What's a Good Administrator Made of ?" *The School Executive*, LXXIV, March 1955, pp. 93-95.

तथा कौशल हैं। अतः उपयुक्त प्रशिक्षण से इन कौशलों तथा योग्यताओं का विकास करना सम्भव है।

समय नेता बनाता है

जब नेतृत्व के गुणों संबंधी अध्ययन से नेतृत्व की प्रकृति तथा प्रक्रिया का समुचित ज्ञान न हो सका तब सन् १९४० के आस-पास "समय नेता विकसित करता है" सिद्धान्त को मान्यता दी जाने लगी। इस सिद्धान्त ने नेता से संबंधित सामाजिक वातावरण या परिवेश के अध्ययन को अधिक महत्वपूर्ण माना। हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन आदि नेताओं में उन अनेक गुणों का अभाव था जो विवेकपूर्ण अध्ययन के आधार पर नेता में मान्य किये गये हैं। परन्तु ये बड़े नेता अवश्य रहे हैं। अतः इनके संबंध में यह मान्य किया गया कि इन्हें "समय ने नेता बनाया"। इस सिद्धान्त के संबंध में अनुमान ही अधिक लगाये गये हैं। इस संबंध में अध्ययन कम हुए हैं।

परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियावादी या समूह सिद्धान्त

परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियावादी या समूह सिद्धान्त ही अधिक मान्य किया जाता है। नेता का समूह में व्यवहार अब अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। नेतृत्व अब नेता के व्यवहार के रूप में मान्य किया जाता है। इस दृष्टि से यदि नेतृत्व पर विचार किया जाये तो स्पष्ट होता है कि कोई भी व्यक्ति समूह को नेतृत्व प्रदान करते समय उस समूह को कार्य, उद्देश्य आदि निश्चित करने तथा इन्हें प्राप्त करने में सहायक होता है। साथ ही साथ समूह को उसकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर उसे बनाये रखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-प्रशासक नेतृत्व करता है, वह अपने आप नेता नहीं बन जाता है। उसे उचित नेतृत्व करने के लिए शिक्षकों के समूह को उद्देश्य, कार्य आदि निश्चित करने तथा प्राप्त करने में सहायता देना आवश्यक होता है। उसके लिए उस समूह की व्यक्तिगत और सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर उसे जीवित रखना आवश्यक रहता है।

शासकीय या अशासकीय सेवाओं में नेतृत्व किसी व्यक्ति को उसके पद के आधार पर भी मिल जाता है। परन्तु वास्तविक नेतृत्व बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि अपने अन्तर्गत शिक्षक या अन्य समूह के कार्य, उद्देश्य आदि निश्चित करने तथा प्राप्त करने में वह प्रभावी रूप से सहायक हो। यदि वह इन कार्यों में सक्रिय योगदान न दे सकेगा तब वह ऊपर से लादा हुआ नेता ही कहा जा सकेगा तथा उस समूह का उचित तथ्यों की नेतृत्व न कर सकेगा।

नेतृत्व सम्बन्धी कुछ तथ्य

मायर्स[1] ने नेतृत्व संबंधी अनेक शोधों का अध्ययन कर नेतृत्व के संबंध में कुछ तथ्यों की पुष्टि की है जो निम्नानुसार हैं :

---

[1] Myers, Robert, B., "A Synthesis of Research in Leadership", An unpublished paper presented to the A.S.C.D., March, 1957.

(१) नेतृत्व कोई स्थिति या स्थान नहीं है, यह क्रिया-प्रतिक्रिया का फल है।
(२) नेतृत्व पहिले से ही स्थापित नहीं किया जा सकता है।
(३) किसी एक परिस्थिति का नेता अन्य परिस्थिति में अपने आप नेता नहीं हो सकता है।
(४) पद या स्थिति के कारण नेतृत्व नहीं रहता है, वह व्यक्ति के संगठन में व्यवहार करने पर निर्भर रहता है।
(५) नेता की अनुभूति समूह के ग्रहण करने पर निर्भर रहती है।
(६) नेता अपनी आवश्यक भूमिका के आधार पर अपने कार्य निश्चित करता है।
(७) अनेक समूहों में एक से अधिक नेतृत्व करने वाले रहते हैं।
(८) नेतृत्व के कारण समूह के प्रति अनुकूल भाव रहते हैं।
(९) नेतृत्व लोकतंत्रीय या निरंकुश हो सकता है किन्तु वह पूर्ण स्वतंत्र नहीं रहता है।
(१०) नेतृत्व आलोचनात्मक समूह के स्तरों की रक्षा करता है।
(११) नेतृत्व समूह के व्यक्तियों द्वारा दी गयी सत्ता है।
(१२) कार्यक्रम-विकास, जिसमें केवल एक स्थिति वाले व्यक्ति रहते हैं (जैसे—प्राचार्य, शिक्षक या पर्यवेक्षक), इतना विस्तृत तथा अधिक समय चलने वाला नहीं रहता है जितना वह कार्यक्रम रहता है जिसमें संगठन की विभिन्न स्थितियों वाले सदस्य रहते हैं।

ये सभी तथ्य उपयुक्त हों, यह आवश्यक नहीं है परन्तु इनसे यह स्पष्ट होता है कि नेतृत्व के संबंध में और अधिक शोध आवश्यक है; तथा अनेक ऐसे विचार जो परम्परा से प्रचलित हैं उन्हें वैज्ञानिक शोधों के द्वारा पोषण तथा अनुमोदन प्राप्त नहीं होता है।[1]

शिक्षा-प्रशासकीय नेतृत्व

शिक्षा-प्रशासन अपेक्षाकृत जटिल है

शिक्षा-प्रशासकों के लिए नेतृत्व तथा समूह-कार्य-विधि को समझना अति आवश्यक तथा उपयोगी है। शिक्षा-प्रशासकों का कार्य अधिक जटिल है क्योंकि शिक्षा-प्रशासकों को विधिवत तथा सामान्य तौर पर निर्मित दोनों प्रकार के समूहों का नेतृत्व करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उन्हें शिक्षा-कानूनों तथा नियमों के अन्तर्गत भी कार्य करना पड़ता है। अतः शिक्षा-प्रशासकों को पूर्ण स्वतंत्रता बहुत कम रहती है।

---

[1] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 92.

शिक्षा-प्रशासन का त्रिकोणीय विचार

शिक्षा-प्रशासन के संबंध में त्रिकोणीय विचार[1] भी अमेरिका में विकसित किया गया है। इस विचार के अनुसार शिक्षा-प्रशासन का विश्लेषण कार्य व्यक्ति तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि के रूप में किया गया है। व्यक्ति अर्थात् प्रशासक का विश्लेषण क्षमता, व्यवहार तथा परिणाम के रूप में किया जाता है। शिक्षा-प्रशासन का यह विश्लेषण उपयोगी है तथा अनेक शिक्षा-प्रशासनीय गतिविधियों को स्पष्ट करने में अत्यन्त सहायक है।

शिक्षा-प्रशासन की क्षमता का स्वरूप

शिक्षा-प्रशासन की क्षमता से संबंधित स्वरूप का विकास अमेरिका के दक्षिणी राज्यों की सहयोगी योजना में शैक्षणिक प्रशासन द्वारा किया गया है।[2] इस विचार के अन्तर्गत शिक्षा-प्रशासन के आठ महत्वपूर्ण कार्य निश्चित किये गये हैं। इनके ५२ कार्यों को आठ क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक कार्य का विश्लेषण कार्य, सिद्धान्त जो उस कार्य को करने के लिए आवश्यक है, कार्य संबंधी विश्वास, कौशल तथा कार्य को करने के लिए आवश्यक ज्ञान आदि के आधार पर किया गया है। मारफेट, जान्स तथा रेलर का कथन है कि इस प्रकार के शिक्षा-प्रशासन का स्वरूप शाला-प्रशासकों की क्षमताओं के विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[3]

शिक्षा-प्रशासकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्यों के क्षेत्र

ओहियो विश्वविद्यालय के शिक्षा महाविद्यालय के रेम्सेयर तथा अन्यों[4] ने शाला-समाज-विकास-अध्ययन-योजना के अन्तर्गत शिक्षा-प्रशासकों के व्यवहार के क्षेत्रों की गणना की है। ये नौ क्षेत्र हैं, जिनमें शिक्षा-प्रशासकों को कार्य करना आवश्यक रहता है। इन क्षेत्रों की गणना शिक्षा-प्रशासक के आपसी वैयक्तिक तथा परिवेश संबंधी व्यवहारों को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित करने के लिए की गयी थी। इन नौ क्षेत्रों के आधार पर शिक्षा-प्रशासन के स्वरूप को निर्धारित करने के प्रयास किये गये हैं। इनसे शिक्षा-प्रशासकों के व्यवहार के संबंध में शोध को बड़ा प्रोत्साहन मिला है। ये नौ क्षेत्र निम्नलिखित हैं :

---

[1] Funk & Livingston, *A Tri-dimensional View of the Job of Educational Administration*, New York : CPEA-MAR, Teachers College, Columbia University, 1951, p. 9.

[2] Southern States Cooperative Project in Educational Administration, "Better teaching in School administration", Nashville, Tennessee; George Peabody College for Teachers, 1955, pp. 134-177.

[3] Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., 1959, p. 95.

[4] Ramseyer John A. & Others, *Factors Affecting Educational Administration*, Mono group No. 2., Columbus, Ohio, College Education, The Ohio State University, 1955, p. 20.

(१) उद्देश्य निश्चित करना
(२) नीति निर्धारित करना
(३) कार्य निश्चित करना
(४) प्रभाव का मूल्यांकन
(५) प्रशासकीय कार्यों तथा ढाँचे में समन्वय-स्थापना
(६) शिक्षा-विकास के लिए समाज के नेतृत्व के साथ कार्य करना
(७) समाज के शैक्षणिक साधनों का उपयोग
(८) समाज के सदस्यों का सहयोग लेना
(९) विचार-विनिमय करना

ग्रेग ने प्रशासकीय प्रक्रिया संबंधी अनेक तथ्य स्पष्ट किये हैं। उपर्युक्त अनेक क्षेत्रों का मेल ग्रेग द्वारा स्पष्ट की गयी प्रशासकीय प्रक्रिया के पक्षों से मेल खाता है। यहाँ ग्रेग द्वारा विकसित शैक्षणिक प्रशासकीय प्रक्रिया के पक्षों पर विचार करना उपयोगी होगा।

शैक्षणिक प्रशासन संबंधी प्रक्रिया

ग्रेग[1] ने शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है।

(१) निर्णय लेना
(२) नियोजना बनाना
(३) व्यवस्था करना
(४) विचार विनिमय करना
(५) प्रभाव डालना
(६) समन्वय करना
(७) मूल्यांकन करना

शिक्षा-प्रशासन-प्रक्रिया से संबंधित इन विभिन्न क्षेत्रों की विवेचना में इन्होंने नेतृत्व, समूह प्रक्रिया, मानवीय व्यवहार संबंधी अनेक विचारों को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है तथा कहा है कि, "Leadership and group processes, as well as the whole matter of human relations are unquestionably important aspects of the administrative process."[2]

शक्ति तथा सत्ता

हन्टर के मतानुसार दूसरे व्यक्तियों को अपने तथा अन्य वस्तुओं के संबंध में गतिशील करने के कार्य को शक्ति कहते हैं।

सत्ता को साइमन ने व्यवहार के रूप में व्यक्त किया है। जब कोई व्यक्ति किसी

---

[1] Campbell & Gregg, *Administrative Behaviour in Education,* Harper & Bros., New York, 1957, Chapter VII.

[2] Campbell & Gregg, *Administrative Behaviour in Education,* pp. 273-274.

अन्य के निर्णय से प्रेरित होकर व्यवहार करता है तब ऐसा कहा जा सकता है कि उसको सत्ता प्राप्त हुई है। इस प्रकार सत्ता के पास शक्ति का बल रहता है। इसीलिए जब किसी व्यक्ति के पास सत्ता होती है तब वह दूसरों को कार्य करने के लिए उन्मुख करता है। ड्यूलिन यथा अन्य लेखकों ने सत्ता को Institutionalized Power[१] कहा है। ग्रिफिथ्स[२] ने मानवीय संबंधों को प्रभावित करने वाली शक्ति तथा सत्ता का अन्तर उत्तम ढंग से स्पष्ट किया है। उसका कथन है कि (१) शक्ति वह सीमेंट है जो हमारे तथा अधिनायकवादी राज्यों के समाज को जोड़ कर रखता है तथा (२) लोकतंत्रीय समाज वह है जिसमें शक्ति समाज के सदस्यों में रहती है तथा सभी व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर रहती है।

शक्ति की उपेक्षा न तो लोकतंत्र में की जा सकती है और न अधिनायकवादी राज्यों में। शक्ति न केवल शिक्षा-प्रशासकों में रहती है वरन् शिक्षा-परिषद के सदस्यों, छात्रों, शिक्षकों में भी रहती है। बिल्स का कथन है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में शक्ति का उपयोग भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है।

सत्ता किसी संगठन को विधिवत दी गयी शक्ति है। इसका उपयोग प्रभावी रूप से तभी हो सकता है जब सत्ता प्राप्त करने वाले व्यक्ति के संबंध में समूह यह मान्य करे कि इसे सत्ता का उपयोग करने का अधिकार है। ग्रिफिथ्स का कथन है कि सत्ता की अनेक सीमाएँ रहती हैं। उसका कथन है कि शिक्षा-परिषद, शिक्षक, शिक्षा-नियम, छात्र, समाज, आदि शिक्षा-प्रशासन की सत्ता को सीमित करते हैं।

शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में शक्ति तथा सत्ता का यह अन्तर समझना अति आवश्यक है। कोई भी शाला सत्ता के संबंध में पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। शालाओं तथा शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समूह होते हैं। इनकी सत्ता की सीमाएँ निश्चित की जाना आवश्यक है। शिक्षा-प्रशासक को सभी को—समूह तथा व्यक्ति, जो निर्णय लेने में सहयोग देते हैं, यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि कौन से प्रशासकीय निर्णयों को वह सुरक्षित रखता है तथा कौन से निर्णय वह अन्य व्यक्तियों के सहयोग से लेगा। ऐसा करने से सुव्यवस्था बनी रहती है।

शिक्षा-प्रशासकीय निर्देशन तथा नेतृत्व संबंधी समस्याएं

शिक्षा-प्रशासकीय निर्देशन तथा नेतृत्व संबंधी अनेक समस्याएँ हैं जिनमें से निम्न-लिखित प्रमुख हैं:

(१) शिक्षा-प्रशासक नेता शालाओं का विकास कैसे कर सकता है ?

वर्तमान समाज शीघ्रता से परिवर्तित हो रहा है। यह विज्ञान तथा तकनीकी विकास के कारण है। इस परिवर्तनशील जगत में शिक्षण-संस्थाओं को भी समाज के साथ-साथ परि-

---

[1] Dulin, Robert & Others, *Human Relationships in Administration*, Prentice Hall Inc., 1951, p. 188.

[2] Griffiths, Daniel E., *Human Relations in School Administration*, Appleton Century Croft, Inc., New York, 1956, Ch. 5 and 6, p. 105.

वर्तित तथा विकसित होना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें अपने उद्देश्य, शिक्षण-विधियों तथा कार्यक्रम, व्यवस्था तथा संगठन के ढाँचे में अनुकूल परिवर्तन करना आवश्यक है। परन्तु यदि इन परिवर्तनों के संबंध में शिक्षा-प्रशासक के विचार अनुकूल नहीं हैं या शिक्षा-प्रशासक परिवर्तन और विकास चाहता है परन्तु शिक्षक इसके लिए तैयार नहीं है तब द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है। इस स्थिति में यदि शिक्षा-प्रशासक मानवीय संबंधों संबंधी कुछ प्रमुख तत्वों की उपेक्षा करता है तब वह समूह का नेतृत्व खो देगा। अतः समस्या यह है कि शिक्षा-प्रशासक को किन स्थितियों में परिवर्तन तथा विकास करना चाहिये ? काफी तथा गोल्डन ने ५६वीं ईयर बुक में संस्थाओं में परिवर्तन के संबंध में उत्तम सुझाव दिये हैं। उनका कथन है कि संस्थाओं में परिवर्तन उस समय सुलभ होगा जब

(१) लोकतंत्रीय नेतृत्व हो तथा समूह के सदस्य निर्णय लेने में सहयोग करने के लिए स्वतंत्र हों;

(२) स्तर ऐसे हों कि परिवर्तन के द्वारा संस्था-विकास की अपेक्षा रहे ;

(३) समूह के सदस्यों के हितों को हानि पहुँचाये बिना परिवर्तन किया जा सके;

(४) सदस्यों को समूह से लगन तथा प्रेम हो तथा समूह उन्हें सन्तुष्ट करने की क्षमता रखता हो;

(५) समूह के सदस्य स्वयं नेतृत्व करने में सहयोगी हों, उद्देश्य निर्धारित करते हों, योजना बनाते हों तथा नेतृत्व के मूल्यांकन में सहयोग देते हों;

(६) नवीन प्रयोगों या परिवर्तनों से परिणामों को खतरा न हो।

(२) शिक्षा-प्रशासन या नेता समूह के स्तर में परिवर्तन कैसे कर सकता है ?

शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में स्तर निश्चित किये जाते हैं। ये स्तर उस शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्त्ता ही निश्चित करते हैं। समूह इन स्तरों की सुरक्षा करता है। जब समूह के भीतर या समूह से बाहर इन स्तरों की कोई आलोचना होती है तब समूह इन स्तरों का पक्ष लेता है। परन्तु अनेक बार यह होता है कि समाज के अन्य समूह यह सोचने लगते हैं कि किसी समूह-विशेष के स्तरों में परिवर्तन होना आवश्यक है। मान लो शिक्षक शाला-अवधि के पश्चात् शाला में रुकते नहीं हैं। प्रशासक तथा पालक यदि यह निश्चय करते हैं कि शिक्षक शाला में सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाओं के लिए सप्ताह में एक या दो दिन कुछ समय के लिए रुकें। शिक्षक रुकने को तैयार नहीं हैं। इस स्थिति में शिक्षा-प्रशासक शिक्षकों के समूह को रोकने के लिए क्या करे ? क्या वह उनके (शिक्षकों) कार्य करने के स्तर को बदले ?

(३) शिक्षा-प्रशासक शिक्षा से संबंधित विभिन्न समूहों के विरोध को कैसे दूर करे ?

समाज में अनेक संगठन रहते हैं। इन संगठनों के उद्देश्य भिन्न-भिन्न होते हैं। कभी-कभी यह होता है कि एक समूह शाला में एक प्रकार का कार्य चाहता है परन्तु दूसरे समूह उसका विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि शाला के शिक्षक तथा बालक शाला में नाटक तथा अन्य कार्यक्रम करना चाहते हैं। परन्तु समाज के सदस्य इसके विरोध में हैं। वे चाहते हैं कि छात्र केवल पढ़ें, अन्य किसी गतिविधि में न पड़ें। इस विरोध को शिक्षा-प्रशासक कैसे दूर करे ? समाज के विभिन्न समूहों के उद्देश्यों में ऐक्य कैसे स्थापित किया जा सकता है ?

अध्याय १३

शिक्षा-प्रशासन संबंधी नवीन प्रवृत्तियाँ तथा दोष

शिक्षा के क्षेत्र में सतत् विकास तथा परिवर्तन हो रहा है। इस विकास तथा परिवर्तन में अनेक परम्परागत तत्व तथा शिक्षण-अभ्यास लुप्त हो रहे हैं तथा नवीन तत्वों और शिक्षण-अभ्यासों का समावेश शिक्षा-क्षेत्र में हो रहा है। फलस्वरूप शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में भी अनेक परम्परागत मान्यताएँ तथा सिद्धान्त अमान्य किये जा रहे हैं, जैसे "नेतृत्व विशेष गुणों तथा क्षमताओं के कारण मिलता है" सिद्धान्त अब मान्य नहीं किया जाता है। अब शिक्षा-प्रशासन में समूह के सदस्यों की आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त मान्य किया जाने लगा है। शिक्षा-प्रशासन में अनेक कारणों से परिवर्तन अपेक्षित है। छात्र-संख्या की अत्यधिक वृद्धि, वर्तमान परिवर्तनशील समाज की आवश्यकताओं में परिवर्तन, आर्थिक, राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तन, शिक्षा-अवधि का विकास, शिक्षण-गतिविधियों का विकास, शालाओं के स्वरूप में विकास आदि ऐसे अनेक कारण हैं जो शिक्षा-प्रशासन में अनेक नवीन प्रवृत्तियों का विकास कर रहे हैं। शिक्षा-प्रशासन संबंधी इन नवीन प्रवृत्तियों पर विचार करना अति आवश्यक है।

(१) शाला तथा समाज का समन्वय

वर्तमान शिक्षा-प्रशासन उन विधियों तथा उपायों को विकसित करने के लिए प्रयत्नशील है जो शाला और समाज के संबंधों को बढ़ाने में सहायक हों। आजकल यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि शाला तथा समाज का समन्वय होना चाहिये। शाला के साधनों का उपयोग समाज तथा समाज के साधनों का उपयोग शाला करे। यह तभी सम्भव है जब शाला तथा समाज में समन्वय स्थापित हो। फलस्वरूप शिक्षा-प्रशासन इस दिशा में अधिक प्रयत्नशील है। वास्तव में वर्तमान में शिक्षा-प्रशासकों में यह बात अधिक सजगता से महसूस की जा रही है कि शाला तथा समाज के समन्वय के लिए वे उचित, गतिशील तथा प्रभावी नेतृत्व प्रदान करें।

(२) व्यावसायिक तथा सैद्धान्तिक प्रशिक्षण

शिक्षा-प्रशासकों को व्यावसायिक तथा सैद्धान्तिक प्रशिक्षण देना आवश्यक माना जाने लगा है। वर्तमान में यह मान्य किया जाने लगा है कि अनेक प्रशासकीय कौशलों का

विकास उनके सिद्धान्तों को समझने से सरलता से हो सकता है। इसी ध्येय से शिक्षा-प्रशासकों के लिए प्रशासकीय प्रक्रिया, अभ्यासों, सिद्धान्तों आदि का ज्ञान अनेक शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में दिया जाने लगा है। बी० एड० तथा एम० एड० स्तरों पर शिक्षा-प्रशासन एक वैकल्पिक विषय के रूप में अध्ययन के लिए भी निर्धारित किया जाने लगा है। विकसित देशों में तो शिक्षा-प्रशासकों के प्रशिक्षण के लिए अलग से संस्थाओं तथा पाठ्यक्रमों का विकास भी किया गया है। वर्तमान में शिक्षा-प्रशासकों से अधिक उच्च विधिवत शिक्षा तथा व्यावसायिक कौशलों की अपेक्षा की जाने लगी है।

(३) शिक्षण-संस्थाओं तथा अन्य अशैक्षणिक परन्तु शिक्षा में रुचि लेने वाले संगठनों में समन्वय

अशैक्षणिक परन्तु शिक्षा में रुचि लेने वाले संगठनों में स्काउट, गर्ल्स गाइड, वाई० एम० सी० ए०, वाई० डब्ल्यू० सी० ए० आदि संगठन आते हैं। इन संगठनों का क्षेत्र भी राष्ट्रीय रहता है। ये संगठन समाज हित के अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि इन संगठनों के कार्यक्रमों तथा गतिविधियों का संबंध शिक्षण-संस्थाओं की कार्यविधियों तथा गतिविधियों से जोड़ा जाये। शिक्षा-प्रशासन का यह कर्तव्य है कि ऐसी विस्तृत नीतियों तथा संबंधों का विकास करे कि इन विभिन्न संगठनों में आपसी संबंध अच्छे हों तथा छात्र-छात्राओं की शिक्षा के लिए इनके संबंध अच्छे रूप से विकसित हों। इनके उचित संबंधों के विकास में स्थानीय सहयोग की समस्या रहती है। अनेक विद्वानों का विचार है कि शालाओं को इन विभिन्न संगठनों की गतिविधियों को अपने में समा लेना चाहिये। परन्तु इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। अतः शिक्षा-प्रशासन की आधुनिक प्रवृत्ति इन विभिन्न संगठनों का संबंध शालाओं से समुचित रूप से स्थापित करने की है। इससे शालाएँ भी इन संगठनों द्वारा प्रतिपादित गतिविधियाँ अपनायेंगीं।

(४) जन-सम्पर्क की स्थापना

स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू ने २९ मार्च सन् १९५४ को अपने भाषण में कहा था "शासन किसी उद्देश्य के लिए है। इसे एक हाथी-दाँत की मीनार की तरह स्थिर नहीं रहना चाहिये तथा उसे कुछ निश्चित कार्यवाही के नियमों के अनुसार ही कार्य नहीं करना चाहिये। नर्गिस के फूल के समान पूर्ण सन्तोष की दृष्टि से उसे अपनी ओर ही नहीं निखरना चाहिये। वास्तव में शासन-प्रणाली को जनता का हित ध्यान में रखना चाहिये।"[१] श्री नेहरू ने यह बात सामान्य प्रशासन के लिए कही थी। परन्तु शिक्षा-प्रशासन भी शिक्षा-क्षेत्र की सभी जनता, शिक्षक, छात्र तथा समाज के हित की वृद्धि करने वाला होना चाहिये। जन-हित जन-सम्पर्क द्वारा ही सम्भव है। अतः आजकल शिक्षा-प्रशासन में जन-सम्पर्क स्थापित करने की प्रवृत्ति अधिक विकसित हो रही है। अनेक विकसित देशों में जनता की

---

[१] नेहरू, जवाहरलाल, इंडियन इंस्टीट्यूट आफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली, में २९ मार्च, १९५४ को दिया गया भाषण।

समस्याओं को जानने-समझने तथा शिक्षा-प्रशासन की बातों को जनता को बतलाने के लिए 'जन-सम्पर्क अधिकारी' नियुक्त किये जाते हैं। ये अधिकारी जनता की आकांक्षाओं का अध्ययन करते हैं। अनेक देशों में ये कार्य सूचना तथा प्रसार-विभाग करते हैं। इस प्रकार शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में जन-सम्पर्क के द्वारा जन-हित के विकास की प्रवृत्ति विकसित हो रही है।

(५) शिक्षण में सहयोगी कार्यक्रमों का अधिकाधिक विकास

"The administrative organization of the high school of the future will make more provision for cooperative group projects for students."[1] शाला-जीवन के अनेक नवीन पक्ष विकसित हो रहे हैं। इन नवीन पक्षों में सहयोगी कार्यक्रमों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया जाता है। कक्षा-शिक्षण, सहपाठ्यक्रमगामी क्रियाएँ, केफेटेरिया, क्लब, शाला-बैंक, सहकारी भण्डार, खेल-कूद आदि अनेक क्षेत्रों में सहयोगी कार्यक्रमों को आवश्यक तथा उपयोगी माना जाता है। हाँ, अनेक शालाएँ अभी भी ऐसी हैं जो इन गतिविधियों में आवश्यक सहयोगी कार्य को महत्व नहीं देती हैं।

शाला-कार्यक्रम के अनेक उद्देश्य ऐसे रहते हैं जिन्हें सहयोगी कार्यक्रमों के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः शिक्षा-प्रशासन में यथानुसार परिवर्तन करना अति आवश्यक है। इसीलिए वर्तमान शाला या शिक्षा-प्रशासक को अपनी शिक्षा-योजनाओं में सहयोगी कार्यों की व्यवस्था तथा नियंत्रण के लिए अधिक सचेष्ट रहना पड़ता है।

(६) निर्देशन तथा मूल्यांकन को अधिक महत्व

अनेक विद्वान शिक्षा-प्रशासन को निर्देशन के रूप में ही मान्यता देते हैं। शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं का आवश्यकता तथा समयानुसार निर्देशन करना शिक्षा के विकास तथा उन्नति के लिए आवश्यक माना जाने लगा है। शिक्षा-प्रशासक शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता, रुचियाँ, व्यवहार आदि जानने के लिए निर्देशन विधियों का उपयोग कर सकते हैं। तथ्य जानने के अतिरिक्त सुधारात्मक कार्यों के लिए भी निर्देशन कार्यक्रमों का उपयोग किया जा सकता है। निर्देशन के कार्यक्रमों तथा गतिविधियों का उचित मूल्यांकन का कार्य भी शिक्षा-प्रशासक करते हैं। इसके अन्तर्गत फालो-अप गतिविधियाँ भी आ जाती हैं जो यह प्रदर्शित करती हैं कि निर्देशन कार्यक्रम कितना प्रभावी रहा है।

निर्देशन के मूल्यांकन के अतिरिक्त सम्पूर्ण शैक्षणिक संगठन तथा कार्यक्रम का मूल्यांकन भी शिक्षा-प्रशासन का एक जटिल तथा महत्वपूर्ण कार्य है। शिक्षा-प्रशासन की गतिविधियों का मूल्यांकन पालकों, समाज के सदस्यों, अन्य उच्च शिक्षाधिकारियों को यह बतलाता है कि शिक्षा-प्रशासनीय कार्यक्रम तथा संगठन कितना प्रभावी, सफल तथा उपयोगी रहा है। अतः शिक्षा-प्रशासन में उचित मूल्यांकन की प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं।

---

[1] Edmonson, Roemer & Bacon, *The Administration of the Modern Secondary School,* Macmillan & Co. New York, 1953, p. 586.

शिक्षा-प्रशासन का मूल्यांकन निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया जाता है :

(१) कार्य-अवधि के उपरान्त निर्णय लेने का आधार निर्मित करने के लिए;
(२) विनाशकारी स्थिति से बचाव तथा कठिनाइयों को जानने के लिए;
(३) प्रशासकीय गतिविधियों को अधिक प्रभावी, लगातार तथा उन्नत रूप में चलाने के लिए;
(४) शिक्षा-पद्धति के विकास के लिए शिक्षकों, शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्ताओं तथा नागरिकों की क्षमताओं का विकास करने के लिए; तथा
(५) शिक्षा-समस्याओं के हल के लिए नवीन उपायों के परीक्षण तथा नवीन प्रयोगों के प्रोत्साहन के लिए।

शिक्षा-प्रशासन का सीमित या बृहत् क्षेत्र में, लगातार, निश्चित समयावधि में या कभी भी मूल्यांकन किया जाता है। यह आंतरिक, बाह्य या सहयोगी—किसी भी प्रकार का हो सकता है। शिक्षा-प्रशासकीय मूल्यांकन उद्देश्यों के आधारों पर स्थिति बतलाने वाला, कारणों का ज्ञान कराने वाला या क्रियान्विति से भी संबंधित हो सकता है।

शिक्षा-प्रशासन के मूल्यांकन के उपयोगी तथा सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि यह निश्चित उद्देश्यों पर आधारित हो, विश्वसनीय हो, प्रमाणिक हो, विस्तृत हो, लगातार किया जाये, सहयोगी हो तथा एक निश्चित चित्र प्रस्तुत करने वाला हो।

शिक्षा-प्रशासन के मूल्यांकन के संबंध में ये समस्याएँ हैं—यह मूल्यांकन कौन करे ? मूल्यांकन में शिक्षा-परिषद या शिक्षा-क्षेत्र के बड़े अधिकारी एवं शिक्षा-सलाहकारों की क्या स्थिति हो ? क्या सर्वेक्षण तथा सहयोगी अध्ययन दोनों कराये जायें ?

(७) शिक्षा-प्रशासन लोकतंत्रीय अधिक होता जा रहा है

शिक्षा-प्रशासन का सम्पूर्ण रूप से निरंकुश या लोकतंत्रीय होना तो बहुत कठिन है। फिर भी लोकतंत्रीय देशों में शिक्षा-प्रशासन के लोकतंत्रीय होने की प्रवृत्तियाँ अधिक सबल तथा विकसित हैं। अतः इन देशों के लोकतंत्रीय शिक्षा-प्रशासन में निम्नलिखित तत्व स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं।

(१) शिक्षा-क्षेत्र के सदस्यों का नीति-निर्धारण में अधिकाधिक सहयोग लेना;
(२) समूह के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य की रचनात्मकता, उत्पादकता तथा सन्तोष विकसित कर सम्पूर्ण समूह का स्तर उच्च बनाना;
(३) शिक्षा-क्षेत्र के सभी व्यक्तियों का समुचित आदर करना;
(४) शिक्षा-क्षेत्र के सदस्यों द्वारा अपने प्रशासकीय अधिकारी या नेता को ग्रहण करना या अपनाना; तथा
(५) शिक्षा-प्रशासक द्वारा विचार-विनिमय के रास्तों तथा विधियों को स्वतंत्र रखना।

उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट होता है कि शिक्षा-प्रशासन में सहयोगी भावना, कार्य तथा

विचार-स्वातंत्र्य, व्यक्तियों का उचित आदर आदि सभी तत्वों के समावेश करने की प्रवृत्तियाँ अधिक सजगता तथा तत्परता से विकसित हो रही हैं।

वर्तमान शिक्षा-प्रशासन के दोष

आजकल भारतीय शिक्षा का काफी विकास हो रहा है। परन्तु शिक्षा-विकास के साथ साथ यह भी जहाँ-तहाँ सुनने में आता रहता है कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है, शिक्षा की व्यवस्था जैसी होना चाहिये वैसी नहीं है, शिक्षा-क्षेत्र में शिथिलता, भ्रष्टाचार, घूसखोरी आदि का आधिक्य है। परीक्षा में कमजोर छात्र पास हो जाते हैं। किसी भी शिक्षा-कार्यालय में कोई अर्जी या कागज भेजा जाता है तो उसका कोई उत्तर बिना व्यक्तिगत रूप से वहाँ गये मिलता ही नहीं है। इन सभी बातों से पता चलता है कि शिक्षा-प्रशासन में कहीं दोष अवश्य हैं। इन दोषों में से निम्नलिखित दोष प्रमुख हैं।

(१) सहयोग तथा एकीकरण का अभाव

शिक्षा-प्रशासन शिक्षा-क्षेत्र के कार्यकर्ताओं तथा विभिन्न संस्थाओं में उपयुक्त सहयोग स्थापित करने में सफल नहीं हो रहा है। यही कारण है कि विभिन्न शिक्षण-संस्थाएँ तथा कार्यकर्त्ता अलग-अलग एक दूसरे के बिना सहयोग किये कार्यरत रहते हैं। इससे अनेक प्रक्रियाओं की अनावश्यक आवृत्ति होती तथा समय, धन और जन-शक्ति का अपव्यय होता है। फलस्वरूप शिक्षा के लक्ष्यों की पूर्ति नहीं हो पाती है।

इतना ही नहीं शिक्षा-प्रशासन के विभिन्न विभागों में भी आपसी सहयोग दिखाई नहीं देता है। शिक्षा-प्रशासन भी मानव-शरीर के समान है जिसके सभी अंग एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं तथा सहयोग से कार्य करते हैं। शिक्षा-प्रशासन को भी मानव-शरीर की भाँति अपने अन्य विभागों तथा क्षेत्रों के सहयोग से कार्य करना चाहिये।

(२) उत्तरदायित्व की भावना का अभाव

शिक्षा-प्रशासन के पदाधिकारियों में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव भी पाया जाता है। उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य न करने के कारण ही शिक्षा-कर्मचारी आज का कार्य कल पर टाल देते हैं। इतना ही नहीं, शिक्षा-कर्मचारी अपने को जनता के प्रति उत्तरदायी भी नहीं समझते हैं। जहाँ-तहाँ से ऐसी खबरें समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं जिनसे पता चलता है कि लोकमत का निरादर किया जा रहा है। अतः शिक्षा-प्रशासन को उन्नत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि कर्मचारीगण तथा शिक्षक अपना कार्य उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से करें तथा जनता की भावनाओं का ध्यान भी रखें।

(३) घूसखोरी तथा भ्रष्टाचार

भारत में शिक्षा के क्षेत्र में क्या, सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी दिखाई देती है। नागरिकों के परस्पर व्यवहार, प्रशासकीय कार्यालय, व्यापार,

शिक्षण-संस्थाओं सभी में ये दुर्गुण दिखाई देते हैं। इसके लिए प्रशासकीय अधिकारी तो उत्तरदायी हैं ही, जनता का भी यह कर्तव्य है कि वह बेईमान, भ्रष्टाचारी तथा घूसखोर कर्मचारियों का पता लगाने में प्रशासन को आवश्यक सहयोग प्रदान करे। जनता यदि स्वयं ही घूस न दे तथा प्रशासकीय अधिकारी यदि प्रतिकूल स्थितियाँ विकसित करें तो जनता अपनी आवाज बुलन्द कर भ्रष्ट अधिकारियों को सही रास्ते पर ला सकती है।

शिक्षा-कार्यालयों में कार्याधिक्य भी भ्रष्टाचार की वृद्धि का कारण है। शिक्षा-प्रशासनीय अधिकारियों को अपने कार्यालय में कार्य की ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि जिससे भ्रष्ट तरीकों के उपयोग की सम्भावनाएँ कम ही रहें।

(४) योजनाओं तथा प्रशासनीय गतिविधियों को गुप्त रखने की कमी

शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र इतना विस्तृत तथा उसमें इतनी विविधता है कि बिना उत्तम योजनाओं का निर्माण किये कार्य ठीक से चल ही नहीं सकता है। शिक्षण संबंधी योजनाओं का तो सभी में प्रचार और प्रसार आवश्यक है। परन्तु अनेक प्रशासकीय बातें, जैसे—तबादले, नियुक्तियाँ, उपकरणों की खरीद, प्रशिक्षण में भरती आदि, ऐसी हैं जिन्हें कार्यालय के कर्मचारी अनावश्यक रूप से पहले ही बतला देते हैं। इतना ही नहीं कार्यालय की अनेक गुप्त बातों का भी संबंधित तथा अन्य लोगों को पता चल जाता है। फलस्वरूप अनेक प्रशासकीय कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। चाणक्य ने प्रशासन के एक गुण का वर्णन करते हुए कहा है "मनसा चिन्तितं कर्म वचसा न प्रकाश्येता" अर्थात् हृदय की बात को बातों तथा अपने कार्यों द्वारा प्रकट न करना चाहिये। आजकल शिक्षा-प्रशासन के अनेक क्षेत्रों में इस गुण का अभाव दिखाई देता है।

(५) प्रशासन में पर्याप्त चुस्ती न होना

स्वतंत्रता के उपरान्त भी भारतीय प्रशासन तथा शिक्षण-प्रशासन के इस अवगुण को दूर करने में सफलता नहीं मिली है। लाल फीते वाली फाइलें अभी भी बल्कि और भी तेजी से वैसे ही चलती हैं। फलस्वरूप शिक्षा-प्रशासन में ढिलाई तथा शिथिलता आ गयी है। शिक्षा-प्रशासक अब शालाओं तथा अधीनस्थ कार्यालयों के कार्यों का निरीक्षण तो करते ही नहीं हैं, वे ऊपरी बातों में फँसे रहते हैं। फलस्वरूप शालाओं को जो नेतृत्व मिलना चाहिये था, वह नहीं मिल पाता है। इसका परिणाम यह है कि शालाओं तथा कार्यालयों में कार्य चुस्ती से नहीं चलता है। अतः यह आवश्यक है कि शालाओं तथा अधीनस्थ कार्यालयों के कार्य का समुचित निरीक्षण किया जाये।

(६) योग्य प्रशासकीय अधिकारियों का अभाव

शिक्षा के क्षेत्र में भारत में अभी ऐसी उपयुक्त विधियों का विकास नहीं किया गया है जिनसे उपयुक्त प्रशासकीय अधिकारियों का चुनाव किया जा सके। फलस्वरूप उच्च

अधिकारी इच्छानुसार नौकरी की अवधि, जान-पहचान आदि के आधार पर अपने अधीनस्थ प्रशासकीय कर्मचारियों को नियुक्त करते हैं। यही कारण है कि अनेक प्रशासकीय अधिकारियों में अपेक्षित योग्यताओं का अभाव रहता है तथा कार्य ठीक से नहीं चल पाता है। शिक्षा-प्रशासकीय अधिकारियों की योग्यता के विकास के लिए अल्पकालिक तथा दीर्घकालिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करना आवश्यक है। समय-समय पर गोष्ठियों का आयोजन कर भी इनकी योग्यताओं का विकास किया जा सकता है।

खण्ड ब

शिक्षा-पर्यवेक्षण

विद्यालयीन शिक्षा तक समन्वित करने में भी शिक्षा-पर्यवेक्षण का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिक्षा की अवधि में वृद्धि के कारण भी शिक्षा-पर्यवेक्षण अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। शिक्षा-पर्यवेक्षण शिक्षा के क्षेत्र में मानवीय तथा भौतिक साधनों के अपव्यय को कम करने में सहायक होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण पाठ्यक्रम में अनावश्यक आवृत्ति तथा शिक्षण-प्रक्रिया में अनावश्यक पुनरावृत्ति को कम करता है एवं शिक्षा के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर जाने के लिए तारतम्यता की वृद्धि करता है। इसी दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रभावी तथा सक्रिय कार्यक्रम, शिक्षा को प्रभावी तथा समन्वित करने के लिए अति आवश्यक तथा महत्वपूर्ण हैं।

शिक्षा-पर्यवेक्षण का अर्थ

Dictionary of Education[१] में पर्यवेक्षण के २३ प्रकारों का उल्लेख किया गया है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि पर्यवेक्षण कितने प्रकार का है, जैसे—निरंकुश पर्यवेक्षण, सहयोगी पर्यवेक्षण, समन्वयात्मक पर्यवेक्षण, रचनात्मक पर्यवेक्षण, राज्य-शाला-पर्यवेक्षण, राज्य-रेडियो-पर्यवेक्षण, लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण आदि। इस शब्द-कोश में पर्यवेक्षण का अर्थ भी दिया गया है। इससे यह पता चलता है कि पर्यवेक्षण शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत सभी कर्मचारियों तथा शिक्षकों को नेतृत्व प्रदान करने संबंधी सभी प्रयास, शिक्षकों के विकास तथा व्यावसायिक उन्नति के लिए उत्प्रेरणा, शिक्षण-उद्देश्य, शिक्षण-सामग्री, शिक्षण-विधि, मूल्यांकन आदि का चुनाव तथा सुधार है। शिक्षा-पर्यवेक्षण का यह अर्थ हमेशा मान्य नहीं किया जाता रहा है।

शाला का कार्य शिक्षण-प्रक्रिया को व्यवस्थित रखना है। आदर्श-शिक्षण व्यावसायिक तो होगा ही साथ ही साथ उसे कलात्मक, सामाजिक दृष्टि से उपयोगी तथा व्यक्तिगत रूप से आनन्ददायक भी होना चाहिये। शिक्षा-पर्यवेक्षण के संबंध में विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख नीचे किया गया है।

(१) वर्टन महोदय का विचार है कि "शिक्षा-पर्यवेक्षण का उद्देश्य शिक्षण में उन्नति करना है।"[२]

(२) "पर्यवेक्षण एक आधार है जिस पर, शिक्षण में उन्नति के सभी कार्यक्रम बनाये जाने चाहिये।"[३]

(३) "पर्यवेक्षण एक कुशल तकनीकी सेवा है जिसका प्रमुख ध्येय उन अवस्थाओं का अध्ययन एवं उन्नति करना है जो सीखने और बाल-विकास के आसपास रहती हैं।"[४]

---

[1] Carter, V. Good (ed.), *Dictionary of Education* McGraw Hill Book Co., New York, 1945.

[2] W. H. Burton, *Supervision and the Improvement of Instruction*, Appleton Century Crofts, New York, 1922, p. 10.

[3] Barr, A. S. & Burton, W. H., *Supervision of Instruction*, Appleton Century Crofts, New York, 1926, p. 1.

[4] Earr, Burton & Brueckner, *Supervision*, Appleton Century Crofts, New York, 1947, p. 11.

(४) "पर्यवेक्षण एक एसी सेवा-गतिविधि है जो शिक्षकों को अपना कार्य अच्छे ढंग से करने में सहायता देती है।"[१]

(५) "पर्यवेक्षण करने का अर्थ शिक्षकों के विकास का समन्वय, उत्प्रेरण तथा निर्देशन है।"[२]

(६) "पर्यवेक्षण शिक्षण की उन्नति के लिए एक सुनियोजित कार्यक्रम है।"[३]

(७) "पर्यवेक्षण उन गतिविधियों का वर्णन करता है जिनका सीधा तथा प्रमुख संबंध उन अवस्थाओं का अध्ययन तथा उन्नति करना है जो शिक्षकों तथा बालकों को घेरे रहती हैं।"[४]

(८) "उत्तम पर्यवेक्षण, व्यक्तिगत तथा सामान्य समस्याओं के हल के लिए व्यक्तियों की ऊर्जा को रचनात्मक विधियों में संलग्न करने की एक प्रक्रिया है।"[५]

(९) "पर्यवेक्षण उन व्यक्तियों के शिक्षण में उन्नति लाने के लिए एक प्रक्रिया है जो बालकों के साथ कार्य करते हैं। पर्यवेक्षण, शिक्षकों को अपनी सहायता स्वयं करने के लिए एक साधन, तथा उत्प्रेरक विकास की एक प्रक्रिया है। पर्यवेक्षण-कार्यक्रम, एक शैक्षणिक विकास है।"[६]

शिक्षा-पर्यवेक्षण की इन उपर्युक्त परिभाषाओं में उत्प्रेरक विकास, शिक्षकों की सहायक प्रकिया, शिक्षण-सुधार तथा विकास, शिक्षण में सहायता, शिक्षकों की शक्ति को विकसित करना, शिक्षकों की समस्याओं का हल, सीखने की स्थितियों का मूल्यांकन आदि के रूप तथा अर्थ में ही शिक्षा-पर्यवेक्षग को मान्य किया गया है। अमेरिका के राष्ट्रीय शिक्षा-संगठन (N.E.A.) के प्राथमिक शाला-प्राचार्यों के विभाग ने शिक्षा-पर्यवेक्षण को (१) शिक्षण की कुशलता तथा बच्चों की आवश्यकताओं का ज्ञान करने हेतु सीखने की स्थितियों का मूल्यांकन, (२) शिक्षकों के शिक्षण-सुधार, बच्चों की जाँच तथा उनके मापन, सहायक सामग्री के निर्माण में सहायक प्राविधिक सेवा, (३) पाठ्यक्रम-सुधार तथा निर्माण के लिए शोध, एवं (४) शिक्षकों का व्यावसायिक नेतृत्व एवं सहयोग, माना है।

---

[1] Wiles Kimball, *Supervision for Better Schools*, Prentice Hall Inc., New York, 1950, p. 3.

[2] Briggs & Justman, *Improving Instruction through Supervision*, Macmillan & Co., New York, 1952, p. 4.

[3] Adams & Dickey, *Basic Principles of Supervision*, American Book Co., 1953.

[4] Moorer, Sam A., *Supervision: The Keystone to Educational Progress*, Tallahassee: Florida State Dept. of Education, 1952, p. 1.

[5] Franseth Jam, *Learning to Supervise Schools*, Federal Security Agency, U. S. Office of Edn., Washington, D. C., Circular No. 289, p. 3.

[6] Texas Education Agency, Work Conference on Educational Leadership and Supervision, Austin Agency, 1949, p. 49.

अमेरिका के प्राथमिक शाला-प्राचार्यों के विभाग द्वारा विकसित शिक्षा-पर्यवेक्षण की परिभाषा में शिक्षा-पर्यवेक्षण के सभी प्रमुख पक्षों का समावेश हो जाता है। वर्तमान में शिक्षा-पर्यवेक्षण का यही अर्थ मान्य किया जाता है। वास्तव में उत्तम तथा प्रभावी शिक्षा-पर्यवेक्षण, शिक्षकों को बालकों को समझने, शिक्षण-सामग्री का विकास करने, पाठ्यक्रम सुधारने, व्यावसायिक नेतृत्व तथा सहयोग प्रदान करने वाला होना चाहिये। इस रूप में शिक्षा-पर्यवेक्षण की निम्नलिखित परिभाषा की जा सकती है।

"शिक्षा-पर्यवेक्षण वह प्राविधिक सेवा है जो शिक्षकों को अपनी व्यावसायिक कुशलता वृद्धि के लिए उचित व्यावसायिक नेतृत्व तथा सहयोग प्रदान करती है, शिक्षण-स्तर को उच्च बनाने हेतु उन्हें पाठ्यक्रम-सुधार के साधनों से परिचित कराती है, एवं अपने छात्रों को और अच्छी तरह समझने, शिक्षण-सामग्री निर्माण करने, शिक्षण-विधियों का विकास करने, उचित मूल्यांकन-विधियों का उपयोग करने आदि के कौशल-विकास में सहायक होती है। इस दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण एक लोकतंत्रीय तथा सहयोगी प्रक्रिया है जिसमें शिक्षण-स्तर को उच्च बनाने हेतु शिक्षक, पर्यवेक्षण तथा बालक सभी हिल-मिल कर कार्य करते हैं।"

शिक्षा-पर्यवेक्षण के लोकतंत्रीय स्वरूप में बार, बर्टन तथा ब्रुकनेर ने शिक्षा-पर्यवेक्षण को एक नेतृत्व माना है जो अपने समूह में सहयोगी ढंग से नेतृत्व विकसित करता है। इस प्रकार का नेतृत्व (१) शैक्षणिक उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन उनकी पृष्ठभूमि में करता है, (२) शिक्षण-स्थितियों को निश्चित करता है जिससे बालक के उचित विकास का ज्ञान हो सके, (३) शिक्षण तथा सीखने की स्थितियों की उन्नति करता है, तथा (४) उद्देश्यों, शिक्षण-विधियों तथा पर्यवेक्षण की उपलब्धियों का मूल्यांकन करता है। ब्रिग्स तथा जस्टमेन के अनुसार शिक्षा-पर्यवेक्षण, उद्देश्य-आधारित है। उन्होंने शिक्षण तथा पर्य-वेक्षण के उद्देश्यों के आधार पर शिक्षा-पर्यवेक्षण का स्वरूप विकसित किया है।

आजकल शिक्षा-पर्यवेक्षण को मानवीय संबंधों के रूप में मान्यता देने की प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। मानवीय संबंधों को बल देने वाला शिक्षा-पर्यवेक्षण, भावनात्मक वातावरण निर्माण पर अधिक बल देता है। इस भावनात्मक वातावरण में शिक्षकगण आनन्द तथा प्रभावी ढंग से कार्यरत रहते हैं। वाइल्स किम्बॉल ने इस प्रकार के शिक्षा-पर्यवेक्षण को उपयोगी माना है। जेन फ्रेन्सेथ ने भी इस प्रकार के शिक्षा-पर्यवेक्षण के संबंध में विवेचना करते हुए लिखा है "Supervision should contribute to the educational program in such a way that the quality of living will be improved because of it."[1] इस प्रकार शिक्षा-पर्यवेक्षण ऐसा होना चाहिये जिससे शैक्षणिक कार्यक्रम जीवन-स्तर को उच्च बनाये।

---

[1] Jane Franseth, *Learning to Improve Schools*, Federal Security Agency, Office of Education, Washington, D. C., 1952, p. 1.

व्यावहारिक पर्यवेक्षण के क्षेत्र की विवेचना के आधार पर भी शिक्षा-पर्यवेक्षण के अर्थ को स्पष्ट करने के प्रयास किये गये हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण के व्यावहारिक स्वरूप के संबंध में शिक्षा-पर्यवेक्षकों के कार्य, विधियों, शिक्षकों तथा प्रशासकों की राय आदि के आधार पर शिक्षा-पर्यवेक्षण का अर्थ निश्चित किया गया जिससे ज्ञात होता है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्य (१) वर्तमान शैक्षणिक कार्यक्रम का संरक्षण करना, तथा (२) इस कार्यक्रम में उचित विकास एवं उन्नति करना भी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का कोई एक अर्थ निश्चित करना कठिन है। परन्तु एक तथ्य इन सभी प्रकार की विभिन्न परिभाषाओं में विद्यमान है—शिक्षण में उन्नति करना। शिक्षा-पर्यवेक्षण के अन्तर्गत शिक्षण के सभी पक्ष सम्मिलित हैं तथा शिक्षण के सभी क्षेत्रों में विकास करने तथा शिक्षा से संबंधित सभी व्यक्तियों के विकास से शिक्षा-पर्यवेक्षण का संबंध रहता है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण के उद्देश्य

शिक्षा-पर्यवेक्षण का क्षेत्र शिक्षा के समान ही अत्यन्त विस्तृत है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण के उद्देश्य भी अधिक हैं। इन सभी उद्देश्यों की चर्चा यहाँ तो नहीं की जा सकती है परन्तु प्रमुख उद्देश्यों पर विचार करना उपयुक्त होगा। शिक्षा-पर्यवेक्षण के उद्देश्यों के आधार पर संगठित करने के लिए ब्रिग्स तथा जस्टमेन ने बहुत बल दिया है। इन्होंने शिक्षा-पर्यवेक्षण के उद्देश्यों की विवेचना की है। इस विवेचना से शिक्षा पर्यवेक्षण के उद्देश्यों के संबंध में निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं :

(१) शिक्षा के उद्देश्यों, उपलब्धियों आदि को अधिक स्पष्टता से समझने में शिक्षकों की सहायता करना।

(२) शिक्षकों को शाला के छात्रों की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से सुपरिचित कराना। साथ ही साथ इन आवश्यकताओं की पूर्ति तथा समस्याओं को हल करने हेतु शिक्षकों में आवश्यक कौशलों का विकास करना।

(३) शिक्षकों को प्रभावी तथा सहयोगी समूह में सुसंगठित करना जिससे वे हिल-मिल कर अपने शिक्षण-उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकें।

(४) शिक्षकों की शिक्षण-क्षमता और कौशल में समुचित विकास करना।

(५) शिक्षकों को शिक्षण तथा बाल-विकास की नवीन विधियों से परिचित कराना।

(६) सीखने की प्रक्रिया में आने वाली बालकों की कठिनाइयों का, शिक्षकों को ज्ञान कराना तथा बालकों को अधिक सुगमता से सिखाने की विधियों से परिचित कराना। शिक्षकों को बालकों की कठिनाइयाँ हल करने के योग्य बनाना।

(७) शिक्षकों की योग्यताओं तथा क्षमताओं का ज्ञान करके उन्हें उसी प्रकार के कार्य सौंपना।

(८) शिक्षकों को सतत् उन्नति करते रहने की प्रेरणा देना।

(९) नवीन शिक्षकों को शाला के कार्यों से परिचित कराना तथा उन्हें शाला-वातावरण में ठीक से व्यवस्थित एवं समंजित होने में आवश्यक सहायता देना।

(१०) शिक्षकों, शाला तथा समाज के संबंधों के विकास में सहायक होना।

(११) समस्यात्मक छात्रों की समस्याओं को समझने, उन्हें हल करने तथा अन्य सुधारात्मक कार्य करने की प्रेरणा शिक्षकों को देना।

(१२) शाला तथा उनके कर्मचारियों को समाज में हो रही अनुचित आलोचना से बचाना।

(१३) शाला की समस्याओं के हल हेतु समाज को प्रेरणा देना।

(१४) निश्चित किये गये आदर्शों तथा उद्देश्यों तक छात्रों के विकास की पृष्ठभूमि में, शिक्षकों का उचित मूल्यांकन करना।

उपर्युक्त दर्शाये गये उद्देश्यों से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का उद्देश्य शिक्षण के सभी क्षेत्रों में समुचित उन्नति करने हेतु शिक्षकों के कौशल की वृद्धि करना है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का उद्देश्य शिक्षा-क्षेत्र में कार्यरत सभी व्यक्तियों की शैक्षणिक गतिविधियों को प्रभावी तथा समुचित बनाने की योजनाओं का विकास करना है, जिससे वे अपनी रचनात्मक क्षमताओं तथा मौलिकता का समुचित उपयोग कर सकें।

अध्याय १५

शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्त

शिक्षा-पर्यवेक्षण के महत्व को अब बहुत अधिक स्वीकार किया जाने लगा है। अतः स्वाभाविक ही है कि इसके सिद्धान्तों को भी मान्यता मिलती जा रही है। हार्पर महोदय का कथन है—"पर्यवेक्षण एक कला है, इसे निश्चित सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर ही कार्यान्वित किया जा सकता है। पर्यवेक्षण की सफलता के निमित्त, शिक्षकों तथा बालकों को पर्यवेक्षण के मुख्य सिद्धान्तों से अवगत कराना आवश्यक है।" शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्त प्रारम्भ में सामान्य तथ्यों तथा कथनों के आधार पर ही संगठित एवं विकसित किये गये थे। उस समय पर्यवेक्षण तथा निरीक्षण में अन्तर नहीं माना जाता था। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में शिक्षा-पर्यवेक्षण में रुचि लेने वाले सभी विद्वानों ने इसके सिद्धान्तों के विकास पर बल दिया। इनमें से बार तथा बर्टन (१६२६), अेयर तथा बार (१६२८), केट (Kyte) (१६३०), पर्यवेक्षक तथा शिक्षा संचालकों का विभाग (१६३०), अधीक्षकों का विभाग (१६३०), जिस्ट (१६३४), फास्टर (१६३६) तथा लेविस और लेप्स (१६४६) आदि ने शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का स्वरूप प्रस्तुत किया। इन सभी विद्वानों ने शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों के विकास पर बल दिया तथा यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इनमें से किन विद्वानों के द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों ने शिक्षा-पर्यवेक्षण को अधिक प्रभावित किया है।

सन् १६३० में अमेरिका के पर्यवेक्षक तथा शिक्षा संचालक विभाग ने शिक्षा-पर्यवेक्षण तथा नेतृत्व के निम्नलिखित सिद्धान्त निरूपित किये—(१) दार्शनिक (२) रचनात्मक (३) सहकारी (४) वैज्ञानिक, तथा (५) प्रभावपूर्ण। इसके बाद जिन विद्वानों ने भी शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों की विवेचना की है या शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का विकास किया है, उन्होंने पर्यवेक्षक तथा शिक्षा-संचालक विभाग द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों को आधारभूत माना है। इतना ही नहीं सभी ने अपने सिद्धान्तों को इन्हीं के आधार पर विकसित किया है। **बार, बर्टन तथा ब्रुकनेर** ने सन् १६३८ में शिक्षा-पर्यवेक्षण के निम्नलिखित सिद्धान्तों का विकास किया :[1]

---

[1] Barr, Burton & Brueckner, *Supervision*, Appleton Century Crofts, New York, 1947, pp. 71-72.

(१) पर्यवेक्षण सैद्धान्तिक रूप से ठोस हो

(अ) पर्यवेक्षण उच्चतम मूल्यों, उद्देश्यों तथा नीतियों के प्रति सजग हो; विशेषतः औचित्य के दृष्टिकोण से ।

(ब) सत्यता की दृष्टि से पर्यवेक्षण यथार्थता तथा नियम के प्रति सजग रहे ।

(स) पर्यवेक्षण विश्व के विकासवादी विचार के प्रति सजग हो जिससे वस्तुओं तथा विधियों का, परिवर्तित हो रहे मूल्यों, उद्देश्यों तथा नीतियों की पृष्ठ-भूमि में पुनर्मूल्यांकन हो सके ।

(२) पर्यवेक्षण वैज्ञानिक हो

(अ) अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाली वस्तुओं की गतिविधियों के अध्ययन करने, उन्नत करने तथा मूल्यांकन करने के लिए व्यवस्थित, विवेकपूर्ग तथा क्रमबद्ध विधियों का उपयोग किया जाये। अपने स्वयं के अध्ययन के लिए भी इन्हीं विधियों का उपयोग किया जाय ।

(ब) पर्यवेक्षण में वस्तुनिष्ठ, अधिक दक्षतापूर्ण, अधिक विधिवत तथा व्यवस्थित विधियों का उपयोग किया जाये ।

(३) पर्यवेक्षण लोकतंत्रीय हो

(अ) पर्यवेक्षण व्यक्तित्व का आदर तथा विभिन्न ओं का आदर करे तथा प्रत्येक के उच्चतम विकास के प्रयास करे ।

(ब) पर्यवेक्षण सभी को सहयोग देने तथा आमंत्रित कर सहभागी होने के अधिकतम अवसर प्रदान करे।

(स) पर्यवेक्षण जहाँ तथा जैसे भी सम्भव हो प्रभुत्व के स्थान में नेतृत्व को काम में लाये । प्रभुत्व जहाँ आवश्यक हो, समूह-नियोजना से उद्भूत हो तथा समूह के कल्याण के लिए ही प्रयुक्त हो ।

(४) पर्यवेक्षण रचनात्मक हो

(अ) पर्यवेक्षण अन्तर्निहित शक्तियों का बोध करानेवाला हो। इसे मौलिकता के उपयोग तथा विलक्षण सहयोग के विकास के अवसरों को प्रदान करना चाहिये ।

(ब) पर्यवेक्षण वातावरण को निर्मित कर स्वरूप देनेवाला होना चाहिये ।

इन सिद्धान्तों के विकास के अतिरिक्त अनेक शिक्षाविदों ने शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों के महत्व को प्रतिपादित किया है । इनमें मोलमैन (Mehlman), मोर्ट, सीयर्स, पिटनगर, मिलर, स्वार्लिङग, रोरर आदि प्रमुख हैं । शिक्षा-प्रशासन में रुचि लेने वाले अनेक विद्वान

शिक्षा-पर्यवेक्षण को वित्त-पर्यवेक्षण, शाला-भवन-पर्यवेक्षण आदि के समान पर्यवेक्षण का एक भेद ही मानते हैं। पिटनगर महोदय का कथन है—"पर्यवेक्षण अनेक प्रकार का होता है जिसमें शिक्षण से संबंधित पर्यवेक्षण भी सम्मिलित है तथा प्रशासन इन सभी से संबंधित है।"[1]

रोरर ने पर्यवेक्षण तथा प्रशासन के संबंधों के आधार पर शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का विस्तृत विकास किया तथा इन्हें निम्नानुसार सामान्य शीर्षकों में श्रेणी बद्ध भी किया :

(१) पर्यवेक्षण प्रशासन का एक कार्य है तथा इसके अधीन भी।
(२) प्रशासन पर्यवेक्षण के अन्तर्गत है।
(३) पर्यवेक्षण तथा प्रशासन दो विभिन्न तथा अलग कार्य हैं।
(४) पर्यवेक्षण तथा प्रशासन शिक्षा के संबंधित, समन्वित पूरक कार्य हैं।

रोरर ने लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण पर डाक्ट्रेट के लिए शोध-कार्य किया जो सन् १९४२ में प्रकाशित हुआ। इसमें उसने शिक्षा-पर्यवेक्षण के अनेक सिद्धान्तों को श्रेणीबद्ध किया है जो निम्नानुार हैं :

(१) पर्यवेक्षण के स्वरूप संबंधी सिद्धान्त

(अ) पर्यवेक्षण का प्रशासन से संबंध।
(ब) पर्यवेक्षण एक प्रकार का शिक्षण।
(स) पर्यवेक्षण में सामाजिक सिद्धान्त का समावेश।
(द) पर्यवेक्षण का वैज्ञानिक पक्ष।
(इ) पर्यवेक्षण का रचनात्मक पक्ष।
(उ) पर्यवेक्षण का दार्शनिक पक्ष।
(ऊ) पर्यवेक्षण का व्यावसायिक पक्ष।

(२) पर्यवेक्षण के उद्देश्य से संबंधित सिद्धान्त

(अ) पर्यवेक्षण तथा छात्र-विकास।
(ब) पर्यवेक्षण तथा शिक्षक-विकास।
(स) पर्यवेक्षण तथा स्टाफ को सहायता।
(द) पर्यवेक्षण तथा शिक्षण की सीधी उन्नति।
(इ) पर्यवेक्षण तथा वातावरण की रचना।
(उ) पर्यवेक्षण तथा शैक्षणिक प्रयासों का समन्वय।
(ऊ) पर्यवेक्षण तथा नैतिक उत्थान।
(क) पर्यवेक्षण तथा प्रशासनीय नीति।

---

[1] Pittenger, B.F., *Local Public School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 195, p. 182.

(३) **पर्यवेक्षण की व्यवस्था संबंधी सिद्धान्त**

(अ) बाह्य व्यवस्था

(१) उत्तरदायित्व का केन्द्रीकरण।

(२) प्रभुत्व के क्रम का निर्धारण।

(३) प्रभुत्व सौंपना।

(४) निश्चित कार्य-वितरण तथा कर्तव्यों की जाँच।

(ब) आन्तरिक व्यवस्था

(१) सहयोग की सुविधा।

(२) क्रियान्वय का लचीलापन।

(३) शैक्षणिक उपलब्धियों का समन्वय।

(४) प्रक्रिया तथा भावना में लोकतंत्र।

(४) **पर्यवेक्षण-प्रक्रिया या विधि संबंधी सिद्धान्त**

(१) पर्यवेक्षण-नियोजन संबंधी सिद्धान्त।

(२) पर्यवेक्षण-नियोजनाओं के क्रियान्वय संबंधी सिद्धान्त।

(३) पर्यवेक्षण के मूल्यांकन संबंधी सिद्धान्त।

रोरर के द्वारा विकसित उपर्युक्त सिद्धान्तों की ओर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि रोरर ने पर्यवेक्षण के स्वरूप, उद्देश्यों, व्यवस्था, तथा विधि सभी पक्षों के संबंध में समुचित सिद्धान्त विकसित किये हैं।

पेकहम ने भी सन् १९४८ में पर्यवेक्षण के गहन एवं विस्तृत अध्ययन के आधार पर अनेक सिद्धान्तों का विकास किया जो निम्न क्षेत्रों से संबंधित हैं—(१) सहयोग (२) नेतृत्व (३) नियोजना (४) समन्वय (५) रचनात्मकता (६) लचीलापन (७) सहानुभूति (८) सामुदायिक पुनर्गठन (९) वस्तुनिष्ठता (१०) मूल्यांकन। पेकहम ने इन सभी क्षेत्रों के लिए आवश्यक अलग अलग ज्ञान, कर्त्तव्य, प्रशासनीय अभ्यास तथा कार्यविधियाँ भी व्यवस्थित कीं। रोरर तथा पेकहम के अध्ययनों के निष्कर्ष प्रायः समान ही थे। परन्तु दोनों का पर्यवेक्षण के क्षेत्र में अपना-अपना मौलिक योगदान है। रोरर का प्रमुख उद्देश्य लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण के लिये आधारभूत ठोस दर्शन विकसित करना था। परन्तु पेकहम का उद्देश्य, पर्यवेक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को स्पष्ट करना तथा उन्हें कार्यान्वित करने हेतु महत्वपूर्ण गतिविधियाँ तथा रीतियाँ विकसित करना था।

ब्रिग्स तथा जस्टमैन ने पर्यवेक्षण के तीन प्रमुख सिद्धान्तों—(१) सहकारिता, (२) लचीलापन (३) प्रभावी तथा उत्साहवर्धक--को उपयोगी तथा आवश्यक माना है। उनका विचार है कि इन सिद्धान्तों के अनुसार पर्यवेक्षण-कार्य व्यवस्थित तथा प्रभावी बनाया जा सकता है।

आजकल पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों के उपयोग पर सभी शिक्षा-विद् बल देते हैं। इस प्रकार शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों की महत्ता बढ़ती ही जा रही है। हार्पर महोदय का विचार है कि "पर्यवेक्षण में सतत् नवीन सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा है। अतः व्यवसाय की पुनर्रचना तथा पुनर्विकास के आधार पर ही पर्यवेक्षण करना उचित है। इसी आधार पर अन्वेक्षण तथा मूल्यांकन करना सम्भव है।"

शिक्षा-पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों की कार्यान्विति

शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों की समुचित कार्यान्विति के लिए यह आवश्यक है कि इन सिद्धान्तों तथा रीतियों (Techniques) को समझा जाये तथा इनके आपसी संबंधों पर भी विचार किया जाये। पर्यवेक्षक तथा शिक्षकों के व्यक्तित्व, रुचि-अरुचि आदि का भी प्रभाव इन सिद्धान्तों की कार्यान्विति पर पड़ता है। शैक्षणिक पर्यवेक्षण पर प्रशासनीय नीतियों का भी अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः यह उपयोगी होगा कि पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों पर विचार करने के बाद शिक्षा-पर्यवेक्षण की रीतियों, पर्यवेक्षक तथा शिक्षक की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि तथा प्रशासनीय नीतियों पर भी विचार किया जाये।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-रीतियाँ

शिक्षा-पर्यवेक्षण की रीतियों का आधार सिद्धान्त ही होते हैं। आवश्यकता इस बात की रहती है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों तथा रीतियों को इस प्रकार संबंधित किया जाये कि कार्य सुव्यवस्थित रूप से चले। रीतियाँ व्यावहारिक तथा कार्यान्वयन में सरल होती हैं। अतः अनेक शिक्षा-विद्, शिक्षा-पर्यवेक्षण-रीतियों को सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक उपयोगी समझते हैं। रीति एक विधि ही है जिसकी सहायता से कार्य किया जाता है। यह विधि किसी कार्य की सम्पन्नता के लिये अति आवश्यक रहती है। परन्तु विधि, सिद्धान्त पर ही आधारित होनी चाहिये। प्रायः सभी शिक्षा-विद् जो शिक्षा-पर्यवेक्षण में रुचि रखते हैं, इसमें एक मत हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्त तथा पर्यवेक्षण-रीतियों के मार्गदर्शन करने वाले होने चाहिये। बार, बर्टन तथा ब्रुकनेर का कथन है कि "सिद्धान्त", विचार, आधारभूत सत्य तथा सामान्यतः मान्य सिद्धान्त के मार्गदर्शक हैं जो हमें एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर ले जाने में सहायक होते हैं। ब्रिग्स तथा जस्टमेन के भी प्रायः यही विचार हैं। इनका विचार है कि किसी समस्या का हल, मूलभूत सिद्धान्त तथा उनके उचित क्रियान्वयन पर निर्भर रहता है। रीतियाँ, सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में सहायक होती हैं।

परन्तु शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में, रीतियों के उपयोग में प्रमुख कठिनाई यह है कि कोई भी दो शैक्षणिक स्थितियाँ समान नहीं होतीं। आन्तरिक तथा वातावरण से संबंधित स्थितियाँ विभिन्न होती हैं। ये समय के साथ-साथ प्रत्येक शिक्षक के साथ भिन्न ही रहती हैं। किसी एक स्थिति में जो रीति सफल तथा उपयोगी सिद्ध होती है, किसी अन्य स्थिति में

वह सफल नहीं होती। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-रीतियों का चुनाव शिक्षण तथा पर्यवेक्षण के मार्गदर्शक सिद्धान्तों के अनुरूप ही करना चाहिये। ऐसा न करने पर पर्यवेक्षण सुनियोजित तथा विधिवत नहीं होगा।

दूसरी कठिनाई, जो शिक्षा-पर्यवेक्षण-रीतियों के साथ पायी जाती है, वह यह है कि किसी रीति का क्रियान्वयन अन्य रीति के विकास में पूर्णतः बाधक न भी हो तो भी मार्ग अवरुद्ध तो कर ही देता है। अतः यदि पर्यवेक्षक रचनात्मक प्रवृत्ति का न हो या सतत् रचनात्मक रूप से विचार न करे तो वह रूढ़िवादी बन जाता है।

रीतियों का उपयोग, क्रियान्वित की जा रही विधियों के उचित मूल्यांकन में भी बाधक होता है क्योंकि किसी भी रीति का अन्धानुकरण यह प्रदर्शित करता है कि रीति के पालन को उपलब्धियों से अधिक महत्व दिया जा रहा है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मूल्यांकन-प्रकिया अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। फलस्वरूप वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

परन्तु इन कठिनाइयों का अर्थ यह नहीं है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की रीतियाँ उपयोगी नहीं हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण की रीतियाँ जिन्हें कुशल पर्यवेक्षकों ने विकसित किया है, समुचित रूप से महत्वपूर्ण हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण एक तकनीकी कार्य है जो लम्बे अनुभव तथा विशिष्ट प्रशिक्षण की अपेक्षा रखता है। अतः उद्देश्यों को निश्चित करने तथा उपयोगी एवं प्रभावी विधियों के उपयोग के लिए, सिद्धान्तों तथा रीतियों का उचित सम्मिश्रण अत्यन्त आवश्यक है। फ्रेड सी० अेयर (Ayer) का कथन है कि "न तो सिद्धान्त और न ही रीति, अपने आप प्रभावी रूप से कार्य कर सकते हैं वरन् इनमें सतत् आदान-प्रदान होता रहता है जो न केवल किसी कार्य की सफलता निश्चित करता है वरन् क्रमशः सिद्धान्तों तथा रीतियों के चुनाव तथा क्रियान्वयन को उन्नत बनाता है।"[१]

व्यक्तिगत रुचि-अरुचि

पर्यवेक्षक की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि तथा मनोवृत्ति का भी बहुत अधिक प्रभाव पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों के निर्वाह पर पड़ता है। पर्यवेक्षक की दृढ़ता, किसी बात की ओर विशेष झुकाव, कोई विशेष योग्यता या कमजोरी आदि सभी, पर्यवेक्षण सिद्धान्तों के क्रियान्वयन को प्रभावित करते हैं। सामान्यतः पर्यवेक्षक उन्हीं रीतियों, रुढ़ियों तथा सिद्धान्तों को मान्यता देते हैं जिन्हें उनके पूर्व-कार्यकर्त्ता देते रहे हैं। अतः पर्यवेक्षण में उदार दृष्टिकोण का अभाव रहता है तथा वह संकीर्ण, जटिल एवं अनुपयुक्त सिद्ध होता है। पर्यवेक्षण को शिक्षा के सिद्धान्तों, दर्शन, समय तथा समाज की स्थितियों आदि के अनुकूल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक, व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, सुख तथा आनन्द के स्तर से ऊँचा

---

[1] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, Harper & Brothers, New York, 1954, p. 45.

उठकर पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों तथा रीतियों के अनुरूप कार्य करे। अनेक पर्यवेक्षक ऐसे उदार तथा स्वतंत्र-वृत्ति के होते हैं कि वे प्रगति के उत्साह के कारण अनेक महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों की उपेक्षा कर जाते हैं। कभी कभी पर्यवेक्षक में वास्तविक स्थिति के अनुकूल सिद्धान्तों के चयन तथा उनमें सामंजस्य स्थापित करने की क्षमताओं का अभाव रहता है। कभी कभी पर्यवेक्षक तीव्र कटु आलोचनात्मक तथा ध्वंसात्मक वृत्तियों से प्रभावित रहते हैं। फलस्वरूप पर्यवेक्षण, प्रेरणाप्रद तथा कल्याणकारी नहीं हो पाता है। इन सभी प्रकार की स्थितियों में पर्यवेक्षण उचित ढंग से नहीं हो पाता है। निष्पक्ष तथा उचित पर्यवेक्षण के लिए यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक किसी विशेष मनोवृत्ति से प्रभावित न हो।

मानव स्वभाव से व्यक्तिगत उद्देश्य तथा रुचि-अरुचि को सर्वथा अलग करना तो सम्भव नहीं है परन्तु पर्यवेक्षण की नियोजना तथा क्रियान्वयन, इस प्रकार व्यवस्थित किये जा सकते हैं कि इन व्यक्तिगत रुचि-अरुचियों तथा मनोवृत्तियों के होते हुए भी पर्यवेक्षण के मान्य सिद्धान्तों के अनुकूल कार्य किया जा सके। इसके लिए मानवीय उत्प्रेरणाओं तथा व्यक्तिगत मनोवृत्तियों का ज्ञान पर्यवेक्षक को कराना आवश्यक है। उचित अनुभव तथा प्रशिक्षण भी इसमें समुचित रूप से सहायक हो सकते हैं। अतः यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक, व्यक्तिनिष्ठ पर्यवेक्षण न करके, आत्म-संयम, संतुलन, नेतृत्व, विचार-गाम्भीर्य, बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता, सहानुभूति आदि मानवीय गुणों को अपने में विकसित करने के प्रयास करे। इन गुणों की सहायता तथा पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों के ज्ञान से वस्तुनिष्ठ, प्रभावी, तथा उपयोगी पर्यवेक्षण सम्भव हो सकेगा।

प्रशासनीय नीति

"In addition to the soundness of theoretical principles, the effectiveness of proven techniques, and the harmonious resolution of personal idiosyncrasies, there is a fourth major factor which plays a significant part in the successful use of the guiding principles for the planning and operation of instructional supervision. This is the factor of administrative policy."[1] अेयर महोदय का यह कथन महत्वपूर्ण है। पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों के उचित निर्वाह में प्रशासनीय नीति का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है। परन्तु सामान्यतः प्रशासनीय नीति का विचार शैक्षणिक पर्यवेक्षण के संबंध में कम ही किया जाता है। यहाँ प्रशासनीय नीति से तात्पर्य उन नियमों, सिद्धान्तों तथा कार्यविधियों से है जिन्हें शाला-प्रशासक शिक्षा-कार्यक्रम की व्यवस्था हेतु अपनाते हैं। सीयर्स महोदय का विचार है कि शालाओं के चलाने में प्रशासनीय नीति-व्यवस्था, स्थायित्व, क्रमबद्धता, स्पष्ट उद्देश्यों, सुरक्षात्मक भावना

---

[1] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, Harper & Brothers, New York, 1954, p. 47.

आदि के विकास हेतु आवश्यक है।[१] शाला में कार्य-निरन्तरता, सुव्यवस्था, सुरक्षा, कार्य हेतु, उद्देश्य स्पष्टता आदि की दृष्टि से प्रशासनीय नीतियाँ आवश्यक रहती हैं। प्रशासनीय नीतियों में सिद्धान्त होते हैं तथा इनके माध्यम से ऐसी कार्य विधियाँ विकसित होती हैं जो कार्यों तथा निर्णयों का मार्गदर्शक बनती हैं। अत: प्रशासनीय नीति चाहे वह सबल हो या कमजोर, स्थिर हो या अस्थिर, निरन्तरता वाली हो या अस्थायी, लोकतंत्रीय हो या अधिनायकवादी, उसमें कुछ न कुछ सिद्धान्त होते हैं तथा उसमें ऐसी कार्यविधियाँ रहती हैं जो पर्यवेक्षक के कार्यों और निर्णयों को केवल प्रभावित ही नहीं करतीं, वरन् उनका आधार बनती हैं।

इस दृष्टि से प्रशासनीय नीति शैक्षणिक पर्यवेक्षण के लिये आवश्यक है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो सकेगा। रचनात्मक सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। परन्तु यदि पर्यवेक्षक स्थिर पाठ्यक्रम तथा निश्चित शिक्षण-विधियों के अपनाने तथा उपयोग पर बल देता है तब इस उपयोगी सिद्धान्त का क्रियान्वयन सम्भव नहीं है। अत: इस रचनात्मकता के सिद्धान्त के उचित पालन तथा क्रियान्वयन हेतु यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षण शिक्षकों को शिक्षण-विधियों तथा पाठ्यक्रम संबंधी प्रयोग करने की पर्याप्त स्वतंत्रता दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रशासनीय नीति शिक्षण को बहुत अधिक प्रभावित करती है। शाला के शिक्षण को रचनात्मक, स्वतंत्र, लोकतंत्रीय तथा उपयोगी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रशासन अपनी पर्यवेक्षण-नीति को संकीर्णता तथा व्यक्तिगत प्रभावों से मुक्त, व्यापक तथा वस्तुनिष्ठ बनाये। पर्यवेक्षण संबंधी प्रशासनीय नीति, सम्पूर्ण शाला के सैद्धान्तिक तथा शैक्षणिक निर्णयों, उद्देश्यों, नियमों तथा इच्छाओं के अनुरूप एवं इनकी समुचित अभिव्यक्ति करने वाली होनी चाहिये।

प्रशासनीय नीति पर्यवेक्षण के उद्देश्य, सिद्धान्त, क्रियान्वयन आदि सभी को प्रभावित करती है। अत: यह आवश्यक है कि प्रशासनीय नीति उचित तथा पर्यवेक्षण के मान्य सिद्धान्तों और रीतियों के आधारों पर विकसित की जाये। इसके अभाव में उचित पर्यवेक्षण सम्भव ही नहीं होगा। प्रशासनीय नीति, शाला के शिक्षण तथा व्यवस्था को उन्नत तथा परिष्कृत करने वाली ही होनी चाहिये। प्रशासनीय नीति यदि कठोर तथा संकीर्ण होगी तो नेतृत्व के विकास में बाधा तथा नवीन प्रयोगों के प्रति उदासीनता तथा निरुत्साह उत्पन्न करेगी। रचनात्मक क्रियाओं को यह सन्देह तथा संशय से देखेगी। ऐसी नीति से शाला-शिक्षकों की योग्यता, विलक्षण प्रतिभा, ज्ञान तथा शक्ति का समुचित उपयोग नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप रुढ़िवादिता को प्रोत्साहन मिलेगा तथा प्रगति के मार्ग अवरुद्ध हो जायेंगे। सृजनात्मकता के विकास तथा संवर्द्धन में ऐसी नीति बाधक ही रहती है।

अत: यह आवश्यक है कि प्रशासनीय नीति लोकतंत्रीय, लचीली तथा स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने वाली हो। इस प्रकार की प्रशासनीय नीति मुक्त-प्रयोग, स्वस्थ-सृजन, उदार-

[1] Sears, J. B., *The Nature of the Administrative Process*, McGraw Hill Book Co., New York, 1950, p. 315.

दृष्टिकोण, पर्याप्त उत्साह तथा आनन्द का विकास करती है। ऐसी नीति द्वारा ही नवीन परिवर्तनों की संभावना हो सकती है। इस नीति के अन्तर्गत शालाओं में नूतन प्रयोग, परिवर्तन तथा विकास स्वतंत्र रूप से चल सकेंगे। शिक्षक, शिक्षण-विधियों तथा पाठ्यक्रम संबंधी नवीन प्रयोग तथा परिवर्तन कर सकेंगे जिससे शिक्षण उन्नत तथा प्रभावी होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि कठोर, रूढ़िवादी या लोकतंत्रीय उदार प्रशासनीय नीति शालेय शिक्षण-कार्य-विधियों को बहुत अधिक प्रभावित करती है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में बाधाएँ

शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। वर्तमान संसार तीव्र गति से परिवर्तित हो रहा है। विज्ञान-टेक्नालॉजी, गति तथा परिवर्तन इस संसार की विशेषताएँ हैं। इस परिवर्तनशील विकसित हो रहे संसार में स्वभाविक ही है कि मूल्यों तथा सिद्धान्तों में सतत् विकास और उन्नति होती रहे। सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में होने वाली आपसी प्रक्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से सिद्धान्तों का परिष्कार तथा परिमार्जन होता है। साथ ही साथ नवीन सिद्धान्तों का निर्माण भी होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में भी यही होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण के लचीले गत्यात्मक सिद्धान्त वातावरण, अनुभव, शैक्षणिक कार्यविधियों, कार्यक्रमों, मूल्यांकनों आदि के परिणामों के आधार पर परिवर्तित तथा विकसित होते रहते हैं।

सिद्धान्तों का चयन

शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में किसी एक ही सिद्धान्त का उपयोग नहीं किया जाता है। शैक्षणिक पर्यवेक्षण कार्यक्रम एक से अधिक सिद्धान्तों के आधार पर संगठित होता तथा चलता है। अतः स्वाभाविक है कि शैक्षणिक पर्यवेक्षण के अनेक सिद्धान्त आपस में एक दूसरे पर प्रभावशील हों तथा कभी-कभी एक दूसरे के विरोधी हों। कभी-कभी यह भी होता है कि अनेक सिद्धान्त उचित रूप से संघटित होकर समन्वयात्मक रूप से कार्यशील होते हैं। ऐसी स्थितियों में भी यह कहना कठिन है कि इनमें से किस सिद्धान्त का क्या और कितना महत्व है। हम यह जानते हैं कि सहयोग तथा नेतृत्व के सिद्धान्तों का आपस में घनिष्ठ संबंध है तथा ये दोनों एक दूसरे को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। परन्तु किसी स्थिति-विशेष में इनमें से किस सिद्धान्त का कितना स्थान है, कहना कठिन है। कार्य-क्षेत्र में हम यह देखते हैं कि अनेक सहयोगी कार्यक्रम उचित नेतृत्व के अभाव में असफल हो जाते हैं। उत्तम नेतृत्व के होने पर भी अनेक कार्यक्रम आपसी सहयोग के अभाव में सफल नहीं हो पाते। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण के विभिन्न सिद्धान्त आपस में समन्वयात्मक रूप से कार्य करें। स्टैनले तथा शोर्ज का विचार है कि सिद्धान्तों में परस्पर घनिष्ठ संबंध होता है। इनमें प्रायोगिक सफलता के आधार पर उन्नति तथा पुनर्विचार होने की सम्भावनाएँ हमेशा रहती हैं। इसलिए शिक्षा-पर्यवेक्षक को सभी नवीनतम

सिद्धान्तों का समुचित ज्ञान होना चाहिये । इतना ही नहीं, इन नवीनतम सिद्धान्तों के क्रियान्वयन के लिए उपयोगी कार्यविधियों से भी इनका परिचय होना आवश्यक है । तभी शिक्षा-पर्यवेक्षक नवीन सिद्धान्तों का उपयोग प्रभावी रूप से कर सकेगा तथा नवीन एवं प्राचीन सिद्धान्तों के संघर्ष को दूर कर सकेगा ।

भेद एवं परस्पर संघर्ष दूर कर समन्वय की स्थापना

शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में एक सबसे बड़ी बाधा यह है कि कुछ सिद्धान्त एक दूसरे के विरोधी से रहते हैं । इन विरोधी सिद्धान्तों में समन्वय कैसे स्थापित किया जाय ? उदाहरण के लिये, शिक्षा-पर्यवेक्षण के नियोजना तथा लचीलेपन के सिद्धान्तों को लें । इन दोनों सिद्धान्तों में आपसी विरोध है । शिक्षा-पर्यवेक्षण की पूर्व-नियोजना का कोई विरोध नहीं करेगा । यह आवश्यक भी है । परन्तु स्थितियों के अनुसार इसमें परिवर्तन करना भी कभी-कभी आवश्यक हो जाता है । अनेक शिक्षा-पर्यवेक्षक, नियोजना बनाने के बाद उसमें थोड़ा सा भी परिवर्तन नहीं करना चाहते । इस प्रकार संघर्ष प्रारम्भ होता है । इसे दूर करने के लिये गहन विश्लेषण तथा मूल्यांकन की आवश्यकता होती है । यह विश्लेषण तथा मूल्यांकन, अनुभव तथा प्राप्त ज्ञान के आधार पर, किया जाना चाहिये तथा व्यक्तिगत रुचि-अरुचि एवं ऐच्छिक सोचने-विचारने को इससे दूर रखना चाहिये । ऐसा न करने पर शिक्षा-पर्यवेक्षण व्यक्तिनिष्ठ होगा, वस्तुनिष्ठ नहीं ।

प्रमुख तथा गौण सिद्धान्तों को अलग पहचानना

शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में एक कठिनाई पर्यवेक्षण के प्रमुख सिद्धान्तों को साधारण सिद्धान्तों से अलग पहचानना भी है । शिक्षा-साहित्य शिक्षण, पर्यवेक्षण तथा प्रशासन के अनेक सिद्धान्तों से भरा हुआ है । इनमें से सहयोग, रचनात्मकता, नेतृत्व, विकास आदि प्रमुख सिद्धान्त हैं जो शिक्षा के उद्देश्यों के निर्धारण में सहायक होते हैं । इनके अतिरिक्त इनसे कम महत्व के अनेक सिद्धान्त हैं जो शिक्षण-प्रक्रिया के क्रियान्वयन को सरल बनाते हैं । शिक्षा-पर्यवेक्षण के कार्य को यथोचित रूप से सम्पन्न कराने में ये कम महत्व के सिद्धान्त अत्यन्त सहायक होते हैं । इन सहायक सिद्धान्तों को सहायक ही रहना चाहिये । महान उच्च सिद्धान्तों का स्थान ये कम महत्व के सिद्धान्त न लें, इसका ध्यान सतत् रखना आवश्यक है । उदाहरण के लिये हम कह सकते हैं कि लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण में सहकारिता, सहानुभूति नेतृत्व आदि सिद्धान्तों का उपयोग होता है । वैज्ञानिक पर्यवेक्षण में नेतृत्व, वस्तुनिष्ठता, मूल्यांकन आदि सिद्धान्तों का उपयोग होता है । इन प्रमुख सिद्धान्तों के साथ-साथ अनेक गौण या कम महत्व के सिद्धान्त योजना-निर्माण, पर्यवेक्षण, रचना तथा विकास में सहायक होते हैं । परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि प्रधान सिद्धान्तों पर अधिक बल देने से गौण सिद्धान्त उपेक्षित रह जायें या गौण सिद्धान्तों को अधिक बल देने से प्रधान सिद्धान्त गौण दिखाई देने लगें । अतः आवश्यक यह है कि पर्यवेक्षक मानसिक दृढ़ता से प्रमुख सिद्धान्तों का संरक्षण करें तथा पर्यवेक्षण-नियोजन में गौण सिद्धान्तों का आवश्यक सहयोग लें ।

पर्यवेक्षक की मनोवृत्ति

शिक्षा-पर्यवेक्षक सामान्यतः अपनी चित्त-वृत्ति या अपनी रुचि के अनुसार पर्यवेक्षण करने की ओर झुक सकते हैं। ऐसे पर्यवेक्षक अपने लिए ऐसी जटिल समस्याएँ उत्पन्न कर लेते हैं जिनका निराकरण बड़ी कठिनाई से हो पाता है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षक मान्य तथा वास्तविक सिद्धान्तों के अनुसार ही पर्यवेक्षण-कार्यक्रम नियोजित करें। यदि पर्यवेक्षक ऐसा नहीं करते तो वे शिक्षा-उद्देश्यों, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों आदि के प्रति न्याय नहीं कर सकते।

सिद्धान्तों को अपरिवर्तनीय मानना

पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों को अन्तिम तथा ध्रुव मानना भी उचित नहीं है। पर्यवेक्षण-सिद्धान्त गतिशील होते हैं जो समय तथा अनुभव के साथ परिवर्तित तथा विकसित होते हैं। अतः मूल्यांकन के आधार पर इनमें सतत् विकास आवश्यक है। इसलिए पर्यवेक्षकों को इन सिद्धान्तों को अपरिवर्तनीय या अन्तिम मानना उचित नहीं है।

मानवीय गुणों का विकास

पर्यवेक्षण की सफलता केवल पर्यवेक्षक के प्रशिक्षण पर ही निर्भर नहीं रहती है। प्रशिक्षण उसे तकनीकी तथा व्यावसायिक ज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष से ही परिचित करा सकता है। परन्तु शिक्षा-पर्यवेक्षण के लिए इस सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान मात्र ही आवश्यक नहीं वरन् व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों की भी आवश्यकता होती है। पर्यवेक्षक में सूक्ष्म-विचार, सहानुभूति, कर्त्तव्य-निष्ठा, उदारता, सहयोग, विश्लेषण तथा संश्लेषण-क्षमता आदि गुणों का विकास अत्यन्त आवश्यक है। पर्यवेक्षक जब इन मानवीय तत्वों तथा गुणों के सहारे पर्यवेक्षण करता है एवं अपने व्यावसायिक सैद्धान्तिक ज्ञान का उपयोग करता है, तभी पर्य-वेक्षण उचित, प्रभावी तथा शिवत्व से पूर्ण हो पाता है। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षक को आवश्यक व्यावसायिक प्रशिक्षण तो दिया ही जाय साथ ही साथ उसमें मान-वीय व्यक्तिगत तथा सामाजिक गुणों के विकास के प्रयास भी किये जायें।

सिद्धान्तों का श्रेणीकरण

पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों को उनके प्रभावों के अनुसार श्रेणीबद्ध करना भी पर्यवेक्षकों की एक समस्या रहती है। सिद्धान्तों का श्रेणीकरण इसलिए भी कठिन है कि हर स्थिति में सिद्धान्तों का प्रभाव समान नहीं होता है। साथ ही साथ विभिन्न अवसरों पर एक ही समस्या या स्थिति में किसी सिद्धान्त का प्रभाव विभिन्न रहता है। पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का उचित श्रेणीकरण न करने से पर्यवेक्षण-प्रक्रिया के असन्तुलित होने का भय रहता है। कभी-कभी सिद्धान्त एक दूसरे से इतनी घनिष्ठता से संबद्ध रहते हैं कि उनके अलग-अलग महत्व को स्थिर करना कठिन हो जाता है। ऐसे परस्पर सहायक तथा पूरक सिद्धान्तों को श्रेणीबद्ध कर, उन्हें उचित क्रम में रखने की कठिनाई पर्यवेक्षक के सामने आती है।

अध्याय १६

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन

नियोजन क्या है ?

वाल्टन महोदय पर्यवेक्षण के अधिकृत विद्वान माने जाते हैं। उनके अनुसार नियोजन की परिभाषा निम्नलिखित है । "Outlining and setting up a system that expects the unexpected and can take care of it when it arrives." नियोजन, अनहोनी के सम्बन्ध में पूर्व-विचार करना है, जिससे जब वह हो, तब उसके संबंध में कोई असुविधा न हो।

नियोजना हमें अपने कार्यों को समय पर पूर्ण करने में सहायक होती है । इससे हम अपने साधनों का समुचित तथा प्रभावी उपयोग कर सकते हैं। इससे नैतिकता का विकास तथा हमारे कार्य का स्तर ऊँचा होता है । अतः शिक्षा-पर्यवेक्षक को अपने कार्यों, समय तथा साधनों की नियोजना बनानी चाहिये ।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजना क्यों आवश्यक है ?

शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्य बालक तथा शिक्षक दोनों का विकास करने में सहायक होता है। फलस्वरूप शाला-अभ्यासों के क्षेत्र में शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रयासों के विस्तृत रूप से फैलने की सम्भावनाएँ रहती हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण के कार्यक्रमों की उचित व्यवस्था तथा नियोजना बनायी जाये । पर्यवेक्षण-नेतृत्व की सम्पूर्ण शक्ति, एक समन्वित प्रयास के रूप में उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करने की दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन अत्यन्त आवश्यक है । इससे असंबंधित तत्वों में समय व्यर्थ नष्ट नहीं होता है। फलस्वरूप आजकल शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन पहले की अपेक्षा अधिक आवश्यक माना जाने लगा है ।

किसी भी शिक्षण-कार्यक्रम को प्रभावी बनाने तथा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि उचित नियोजन द्वारा प्रयासों को समीचीन तथा प्रभावी बनाया जाये। इस प्रकार के नियोजन में आवश्यक है कि अध्ययन तथा चयन द्वारा यह निश्चित किया जाये कि कौन-कौन सी कार्यविधियाँ शिक्षण के उद्देश्यों की उपलब्धि में सहायक होंगी ।

शिक्षा-पर्यवेक्षण की व्यवस्था तथा संगठन के माध्यम से एक ऐसे ढाँचे तथा कार्य-व्यवस्था की उपलब्धि करायी जाती है जो शिक्षण-स्थितियों की उन्नति तथा विकास में सहायक होती है। परन्तु इस ढाँचे तथा कार्य-व्यवस्था को उपयोगी, गतिशील तथा प्रभावी बनाने के लिये आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्यक्रम विकसित किया जाये तथा सुनियोजित ढंग से कार्यान्वित किया जाये।

कोई भी सुनियोजित कार्यक्रम, प्रयासों तथा गतिविधियों को निश्चित करता है तथा दिशा निर्देशन देता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन, प्राचार्य, शिक्षक, बालक तथा अन्य संबंधित कर्मचारियों की गतिविधियों तथा प्रयासों को निश्चित स्वरूप प्रदान करता है तथा व्यवस्थित ढंग से कार्यशील होने में सहायक होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन, शिक्षण-स्तर के विकास तथा उन्नति के लिए आधार प्रस्तुत करता है। इससे आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निश्चित साधनों तथा विधियों के उपयोग का तरीका ज्ञात होता है। अत: जिस प्रकार जीवन के अन्य क्षेत्रों में नियोजन आवश्यक है, उसी प्रकार शिक्षण के क्षेत्र में भी पर्यवेक्षण-नियोजन आवश्यक तथा उपयोगी है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन कैसा हो ?

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन उद्योगों तथा कारखानों की नियोजना के समान व्यावसायिक तथा लोकतंत्रीय दोनों हो सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में पर्यवेक्षण-कार्यक्रम यदि सुनियोजित नहीं हैं तब ये प्रभावी सिद्ध नहीं हो सकते। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजना में कुछ तत्वों का होना आवश्यक है जिनमें निम्नलिखित तत्व प्रमुख हैं :

(१) नियोजना सतत् चलने वाली हो

शिक्षण की उन्नति के कार्यक्रम, कभी-कभी या रुक-रुक कर चलने वाले नहीं होने चाहिये। इन्हें एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया के रूप में व्यवस्थित किया जाना चाहिये। इन्हें गतिशील भी होना चाहिये। जिस प्रकार शिक्षण-प्रक्रिया निरन्तर गतिशील तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तनशील होती है, उसी प्रकार शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन भी सतत् गतिशील तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तनशील होना चाहिये।

(२) नियोजना सहयोगी हो

लोकतंत्रीय शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षण-कार्यक्रमों के विकास तथा उन्नति की नियोजना ऐसी होनी चाहिये जिसमें शिक्षा-क्षेत्र के सभी कार्यकर्ता सहयोगी ढंग से कार्य कर सकें। सहयोगी नियोजन ऐसी योजना है जिसमें कार्यक्रम ऊपर से नहीं थोपे जाते वरन् जिसे शिक्षक स्वयं तैयार करते हैं।[1] शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन में शिक्षकों के सहभागी होने से

---

[1] Boardman, Douglas & Bent, *Democratic Supervision in Secondary School*, Houghton, Mufflin Co., New York, 1953, p. 108.

उनकी रुचियों को प्रोत्साहन मिलता है तथा शिक्षण-कार्यक्रमों को सुधारने एवं उन्नत बनाने के लिए व्यक्तिगत योग्यताओं, पहल करने की क्षमताओं एवं उन्हें सभी साधनों के समुचित उपयोग की सम्भावनाओं में वृद्धि होती है। यह स्वयं अध्ययन तथा स्वयं सुधार करने के लिए सशक्त प्रेरक का कार्य भी करता है। वेबर (Weber) का विचार है कि सेवारत शिक्षा की सर्वाधिक प्रभावी विधियाँ वे हैं जिनमें शिक्षक, शिक्षण-कार्यक्रम को निर्धारित तथा कार्यान्वित करने में सहभागी बनते हैं।[1] आजकल शिक्षण-सुधार-कार्यक्रमों की नियोजना में इसीलिए शिक्षकों का सहयोग लेने की प्रवृत्ति अधिक परिलक्षित हो रही है।

(३) नियोजन कुशलता से हो

शिक्षा में राष्ट्र का काफी धन लगाया जाता है। अतः यह स्वाभाविक है कि शिक्षा-प्रशासक तथा पर्यवेक्षक इस बात के लिए प्रयत्नशील हों कि इस व्यय से सर्वाधिक उत्पत्ति हो। शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक उत्पत्ति का अर्थ है, कुशल शिक्षण के द्वारा बालक का समुचित विकास। शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में भी इसीलिए कुशलता के सिद्धान्त को मान्य किया जाता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन इसीलिए अत्यन्त कुशलतापूर्ण किया जाना चाहिये जिससे शिक्षण में सुधार तथा उन्नति सर्वाधिक हो। मानवीय साधनों के विकास तथा व्यवस्था में निश्चित क्रम तथा व्यवस्था आवश्यक है। मानवीय साधनों के विकास के लिए, शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रयासों को समन्वित करने तथा दिशा-निर्देशन देने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन कुशलतापूर्ण हो।

(४) नियोजन, शैक्षणिक लक्ष्य तथा कार्य स्पष्ट करने वाला हो

अध्ययनों तथा शोधों ने स्पष्ट किया है कि शाला-व्यवस्था में उत्तम मानवीय संबंध लक्ष्यों तथा कार्यों की स्पष्टता पर निर्भर रहते हैं। अमेरिका में मिचिगन राज्य-शिक्षा-विभाग ने शालाओं में शिक्षकों तथा अन्य सदस्यों के कार्यों के संबंध में निर्देशन देने के लिए एक बुलेटिन तैयार की है। इसमें यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि किसी भी शाला में मानवीय साधन, व्यावसायिक कौशल तथा एकत्व का विकास ही उसके प्रभावी होने का प्रमाण है। शालाओं में सभी के कार्यों तथा लक्ष्यों का स्पष्ट संकेत, कार्य को सरलता से पूर्ण करने में सहायक होता है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन ऐसा होना चाहिए कि कार्यों की अनावश्यक आवृत्ति न हो जिससे प्रयासों का अपव्यय रोका जा सके।

शिक्षण के लक्ष्यों का निर्धारण, शिक्षण-स्तर-सुधार-कार्यक्रम-नियोजन के लिए बहुत आवश्यक है। ये लक्ष्य ही शिक्षण-कार्यक्रमों तथा गतिविधियों का आधार बनते हैं। किसी भी शैक्षणिक कार्यक्रम के ठोस होने तथा शिक्षण-समस्याओं का समाधान करने योग्य होने के लिए यह आवश्यक है कि उस कार्यक्रम के शैक्षणिक लक्ष्य स्पष्ट हों। शिक्षा-पाठ्यक्रम,

---

[1] Weber, C. A., "Reactions of teachers in Inservice education in their Schools", *School Review* (April 1943), pp. 234-240.

शिक्षण-विधि, सहायक सामग्री, उपकरण आदि सभी का मूल्यांकन अन्त में इन्हीं शैक्षणिक लक्ष्यों के आधार पर होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-कार्यक्रम की व्यवस्था, कार्यान्वयन-विधि आदि सभी बातें लक्ष्यों पर निर्भर करती हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन, शैक्षणिक लक्ष्य तथा कार्य स्पष्ट करने वाला हो।

(५) नियोजन के लिए समुचित नेतृत्व आवश्यक

शिक्षा-पर्यवेक्षण का संबंध कक्षा-शिक्षण के सुधार, पाठ्यक्रम विकास तथा सेवारत-शिक्षक-सेवा से रहता है। इसमें अधिकांश कार्य बैठकों, गोष्ठियों, ग्रीष्म कालीन शिविरों आदि के माध्यम से किया जाता है। इनमें पर्यवेक्षक को समुचित नेतृत्व का प्रदर्शन करना आवश्यक रहता है। इस नेतृत्व-प्रदर्शन की योजना बनाने के लिए भी समुचित नेतृत्व आवश्यक है।

(६) नियोजन लोकतंत्रीय कार्यविधियों का विकास करने वाला हो

"The effectiveness of the supervisory program is dependent upon full incorporation of the democratic procedure."[1] लोकतंत्रीय कार्यविधि के अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच तत्वों का होना, मिलर ने आवश्यक समझा है :[2]

(१) मानव व्यक्तित्व तथा उसकी मौलिकता का आदर।
(२) मानव की समस्याओं के हल के लिए मानव-बुद्धि की क्षमता पर विश्वास।
(३) व्यक्ति को प्रभावित करने वाली नीतियों, निर्णयों आदि के निर्धारण में उसके सहयोग का अधिकार।
(४) जनता को सीधे या प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करने का अधिकार।
(५) समानता का अधिकार।

शिक्षा-पर्यवेक्षण के कार्यक्रमों का नियोजन करते समय इन उपरोक्त पाँच सिद्धान्तों को मान्यता देना तथा इनका समुचित समावेश करना आवश्यक है। इसके लिए लोकतंत्रीय नेतृत्व भी आवश्यक है। अधिकतम सहयोग की नीति का अवलम्बन तथा उचित नेतृत्व प्रदान करके ही शिक्षा-पर्यवेक्षण को लोकतंत्रीय बनाया जा सकता है।

(७) नियोजन शिक्षण-विधियों पर केन्द्रित न होकर शिक्षक पर केन्द्रित हो

किम्बाल वाइल्स महोदय का कथन है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण, शिक्षण-विधियों पर केन्द्रित न होकर शिक्षकों पर केन्द्रित होना चाहिये। वाइल्स महोदय का कथन है—"शिक्षण की उन्नति के लिए पर्यवेक्षण के माध्यम से शाला-कार्यक्रम को विकसित तथा शिक्षकों के वाता-

---

[1] Harold Spears, *Improving the Supervision Instruction*, Prentice Hall Inc., New York, 1955, p. 124.

[2] Miller Ward, *Democracy in Educational Administration*, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1942, p. 40.

वरण को सम्पन्न करना चाहिये....एक समूह में कार्य करने तथा सोचने-विचारने के अवसर देना चाहिये तथा शिक्षण-कार्यविधियों का विकास इस प्रकार करना चाहिये जिससे शिक्षक में शाला-कार्य-विधि के प्रति आस्था विकसित हो। कार्यक्रम-परिवर्तन सत्य मूल्यांकन पर हो।"[१] जब व्यक्ति अपने कार्य-क्षेत्र के वातावरण को समझने लगता है तब वह अपेक्षाकृत अधिक सहयोगी, उत्पादक तथा विश्वसनीय हो जाता है। वह कार्य अच्छा करता है तथा उसकी गतिविधियाँ अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण होती हैं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की नियोजना शिक्षण-विधियों की अपेक्षा शिक्षकों को केन्द्र बनाकर निर्मित तथा विकसित की जाये।

(८) नियोजन में रचनात्मक आलोचना, नवीन शिक्षण-पद्धतियों, कार्य-विधियों, प्रदर्शन-शिक्षण, सहायक सामग्री आदि की व्यवस्था हो

शिक्षक हमेशा ऐसा पर्यवेक्षण चाहते हैं जिससे उन्हें अपनी कठिनाइयों के हल के साधन उपलब्ध हों तथा उन्हें वह सहायता मिले जिसे वे चाहते हैं। रूथ कनिंघम ने "Ways of working" पर अध्ययन किया तथा ८५० शिक्षकों के उत्तरों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि शिक्षक अपनत्व तथा महत्व की भावना के प्रति अधिक सक्रिय रहते हैं। वे चुने हुए जिस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, उसमें योगदान करने के लिए सजग रहते हैं। पी० एम० वेल ने ४६० शिक्षकों से प्रत्यक्ष भेंट के आधार पर निष्कर्ष निकाला कि "Teachers desire most frequently supervision which provides constructive criticism, new techniques and methods, demonstration teaching, suggested materials and equipment."[2]

उपर्युक्त कथनों तथा विवेचनों से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजना में इस बात का ध्यान रखा जाना चाहिये कि उसमें ऐसी कार्यविधियाँ अवश्य रखी जायें जो शिक्षक में अपनत्व तथा महत्व की भावना को विकसित करें एवं रचनात्मक आलोचना तथा प्रदर्शन शिक्षण द्वारा उसे नवीन शिक्षण-विधियों तथा रीतियों से परिचित करायें। इससे शिक्षक में शिक्षण-कार्य के प्रति लगन तथा आस्था का विकास होगा।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन के चरण

शिक्षा-पर्यवेक्षण के चरण निश्चित करना कठिन है परन्तु फिर भी कुछ सामान्य चरण निश्चित किये जा सकते हैं जिनकी सहायता से शिक्षा-पर्यवेक्षण-प्रक्रिया उचित तथा विधिवत ढंग से सम्पन्न की जा सकती है। सीयर्स ने पर्यवेक्षण-रचना के निम्नलिखित चार चरण सुझाये हैं :

---

[1] Kimball Wiles, *Supervision for Better Schools*, Prentice Hall Inc., New York, 1950, p. 10.

[2] P. M. Bail, "Do Teachers receive the kind of supervision they desire ?", *Journal of Educational Research*, 40 : 716, May 1947.

(१) प्रक्रिया का आरम्भ किस प्रकार, कब तथा किसके द्वारा हो।
(२) उद्देश्य निर्धारण।
(३) यथार्थता के सामूहिक अध्ययन की विधि।
(४) पर्यवेक्षण-नियोजन या रचना-निर्माण।

हेमाक तथा ओइंग्स[1] ने शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन के लिए निम्नलिखित सात सामान्य चरण आवश्यक समझे हैं।

(१) शिक्षकों का विश्वास जीतना।
(२) शिक्षकों को शाला-दर्शन संबंधी विचारों पर सोचने तथा लिखने के अवसर देना।
(३) सामूहिक रूप से कार्य करने तथा सोचने की विधियाँ खोजना।
(४) समस्याओं को खोजने तथा अनुभव करने में सहायता देना।
(५) समस्याओं पर किये जाने वाले कार्यों का समन्वय करना।
(६) शिक्षक को समस्याओं के हल के लिए गतिविधियों की सहायता उपलब्ध कराना;
(७) कार्यक्रम की सफलता का मूल्यांकन।

मिसेज जोन्स ने पर्यवेक्षण के निम्नलिखित सात चरण आवश्यक माने हैं।

(१) समस्या का प्रवेश तथा उसे दृष्टिगोचर करना।
(२) उद्देश्यों को स्पष्ट करना।
(३) विधि, प्रविधि तथा साधन का अनुकूल चयन।
(४) सहयोग।
(५) मूल योजना के रूपांतरण की सीमा के निश्चित संकेत।
(६) मूल्यांकन-प्रक्रिया।
(७) योजना या रचना-प्रवाहन।

अन्य अन्वेषकों ने भी इन्हीं से मिलते-जुलते चरणों को शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन में महत्व दिया है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन में रचनाक्रम को अपनाने तथा क्रियान्वित करने में समुचित सतर्कता व्यवहार में लानी चाहिये। साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि केवल रचना-चरणों का क्रम तथा उनका उचित चयन ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् शाला-सिद्धान्त, दर्शन, सामाजिक तथा अन्य वातावरण, शाला-नियम, आदर्श आदि भी महत्वपूर्ण हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। इन सभी पक्षों तथा तत्वों पर विचार करने से शिक्षा-पर्यवेक्षक का कार्य अधिक सरल हो जायेगा तथा नियोजना की कार्यान्विति उचित ढंग से हो सकेगी। अनेक विद्वानों ने रचना या नियोजन को उचित ढंग से क्रियान्वित

[1] Hammock Owings, *Supervising Instruction in Secondary Schools*, McGraw Hill Book Co., New York, 1955, p. 113.

करने के लिए सुझाव दिये हैं। इनमें से नेल्सन तथा मैकडॉनल ने रचना-प्रक्रिया को क्रमिक रूप देने के लिए जिन बातों को आवश्यक समझा है उनका उल्लेख करना उपयोगी होगा।

(१) नियोजन के मूल-प्रतिकारकों को महत्व देना।
(२) कार्य-प्रारम्भ के पूर्व, नियोजन में सहायक पदों का समावेश करना।
(३) नियोजन में सहायक शिक्षकों को क्रियान्वयन में भी सम्मिलित करना।
(४) उपयुक्त अवधि निर्धारित करना।
(५) संबंधित कार्यकर्ताओं से नियोजना-क्रियान्वयन-विधि संबंधी सुझाव प्राप्त करना।
(६) रचना या नियोजन की सफलता के लिए विविध उपयुक्त प्रविधियों का चयन करना।
(७) सामान्य सुझावों को प्रस्तुत करना।

हॉर्समेन लिंकन इन्स्टीट्यूट ऑफ स्कूल एक्जामिनेशन ने पर्यवेक्षण-नियोजन को गतिशील बनाने तथा उसे क्रमिक रूप देने के लिए निम्नलिखित चरणों को महत्व दिया है—(१) योजना और उसके उद्देश्यों की स्पष्टता, (२) मापन साधनों की स्पष्टता तथा उपलब्धि, (३) मूल्यांकन के आधार पर क्रियाओं का चयन, (४) स्थितियों के सम्भावित परिवर्तन पर विचार, (५) अधिकतम सहयोग देने वाली प्रविधियों को महत्व देना, (६) पर्यवेक्षण तथा शिक्षक को सहयोगपूर्ण सक्रियता उपलब्ध कराना, (७) नियोजन के प्रत्येक पद या चरण में मूल्यांकन को महत्व देना, (८) वर्तमान क्रिया-क्षेत्र को भावी गतिविधियों की ओर संकेत देकर विस्तृत करना, (९) सदस्यों को अवधि का ज्ञान देना, (१०) नियोजना प्रमाणिक करना तथा उसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन से लाभ

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन से अनेक लाभ हैं। इनमें से निम्नलिखित लाभ प्रमुख हैं :

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण का स्वरूप निश्चित तथा सुस्पष्ट हो जाता है।
(२) पर्यवेक्षण-कार्य सुगम तथा विधिवत होता है।
(३) पर्यवेक्षण नियमित, गतिशील तथा रचनात्मक होता है।
(४) शाला-समस्याओं के हल के लिए सभी के सहयोग की उपलब्धि सम्भव रहती है।
(५) नियोजना बनाते समय गहन विचार तथा अध्ययन के अवसर मिलते हैं।
(६) प्रत्येक चरण का मूल्यांकन तथा मूल्यांकन के आधार पर संशोधन एवं परिवर्तन सहज हो जाता है।
(७) शिक्षकों, पर्यवेक्षकों तथा अन्य सभी संबंधित कार्यकर्ताओं को रचनात्मक तथा गतिशील बनाती है।
(८) सभी के समय और शक्ति के अपव्यय की बचत होती है।
(९) पर्यवेक्षक को अपने कार्य-क्षेत्र तथा सीमाओं का बोध कराती है।
(१०) इसमें कार्यविधियों पर समुचित नियंत्रण रहता है।

अध्याय १७

शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रकार

शिक्षा-पर्यवेक्षण का महत्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है। शिक्षण संस्थाओं की वृद्धि प्रधानाचार्यों, निरीक्षकों की नियुक्ति तथा इनके कार्यों के विकास, शिक्षण-गतिविधियों की विभिन्नताओं के बढ़ने आदि से शिक्षा-पर्यवेक्षण को स्वरूप मिला है तथा इसे अधिकाधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना जाने लगा है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण की धारणा तथा स्वरूप में काल, देश, दर्शन आदि के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। शिक्षण के पर्यवेक्षण की दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण के निम्नलिखित प्रकार, प्रारम्भ में विकसित हुए :

(१) शिक्षक-प्रशिक्षण-पर्यवेक्षण।
(२) विशेष-पर्यवेक्षण।
(३) विशेष-सेवा-पर्यवेक्षण।
(४) प्रशासनीय पर्यवेक्षण।

अेयर (Ayer) का विचार है कि ये चारों प्रकार के पर्यवेक्षण विभिन्न होते हुए भी, सहयोगी पर्यवेक्षण के विचार के अन्तर्गत एक दूसरे से बहुत अधिक संबंधित हैं।

(१) शिक्षक-प्रशिक्षण-पर्यवेक्षण

शिक्षकों की पूर्व-सेवा-प्रशिक्षण-गतिविधियों के पर्यवेक्षण के रूप में फ्रांस में सन् १६८५ में क्रिश्चियन स्कूल्स के ब्रादर्स द्वारा शिक्षक-प्रशिक्षण-पर्यवेक्षण प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् अमेरिका में मानीटोरियल शालाओं में शिक्षकों तथा बालकों के मध्य पर्यवेक्षण संबंधों के रूप में इसका विकास हुआ। १९वीं सदी में छात्र-शिक्षक अप्रेन्टिसशिप के अन्तर्गत इसका उपयोग इंगलैण्ड तथा हालैण्ड में बहुत हुआ। १९वीं सदी के प्रारम्भ में एशिया तथा अमेरिका में नार्मल स्कूलों के विकास से भी इस प्रकार के पर्यवेक्षण को बहुत प्रोत्साहन मिला। शिक्षक-प्रशिक्षण का २०वीं सदी में बहुत अधिक विकास हुआ है। इससे शिक्षक-प्रशिक्षण-पर्यवेक्षण संबंधी अनेक अभ्यासों तथा कार्य-विधियों का विकास हुआ जिनमें पाठ्य वस्तु के व्यावसायिक निर्वाह, सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए पर्यवेक्षण संबंधी अनेक व्यावहारिक कार्यविधियों तथा पर्यवेक्षण के उद्देश्यों और कार्यविधियों को प्रसारित करने वाले दर्शन का विकास महत्वपूर्ण है।

(२) विशेष-पर्यवेक्षण

सन् १८७० के बाद शाला-शिक्षा-पाठ्यक्रम में संगीत, चित्रकला, बढ़ईगीरी, गृह-विज्ञान आदि अनेक नवीन विषयों का समावेश किया गया तथा इन्हें महत्वपूर्ण भी समझा गया। ये विषय प्रारम्भ में विशष शिक्षकों द्वारा या सामान्य शिक्षकों द्वारा पर्यवेक्षकों की सहायता से पढ़ाये जाते थे। फलस्वरूप ये नवीन विषय "विशेष विषय" तथा ये पर्यवेक्षक "विशेष पर्यवेक्षक" कहलाने लगे। अमेरिका के बड़े शहरों में सन् १९२५ तक सभी जगह विशेष पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये थे तथा छोटे शहरों में भी इनका प्रचलन बढ़ा। अनेक शालाओं में सामान्य विषयों के पर्यवेक्षण के लिए भी विशेष पर्यवेक्षक नियुक्त किये गये। परन्तु अनेक विद्वान विशेष पर्यवेक्षण के पक्ष में नहीं थे। इनमें विशेषतः वे विद्वान थे जिनका विचार था कि विशेष पर्यवेक्षण विशेष विषयों को अपेक्षाकृत अधिक महत्व दे रहा है। अनेक विद्वान जो शाला-प्राचार्य को ही पर्यवेक्षक के रूप में विकसित करने के पक्ष में थे वे भी विशेष पर्यवेक्षण के समर्थक न थे। विश्व-युद्धों ने पर्यवेक्षण-व्यय को कम करने की ओर भी दबाव डाला। फलस्वरूप विशेष पर्यवेक्षण का प्रभाव कम हुआ। परन्तु विशेष पर्यवेक्षण ने पर्यवेक्षण के क्षेत्र में दो प्रमुख प्रवृत्तियों का विकास किया—(१) विशेष-पर्यवेक्षक बुलाने पर ही आने लगे, तथा (२) समन्वयक पर्यवेक्षक विकसित हुए जो अलग-अलग विषयों का पर्यवेक्षण न कर कक्षा-शिक्षण के सुधार के लिए समन्वित कार्यक्रम के पक्ष में थे। परन्तु फिर भी आज अमेरिका की शिक्षा में विशेष पर्यवेक्षण का समुचित महत्व है तथा इनकी संख्या आज भी पहले के ही समान काफी है।

(३) विशेष-सेवा-पर्यवेक्षण

विशेष विषयों के पर्यवेक्षण ने विशिष्ट-सेवा, शोध-कार्य, निर्देशन-सेवा तथा विशेष शिक्षा के पर्यवेक्षण की प्रवृत्तियों का विकास किया। इन विशिष्ट सेवाओं के प्रमुख अधिकारी संचालक, पर्यवेक्षक समन्वयक या संयोजक आदि कहलाये। बीसवीं सदी में इन विशिष्ट-सेवा-पर्यवेक्षकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। दृश्य-श्रृव्य-सामग्री, स्वास्थ्य-सेवा, शिविर-सेवा आदि के पर्यवेक्षण की व्यवस्था भी पाठ्यक्रम-विकास के साथ-साथ की जाने लगी है। विशेष-सेवा-पर्यवेक्षण ने विशिष्ट विषय-पर्यवेक्षण की अपेक्षा अधिक प्रशासनीय प्रभुत्व का प्रदर्शन किया है।

(४) प्रशासनीय पर्यवेक्षण

१९ वीं सदी के मध्य तक प्रशासन तथा पर्यवेक्षण में बहुत कम भेद समझा जाता था। उस समय तक शिक्षाधिकारी वर्तमान समय में मान्य किये जा रहे व्यावसायिक पर्यवेक्षण की ओर ध्यान देते ही नहीं थे। परन्तु कालान्तर में जैसे-जैसे शालाओं का वर्गीकरण हुआ तथा विषय एवं पाठ्यक्रम प्रमाणित हुए, शाला के प्रधानाचार्य या प्राचार्य का उत्तरदायित्व शाला के शिक्षण-सुधार के संबंध में अधिक मान्य किया जाने लगा।

इनके लिए यह पर्यवेक्षण संबंधी कार्य अपने अन्य उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए करना आवश्यक हो गया। आजकल अनेक स्थानों में प्राचार्य अपने सम्पूर्ण समय का लगभग एक-तिहाई भाग शिक्षण-स्तर में सुधार के लिए पर्यवेक्षण में व्यय करते हैं। शाला-प्राचार्यों के शिक्षण-पर्यवेक्षण के उत्तरदायित्व को विशेष पर्यवेक्षकों के अनुरूप विकसित किया गया है।

प्रशासनीय पर्यवेक्षण आजकल स्थानीय, राज्य तथा केन्द्र सभी स्तरों पर अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। स्थानीय स्तर पर तो अभी यह इतना विकसित नहीं है क्योंकि स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं के यहाँ जो पर्यवेक्षक रहते हैं वे समुचित योग्यता के नहीं होते हैं। अतः उनका कार्य शाला में भ्रमण करके प्रशासनीय या हाजिरी संबंधी कठिनाइयों को हल करना ही रहता है।

राज्य-स्तर पर प्रशासनीय पर्यवेक्षण राज्य-शिक्षा-विभाग के अधिकारियों द्वारा किया जाता है। यह भी देर से विकसित हुआ है परन्तु इसका स्वरूप अब स्पष्ट होता जा रहा है तथा अब यह अधिक व्यवस्थित है। फिर भी अभी राज्य-शिक्षा-विभाग के पर्यवेक्षण का संबंध पाठ्य पुस्तक, सर्टीफिकेट देने, आर्थिक सहायता देने आदि से ही अधिक रहता है। इन ऊपरी कार्यों की अधिकता के कारण, राज्य-शिक्षा-अधिकारियों की संख्या में काफी वृद्धि होने पर भी राज्य-शिक्षा-अधिकारी, कक्षा-शिक्षण का पर्यवेक्षण नहीं कर पाते हैं तथा यह कार्य शाला-प्राचार्य को ही करना पड़ता है।

केन्द्र की शिक्षा में रुचि अधिक विकसित होने तथा अधिक वित्तीय सहायता देने के कारण अमेरिका, इंगलैण्ड, भारत आदि लोकतंत्रीय देशों में भी केन्द्र द्वारा शिक्षा-पर्यवेक्षण संबंधी अनेक उत्तदायित्वों का निर्वाह किया जा रहा है। भारत में तो केन्द्रीय शैक्षणिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण-संस्थान, नई दिल्ली, शाला-शिक्षण-विकास के लिए अनेक प्रकार की सलाहकारी गतिविधियाँ व्यवस्थित करता है। परन्तु केन्द्र के प्रशासनीय पर्यवेक्षण का अभी भी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो रहा है। शहरी तथा केन्द्र द्वारा संचालित शालाओं में ही इसका प्रभाव अधिक दिखाई देता है। इस प्रकार शाला-शिक्षण में सुधार के लिए पर्यवेक्षण के व्यावहारिक स्वरूप के विकास में प्राचार्य तथा राज्य-शिक्षा-अधिकारियों का ही हाथ अधिक रहता है।

पर्यवेक्षण-दर्शन पर आधारित शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रकार

दर्शन, किसी सिद्धान्त, ज्ञान या विश्वास का आधार है जो उस प्रकार के जीवन की विधि की पुष्टि करता है। यह दर्शन चाहे किसी व्यक्ति का हो, राष्ट्र का हो या शाला का हो। शिक्षा के सिद्धान्त तथा दर्शन, पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों आदि के संबंध में काफी साहित्य विकसित किया गया है। इस साहित्य तथा सिद्धान्तों एवं दर्शन के विकास का प्रभाव, शिक्षा-पर्यवेक्षण पर होना स्वाभाविक ही है क्योंकि पर्यवेक्षण इन्हीं सभी क्षेत्रों की गतिविधियों से संबंधित है। परन्तु शिक्षा-पर्यवेक्षण के दर्शन का अभी अधिक विकास नहीं हुआ है।

अतः यह कहना अनुचित न होगा कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का अभी कोई समन्वित निश्चित दर्शन नहीं है। शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में अनेक दर्शन कार्यरत हैं। इनमें से कुछ का प्रभाव पर्यवेक्षण के लिए नेतृत्व करने वाले व्यक्ति के विचारों, तथा कार्य-विधियों पर पड़ता है। परन्तु फिर भी शिक्षा-दर्शन के विभिन्न प्रकारों के आधार पर शिक्षा-पर्यवेक्षण के प्रकार निश्चित किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण के निम्न प्रकारों पर विचार किया जाना उपयोगी होगा :

(१) अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(२) रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(३) लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(४) वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(५) स्वतंत्र शिक्षा-पर्यवेक्षण (Laissez faire)
(६) संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(७) सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(८) नेतृत्व-शिक्षा-पर्यवेक्षण।
(९) निर्देशनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण।

अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण

इस प्रकार के शिक्षा-पर्यवेक्षण में पर्यवेक्षक अपनी सत्ता या प्रभुत्व का उपयोग अधिक करता है। प्रशासनीय अधिकारियों के द्वारा किया गया पर्यवेक्षण अधिकारिक ही होता है तथा इस प्रकार के पर्यवेक्षण को अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण मानना अधिक उचित है। इस दृष्टि से अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण वह है जो किसी प्रशासनीय प्रभुत्व के साथ किया जाता है। इस प्रकार का पर्यवेक्षण कुछ निश्चित कार्य-विधियों एवं सिद्धान्तों के आधार पर किया जाता है।

अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण, प्रभुत्वपूर्ण, निरंकुश तथा आज्ञा देने पर बल देने वाला होता है। इसमें निरीक्षक तथा शिक्षक द्वारा निश्चित आदेशों तथा कार्यविधियों के अवलम्बन पर अधिक बल दिया जाता है। पर्यवेक्षक सभी बातों का ज्ञाता मान लिया जाता है तथा जो आज्ञा वह दे, उचित मान ली जाती है। अतः इस प्रकार का पर्यवेक्षण इच्छानुसार, अनियोजित तथा अव्यवस्थित रहता है। इसमें कक्षा-शिक्षण के निरीक्षण को ही पर्यवेक्षण का मुख्य आधार माना जाता है। शिक्षण की व्यवस्था, निर्देशन तथा पर्यवेक्षण में आज्ञा देना तथा उसका पालन कराना ही इस प्रकार के पर्यवेक्षण में आवश्यक तत्व रहता है।

अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में पर्यवेक्षण ऐसी पूर्व-नियोजित, तथा निश्चित विशेष विधियों को दृष्टि में रखकर किया जाता है, जिन्हें पर्यवेक्षक उत्तम मानता है। ऐसी स्थिति में शिक्षक की योग्यता का आधार, पर्यवेक्षक द्वारा मान्य विधियों का उचित ढंग से

क्रियान्वयन ही रहता है। यदि शिक्षक, पर्यवेक्षक द्वारा बतलाई हुई कार्य-विधियों को अपनाते हैं तब वे कुशल तथा योग्य शिक्षक माने जाते हैं, अन्यथा नहीं।

अधिकारिक-शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक प्रविधियों का उपयोग किया जाता है। पर्यवेक्षक निर्धारित आदेशों के आधार पर कक्षा-निरीक्षण करता है। तदुपरान्त सामूहिक बठक या व्यक्तिगत चर्चा के द्वारा शिक्षकों को उनकी सफलता या असफलता का बोध कराया जाता है। इन बैठकों में सामान्यत: उन कार्यविधियों की सराहना की जाती है जिन्हें पर्यवेक्षक अच्छा समझता है तथा उन कार्यविधियों की निन्दा की जाती है जिन्हें वह महत्व नहीं देता। इस प्रकार इसमें शिक्षक को स्वतंत्रता नहीं रहती है।

अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण से अनेक लाभ हैं जो निम्नानुसार हैं:

(१) इसमें निश्चित तथा अनुभव की गयी कार्यविधियों को ही महत्व दिया जाता है जिससे कार्य-व्यवस्था सुलभ रहती है।

(२) समय तथा साधनों की बचत होती है।

(३) सत्ता या प्रभुत्व के उपयोग के कारण कार्य शीघ्रता से होता है।

(४) पर्यवेक्षण-नियोजन सरलता से निश्चित विधियों के अनुरूप किया जा सकता है।

(५) इससे एक निश्चित स्तर तक सुधार किया जाना सम्भव रहता है।

(६) यदि इस प्रकार के शिक्षा-पर्यवेक्षण को रचनात्मक स्वरूप दिया जाये तो प्रगति बहुत शीघ्रता से होना सम्भव है।

अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—अधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं:

(१) यह एकांगी, दुरूह, असंगत तथा विशेष मनोवृत्ति से प्रभावित होता है।

(२) इसमें शिक्षकों को, कार्य या प्रयोग की स्वतंत्रता का अभाव रहता है तथा यह शिक्षकों के हितों के विपरीत रहता है।

(३) इसमें शिक्षकों के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं हो पाता है। उनकी योग्यता तथा मौलिकता का उचित सम्मान नहीं किया जाता है।

(४) यह शिक्षकों को परम्परागत, शुष्क, निर्जीव तथा निर्धारित कार्यविधियों को अपनाने पर बल देता है।

(५) यह प्रभुत्वपूर्ण अधिक होने से शिक्षकों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद होता है।

(६) इसके विध्वंसक होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

(७) यह शिक्षकों को आज्ञा-पालन पर अधिक बल देता है तथा उनमें दुर्बल प्रवृत्तियों का विकास करता है।

(८) दबावपूर्ण अधिक होने से यह असमर्थताओं तथा दुर्बलताओं को गुप्त रखने की प्रेरणा देता है। फलस्वरूप शिक्षकों का उचित मूल्यांकन नहीं हो पाता है तथा उनकी कमजोरियाँ दूर नहीं हो पाती हैं।

(९) इसमें वैज्ञानिक तथा दार्शनिक तत्वों का अभाव है। यह अमनोवैज्ञानिक भी है।

(१०) इसमें आत्म-विश्लेषण, आत्म-विकास तथा कार्य के उचित परिज्ञान के लिए आवश्यक सुविधाएँ नहीं मिल पाती हैं।

(११) यह सहयोग, सद्भाव तथा सहानुभूति को महत्व नहीं देता है।

(१२) यह द्वेष, घृणा, संकीर्ण मनोवृत्ति आदि को बढ़ावा देता है।

रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण

रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में यह विश्वास व्यक्त किया जाता है कि प्रत्येक शिक्षक, प्रत्येक बालक तथा प्रत्येक पर्यवेक्षक गुप्त रचनात्मक शक्ति रखता है जिसका विकास उपयुक्त प्रेरणाओं तथा उत्साहवर्धक स्थितियों से सम्भव है। यह पर्यवेक्षण तथा शिक्षण के क्षेत्र में नवीन एवं मौलिक बातों को लाता है। रचनात्मक पर्यवेक्षण में परम्परागत प्राचीन बातों के अवलम्बन पर बल नहीं दिया जाता है। यह नवीन बातों तथा कार्यविधियों का विकास करता है तथा कालान्तर में उन्नत प्रविधियों को विकसित करता है। इसमें आत्म-प्रकाशन, अन्वेषण, पहल, मौलिकता, प्रयोग, उन्नति आदि को महत्व दिया जाता है। रचनात्मक पर्यवेक्षण समन्वय तथा सामुदायिक विकास पर भी बल देता है। इसीलिए रचनात्मक पर्यवेक्षण को ऐसा वातावरण माना गया है जिसमें उच्च व्यावसायिक आदर्श वाले व्यक्ति सशक्त, बौद्धिक तथा रचनात्मक जीवन जीते हैं। "Creative supervision seeks to provide an environment in which men and women of high professional ideals may live a vigorous, intelligent, creative life."[1]

रचनात्मक पर्यवेक्षक के कर्त्तव्यों के संबंध में पर्यवेक्षकों एवं शिक्षा-संचालकों के विभाग ने व्यक्त किया है कि पर्यवेक्षक के लिए यह एक रचनात्मक अवसर है तथा उसका यह उत्तरदायित्व है कि वह उत्तेजक वातावरण का निर्माण करे, व्यक्ति के मौलिक तथा अनोखे योगदान की खोज करे, इस मौलिकता तथा अनोखेपन का उपयोग अन्य शिक्षकों को सम्पन्न बनाने में करे, उचित मापदण्डों से रचनात्मक कार्यों के परिणामों का मूल्यांकन करे एवं बालकों में निहित रचनात्मक गुप्त शक्तियों का अवलोकन, प्रोत्साहन तथा विकास करे।"[2]

---

[1] Department of Superintendents, Eighth Year Book : The Superintendent Surveys Supervision, Washington, D. C., N. E. A., 1930, p. 9.

[2] Department of Supervisors & Directors of Instruction, *Supervision and the Creative Teacher*, Washington D.C., N. E. A., 1932, pp. 19 and 20.

रचनात्मक पर्यवेक्षण का मतलब यह नहीं है कि हमेशा नयापन या कोई 'कौतुक उत्पन्न किया जाये। शिक्षण के पर्यवेक्षण से आत्माभिव्यक्ति के अवसर मिलना चाहिये जिससे शिक्षक अपनी मौलिकता का प्रकाशन करने में समर्थ हों। मौलिकता तथा अनोखेपन का यह प्रकाशन, शिक्षक के वर्तमान शिक्षण को उन्नत बनाये तथा भविष्य में और अधिक विकास के अवसर प्रदान करे, तब हम कहेंगे कि रचनात्मक पर्यवेक्षण का उपयोग किया गया है। यदि परिणाम अच्छे तथा उन्नत हैं, तब हम कहेंगे कि रचनात्मक पर्यवेक्षण उचित रहा है। रचनात्मक पर्यवेक्षण को सीखने तथा शिक्षण और सामुदायिक विकास की सभी प्रकार की उत्तम विधियों का विकास करना चाहिये। इसे सामाजिक तथा मनोवज्ञानिक, दोनों के रचनात्मक उत्पादन से संबंधित होना चाहिये। शेन तथा मेकस्वेन ने उस प्रकार के पर्यवेक्षण को बहुत अधिक महत्व दिया है जिसमें बालक, शिक्षक तथा पर्यवेक्षक, रचनात्मक सीखने को प्रोत्साहित करने वाली गतिविधियों तथा उद्देश्यों का विकास करने के लिए सहयोगी विधि से कार्यरत रहते हैं। उन्होंने कहा है "It is almost impossible to over-emphasize the importance of this type of creative supervision."[1]

इसलिए रचनात्मक पर्यवेक्षण का प्रमुख उद्देश्य है कि छात्र, शिक्षक तथा पर्यवेक्षक, सभी को ऐसे प्रयास करने चाहिये जिससे रचनात्मक गतिविधियों तथा कार्यों को प्रोत्साहन मिले। "The provision of an environment that will encourage creative action on the part of pupils, teachers and supervisors must be considered the major goal of creative supervision."[2]

रचनात्मक पर्यवेक्षण में पर्यवेक्षक निम्नलिखित कार्य करता है :

(१) शिक्षकों को अधिक प्रभावी शिक्षण-प्रविधियों तथा कार्यों का अन्वेषण करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

(२) शिक्षकों द्वारा किये गये रचनात्मक कार्यों के प्रति सजग रहता है तथा उन्हें इनके लिए उचित पारितोषिक देता है।

(३) छात्रों की रुचियों के विकास में शिक्षकों को आवश्यक सहायता देता है।

(४) नवीन पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों तथा कार्यक्रमों के विकास के लिए शिक्षकों को आवश्यक सहायता तथा प्रोत्साहन देता है।

(५) रचनात्मक कार्यों तथा योजनाओं का लेखा रखता है तथा शिक्षकों को कार्यान्वयन के लिए देता है।

(६) रचनात्मक पर्यवेक्षण के तत्वों तथा कार्यविधियों से परिचित रहता है।

(७) सुधारात्मक तथा जाँच संबंधी कार्य-विधियों का विकास करता है।

---

[1] Shane & McSwain, *Evaluation and the Elementary Curriculum*, Henry Holt & Co., New York, 1951, p. 274.

[2] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, Harper & Bros., New York, 1954, p. 210.

(८) शिक्षकों के विशेष गुणों तथा कौशलों का विकास करता है।

(९) रचनात्मक कार्यों के लिए उचित वातावरण का निर्माण करता है तथा उसे बनाये रखता है।

(१०) शिक्षण संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए शिक्षकों की समितियों का निर्माण करता है।

शिक्षण के क्षेत्र में रचनात्मकता के विकास के लिए (१) छात्रों को रचनात्मक कार्य करने की सुविधाएँ देना (२) शिक्षकों को रचनात्मक होने की दिशा में प्रोत्साहित करना तथा (३) रचनात्मक पर्यवेक्षण के लिए अनुकूल स्थितियों तथा अवसरों का विकास बहुत आवश्यक है। ये तीनों बातें आपस में बहुत अधिक संबंधित हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण को रचनात्मक होने के लिए इन तीनों की ओर समुचित ध्यान देना आवश्यक है।

रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण से अनेक लाभ हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं तथा जिन्हें मेलचियोर[1] ने महत्वपूर्ण माना है :

(१) यह शिक्षकों को उद्देश्य, पाठ्यक्रम, विधि, मूल्यांकन आदि के संबंध में स्वयं स्वतंत्र सोचने के लिए प्रेरणा देता है।

(२) यह शिक्षकों को पर्यवेक्षक तथा अन्य सहयोगियों के साथ ऐच्छिक रूप से सहयोग करने की प्रेरणा देता है।

(३) यह शिक्षकों को अपने विचारों के संबंध में, प्रयोग करने की प्रवृत्तियों को दबाता नहीं है। परन्तु प्रयोग के खतरों की ओर उनका ध्यान अवश्य आकृष्ट रखता है।

(४) यह शिक्षकों को अपने रूप में रहने तथा अपने ढंग से कार्य करने के लिए उत्साहित करने में अधिक सहायक होता है।

(५) यह शिक्षकों में आत्म-विश्वास तथा आत्म-मूल्यांकन की क्षमता का विकास करता है।

(६) शिक्षा-बोर्ड मिचिगन ने, हेमट्राम्क योजना के अन्तर्गत रचनात्मक पर्यवेक्षण को प्रारम्भिक स्तर पर विकास तथा उन्नत स्तर पर सुधार करने वाला बताया है।[2]

रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—शिक्षक तथा निरीक्षकों में समुचित योग्यता न होने पर, रचनात्मक पर्यवेक्षण के कारण अनेक हानियाँ होने की सम्भावनाएँ रहती हैं। इनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(१) इसमें स्वतंत्रता का दुरुपयोग होने की सम्भावनाएँ अधिक रहती हैं।

(२) इसमें विधिवत चलने वाला कार्य स्थगित हो जाता है तथा प्रयोगों में अनावश्यक रूप से अधिक समय, शक्ति तथा धन व्यय किया जाता है।

---

[1] Melchior, William T., *Instructional Supervision*, Heath & Co., Boston, 1950, p. 13.

[2] Board of Education, *The Public School Code of Hamtramck*, Michigan, 1927, pp. 141-147.

(३) प्रयोगों के परिणामों को समन्वित कर उपयोग में लाना बहुत कठिन होता है। अतः यह पुस्तकों में ही लिखे पड़े रहते हैं।

(४) पर्यवेक्षक को बहुत योग्य होना आवश्यक है। भारत जैसे देश में जहाँ उच्च मानवीय तथा भौतिक दोनों प्रकार के साधनों का अभाव है, इसका उपयोग कम ही हो सकता है।

लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण

लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण में शिक्षण की नियोजना, नेतृत्व, व्यवहार, क्रियान्विति तथा मूल्यांकन आदि में शिक्षण से संबंधित सभी व्यक्तियों का सहयोग रहता है। सिद्धान्ततः जितना अधिक आपसी सहयोग होगा, उतना ही उत्तम शिक्षा-पर्यवेक्षण होगा। लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण में आपसी सहयोग, शिक्षकों का समुचित आदर तथा उनकी रचनात्मकता पर बल दिया जाता है, शिक्षण-नियोजना ऊपर से प्रारम्भ न होकर नीचे से प्रारम्भ होती है तथा नेतृत्व अनेक व्यक्तियों के हाथों में निहित रहता है। इसमें शैक्षणिक समस्याओं पर शिक्षण से संबंधित सभी व्यक्ति विचार करते तथा सभी मिल कर उनका हल खोजते हैं। इसमें इस बात पर बल दिया जाता है कि शिक्षक सतत् विकास करता रहे तथा उसका हाथ शिक्षा के उद्देश्यों, विधियों, योजनाओं आदि के बनाने में हो जिससे वह स्वतंत्रता से अपने को गतिशील रखता हुआ कार्य कर सके।[1] अेयर ने लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण को चित्र द्वारा निम्नानुसार प्रदर्शित किया है :[2]
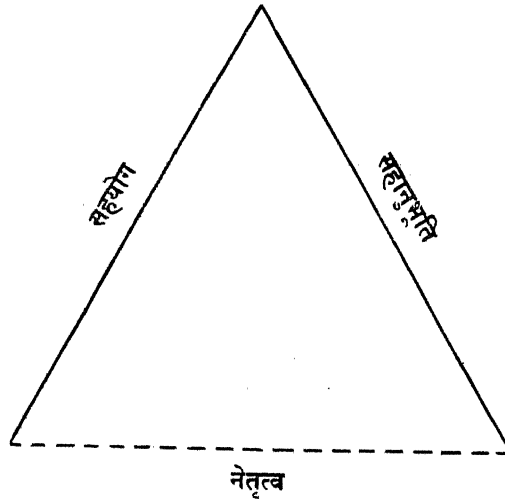
[1] Malaiya, K.C., *Shiksha Sanghathan*, Rajpal & Sons, Delhi-6, 1964, p. 82.

[2] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, Harper & Bros., New York, 1954, p. 52.

लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण का आधारभूत स्वरूप—अेयर[1] का कथन है कि "पर्यवेक्षण उस सीमा तक लोकतंत्रीय होता है जिस सीमा तक उसमें विचारशील एवं सहानुभूतिपूर्ण योग्य नेता होते हैं जो अपने उत्तरदायित्वों के संबंध में अन्यों के साथ हिस्सा बटाते हैं।" उपर्युक्त चित्र में दर्शाये तीनों तत्वों को सिद्धान्त रूप में लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण का आधार माना जा सकता है। नेतृत्व का सिद्धान्त तो शिक्षा-प्रशासन तथा पर्यवेक्षण में बहुत अधिक प्रभावी तथा गतिशील है। प्रभावी नेतृत्व में शिक्षा-पर्यवेक्षण शिक्षकों, प्राचार्यों तथा पर्यवेक्षकों के मध्य एक सहयोगी प्रक्रिया ही होना चाहिये। सहानुभूति की चर्चा शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में कम ही होती है परन्तु अेयर का कथन है कि "The principle of considerateness, although much less publicized than the principles of leadership and co-operation, is no less a piller of strength in the support of democratic supervision."[2]

उचित नेतृत्व तथा सहयोग के साथ-साथ व्यक्ति के लिए आदर, अपनी क्षमतानुसार उच्चतम सीमा तक अपना विकास करने की स्वतंत्रता तथा मानवीय आनन्द एवं सुख प्राप्त होते रहना आदि, महत्वपूर्ण आधार हैं जो लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण में सन्निहित रहते हैं। पिटनगर महोदय के अनुसार लोकतंत्रीय पर्यवेक्षण में सत्य का प्रभुत्व अधिक रहता है।

लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक गुण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) यह समूह के सभी व्यक्तियों के सहयोग से अपेक्षाकृत अधिक उत्तम कार्यविधियाँ तथा नीतियाँ विकसित करता है।

(२) यह शिक्षण से संबंधित सभी व्यक्तियों को कार्य तथा प्रयोग करने की समुचित स्वतंत्रता देता है।

(३) यह शिक्षकों तथा समूह के अन्य सभी व्यक्तियों के नैतिक स्तर को उच्च बनाये रखता है।

(४) यह शिक्षण से संबंधित सभी के आपसी तथा सामाजिक संबंधों को उत्तम बनाता है।

(५) आपसी सहयोग की वृद्धि कर यह उत्तम उपलब्धियों की वृद्धि करता है।

(६) यह शिक्षकों के व्यक्तित्व, योग्यता, भावनाओं तथा विचारों का समुचित आदर करता है।

(७) यह शिक्षण-समस्याओं को अपेक्षाकृत अच्छे ढंग से समझने में सहायक होता है।

(८) यह शिक्षण-नियोजन को सुगम तथा व्यवस्थित बनाता है।

(९) यह शिक्षण-क्षेत्र में उत्तम नेतृत्व प्रदर्शित करता है।

---

[1] *Ibid*. p. 52.

[2] Ayer, Fred C., *op. cit.*, p. 140.

(१०) यह शिक्षण-कार्य तथा व्यवस्था में समुचित लचीलापन लाने में सहायक होता है।

(११) यह शिक्षण से संबंधित सभी व्यक्तियों के सहयोग की वृद्धि करता है।

(१२) यह लोकतंत्रीय कार्य-विधि में आस्था विकसित करता है।

(१३) यह शिक्षण-क्षेत्र में व्यावहारिकता का विकास करता है।

लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक गुण होते हुए भी कुछ दोष हैं :

(१) इसमें कार्य धीमी गति से चलता है तथा उपलब्धियों के अनुपात में समय तथा शक्ति अधिक व्यय होती है।

(२) इसमें अकुशल शिक्षक अपनी न्यूनताओं तथा कमजोरियों को छिपाये रहता है।

(३) इसके क्रियान्वयन में अनेक बैठकों तथा प्रत्यक्ष भेंट आदि की आवश्यकता पड़ती है। इनकी व्यवस्था में बहुत धन, समय तथा शक्ति व्यय होती है।

(४) तात्कालिक आवश्यक स्थितियों में यह उपयोगी सिद्ध नहीं होता है।

(५) इसमें व्यक्तिगत पर्यवेक्षण की व्यवस्था कम होने से कभी-कभी शिक्षक उचित व्यक्तिगत मार्ग-दर्शन से वंचित रह जाते हैं।

(६) बहुधा यह लोकतंत्रीय स्वरूप-मात्र ही ग्रहण कर पाता है। लोकतंत्रीय आत्मा के अभाव में यह केवल ढोंग रह जाता है।

वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण

विज्ञान की विधियों का उपयोग सत्य के प्रति अधिक आग्रह के फलस्वरूप बढ़ा है। वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में वैज्ञानिक प्रविधियों का उपयोग इसलिए किया जाता है कि जिससे शिक्षा-समस्याओं का हल तथ्यों के आधार पर किया जा सके। अेयर ने इसीलिए व्यक्त किया है कि "Scientific supervision stems from the idea that the improvement of instruction may be based upon measurable and controllable items."[1]

शिक्षा के क्षेत्र में मूल्यांकन, बुद्धि का नाप, शाला-गतिविधियों के परिणामों का मापन, शिक्षण-समस्याओं के हल के लिए तथ्यों का एकत्रीकरण, विश्लेषण आदि के संबंध में विज्ञान की विधियों का उपयोग अब अधिक होता जा रहा है। अतः स्वाभावतया शिक्षकों तथा पर्यवेक्षकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण की आवश्यकता पहले की अपेक्षा आजकल अधिक की जाने लगी है। वर्तमान जगत तो विज्ञान का ही संसार है। भविष्य में विज्ञान, जीवन में और भी अधिक प्रविष्ट होगा। अतः यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होगा कि

---

[1] Ayer, Fred C., *op. cit.*, p. 25.

शालाओं के छात्रों में, अन्वेषण करने की रुचि तथा वैज्ञानिक आदतों एवं प्रवृत्तियों के प्रभावी उपयोग के कौशलों का समुचित विकास किया जाये।

अेयर ने वैज्ञानिक पर्यवेक्षण[1] के स्वरूप को निम्नाकृति द्वारा व्यक्त किया है :
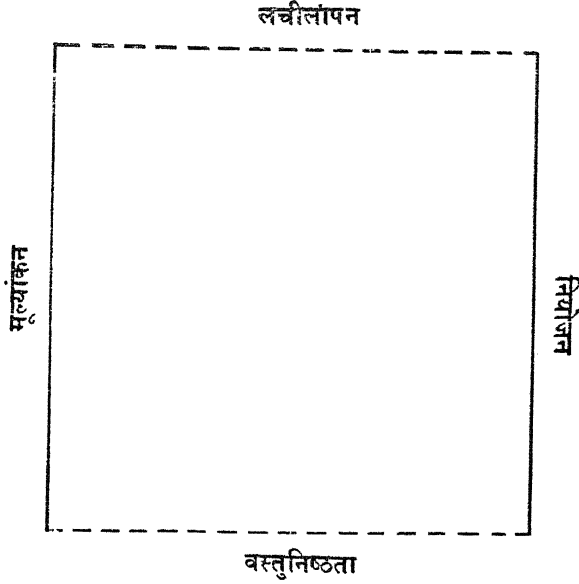
वैज्ञानिक पर्यवेक्षण का आधारभूत स्वरूप—अेयर ने वैज्ञानिक पर्यवेक्षण के चार आधार माने हैं—(१) लचीलापन, (२) नियोजन, (३) वस्तुनिष्ठता, तथा (४) मूल्यांकन। यदि ये चारों तत्व पर्यवेक्षण में हों तो उसे वैज्ञानिक पर्यवेक्षण कहेंगे। अेयर ने इसीलिए कहा है "पर्यवेक्षण, जिस सीमा तक नियोजन तथा पूर्व निर्धारित परिणामों की उपलब्धि के लिए कार्यक्रम क्रियान्वित कर सकता हो, उस सीमा तक वह वैज्ञानिक है।"[2]

बार, बर्टन तथा ब्रुकनेर[3] ने वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में निम्नांकित वैज्ञानिक मूल्यों की अपेक्षा की है :

(१) जाँच के लिए अयोग्य, असत्य एवं अविवेकपूर्ण विधियों के स्थान में व्यवस्थित तथा प्रामाणिक विधियों का उपयोग।

---

[1] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, 1954, p. 326.

[2] *Ibid.*, p. 326.

[3] Barr, Burton & Brueckner, *Supervision*, Appleton Century Crofts, 1938, pp. 39-45, 867-911, 940-941.

(२) सापेक्ष निर्णय, मनमानी, घृणा आदि के स्थान पर वस्तुनिष्ठ तथ्यों का उपयोग।

(३) परम्परागत प्राचीन पर्यवेक्षण के स्थान में उपयुक्त सिद्धान्तों तथा स्तरों का शिक्षा-पर्यवेक्षण।

(४) हमारे सिद्धान्तों तथा सामान्यीकरण के पूरक के रूप में व्यक्तियों तथा समस्याओं के संबंध में अधिकाधिक ज्ञान।

(५) पर्यवेक्षण विकासवादी तथा प्रयोगात्मक हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में प्रयोग तथा अन्वेषण को अधिक महत्व दिया जाता है। वस्तुनिष्ठ तथ्यों के उपयोग को आवश्यक माना जाता है। निर्णयों को लेने में प्रामाणिक व्यवस्थित विधियों का उपयोग होता है तथा उपयुक्त सिद्धान्तों एवं स्तरों का विकास किया जाता है।

वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक गुण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) यह लचीला, सुनियोजित एवं वस्तुनिष्ठ होता है।

(२) यह समुचित तथ्यों के आधार पर उपयुक्त मूल्यांकन पर बल देता है।

(३) यह गलत अनुभव, गलत अवलोकन तथा व्यक्तिगत राय के स्थान में तथ्यों तथा वस्तुनिष्ठ निर्णय को आवश्यक मानता है।

(४) यह शिक्षा में अन्वेषण तथा प्रयोग को बढ़ावा देता है।

(५) इसमें प्रमाणिकता अधिक रहती है।

वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष तथा कमियाँ हैं जो निम्नानुसार हैं :

(१) भावना, आदर्श, रुचियाँ, शिक्षण-स्तर, व्यक्तित्व-मापन आदि के संबंध में शिक्षा-क्षेत्र में विज्ञान की विधियों का उपयोग अभी तक नहीं हो सका है। अत: इन क्षेत्रों में यह उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता है।

(२) सत्तात्मक या आधिकारिक तथ्यों के आधार पर लिये गये निर्णयों में शंका का स्थान नहीं रहता है। अत: ये तथ्य ही आधिकारिक या सत्ता का रूप ले लेते हैं।

(३) भारत जैसे विकसित हो रहे देश में शिक्षकों तथा पर्यवेक्षकों, दोनों का ज्ञान शिक्षा-क्षेत्र में अपनायी जा रही वैज्ञानिक विधियों के बारे में नगण्य-सा ही है। अत: यहाँ इसका उपयोग करना अत्यन्त कठिन-सा ही है।

स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण (Laissez faire)

इस प्रकार के शिक्षा-पर्यवेक्षण में पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। इसमें शिक्षक शिक्षण संबंधी कार्य पूर्ण स्वतंत्रता से करते हैं तथा उन्हें किसी प्रकार के निर्देश पहले से या बाहर से नहीं दिये जाते हैं। इसमें शिक्षक की स्वतंत्र इच्छा ही सर्वोपरि रहती है क्योंकि इसमें

अहस्तक्षेप की नीति का अवलम्बन किया जाता है। बहुत ही विषम स्थिति उत्पन्न होने पर ही इसमें हस्तक्षेप किया जाता है। अतः अकुशल शिक्षकों के विकास की ओर ध्यान नहीं जाता। इसमें शाला-भवन, उपकरण, छात्रों की संख्या आदि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है तथा शिक्षण-विधियों की ओर ध्यान प्रायः नहीं दिया जाता है।

स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण किसी दर्शन या पूर्व-निश्चित उद्देश्य से निर्देशित नहीं रहता है। इसमें पर्यवेक्षण पूर्ण स्वतंत्र रहता है तथा शिक्षक की इच्छा ही सर्वोपरि रहती है। पर्यवेक्षक शिक्षकों का मार्ग-दर्शन करना आवश्यक ही नहीं समझता तथा अपेक्षा करता है कि शिक्षक स्वयं इतने विकसित रहते हैं कि वे शिक्षण-कार्य पूर्ण रूपेण उत्तम ढंग से करेंगे। फलस्वरूप शक्षकों में आत्म-विश्लेषण तथा आत्म-विकास की भावनाओं का विकास नहीं हो पाता है और वे उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों से तटस्थ एवं उदासीन रहते हैं। स्वतंत्र-पर्यवेक्षण में शिक्षकों के असावधानी तथा अनुत्तरदायित्वपूर्ण शिक्षण को प्रोत्साहन मिलता है।

स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण के अनेक गुण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) इसमें शिक्षक अपनी योग्यतानुसार शिक्षण करने के लिए स्वतंत्र रहते हैं।

(२) यह शिक्षण के भौतिक साधनों जैसे भवन, उपकरण आदि को समुचित महत्व देता है।

(३) यह आन्तरिक अनुशासन पर बल देता है। अतः शिक्षकों में किसी हानि-कारक ग्रंथि का विकास नहीं हो पाता है।

(४) अहस्तक्षेप की नीति के कारण इसमें कार्य तीव्र गति से चलता है।

स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—स्वतंत्र-शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) यह निरुद्देश्य, संकुचित, अस्पष्ट, अनिश्चित तथा अव्यवस्थित रहता है।

(२) यह कुशल तथा अकुशल शिक्षकों में भेद नहीं करता है तथा इसमें अकुशल एवं नवीन शिक्षकों को आवश्यक निर्देशन नहीं मिल पाते हैं। फलस्वरूप उनकी कठिनाइयाँ हल नहीं हो पाती हैं।

(३) आत्म-विकास तथा आत्म-विश्लेषण के अभाव के कारण अनुत्तरदायित्वपूर्ण तथा असावधानीपूर्वक किये जाने वाले शिक्षण को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) पर्यवेक्षण का कोई दर्शन अथवा सैद्धान्तिक आधार नहीं रहता है। फलस्वरूप इसमें विधियों का अभाव रहता है।

(५) इससे शिक्षण-स्तर गिरता है।

संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण

संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में शिक्षकों की समस्याएँ उपस्थित होने के पूर्व ही उनके समक्ष रखी जाती हैं तथा उन्हें सचेत किया जाता है। यह कार्य पर्यवेक्षक अपनी कुशलता,

दूरदर्शिता तथा सूक्ष्म विचार-शक्ति के कारण ही कर सकता है। सचेत करने के बाद शिक्षक सावधानियों को ध्यान में रखते हुए निर्विघ्न कार्य करते रहते हैं। इस प्रकार यह पर्यवेक्षक तथा शिक्षक दोनों के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है।

संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक गुण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) पूर्व-प्राप्त संकेतों के कारण कार्य सहज तथा अबाध्य रूप से चलता है।

(२) शिक्षक समस्याओं तथा उन्हें हल करने की विधियों से सरलता से परिचित हो जाते हैं।

(३) पर्यवेक्षक समस्याओं के प्रति अत्यधिक सजग रहता तथा उन्हें पहले से ही हल करने की विधियों को खोजता रहता है।

संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—संकेतात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में निम्नांकित दोष हैं :

(१) सभी शिक्षण-समस्याओं का पूर्व-संकेत मिल पाना कठिन रहता है। अतः शिक्षण संबंधी सभी कठिनाइयों का पूर्व-निराकरण इससे सम्भव नहीं है।

(२) शिक्षण एक कला है। यह कला अभ्यास से ही विकसित होती है। इसकी समस्याओं का बौद्धिक ज्ञान, प्रत्यक्ष समस्याओं तथा कठिनाइयों के व्यावहारिक हल में पर्याप्त सहायक नहीं होता है। अतः शिक्षकों के समस्याओं संबंधी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान के बीच खाई रहती है।

(३) यह पर्यवेक्षकों तथा शिक्षकों के बहुत अधिक कुशल होने की अपेक्षा रखता है जो सम्भव नहीं है।

सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण

भारतीय शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त अभाव तथा त्रुटियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। इन अभावों तथा त्रुटियों को दूर करने के लिए सुधारात्मक दृष्टिकोण रखकर पर्यवेक्षण करना आवश्यक है। सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण शिक्षण से संबंधित सभी अभावों तथा त्रुटियों की सूची तैयार करके गोष्ठियों तथा चर्चा के द्वारा इन कमियों की प्रतीति कराता है एवं सुधार के उपाय करता है। इन अभावों तथा त्रुटियों से शिक्षकों को अवगत कराने की कुशलता पर, इन्हें दूर करने की प्रेरणा आधारित रहती है। जितनी कुशलता से कमियों का ज्ञान कराया जायेगा उतनी ही शीघ्रता तथा तत्परता से शिक्षक उन्हें दूर करने के लिए प्रेरित होगा। सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में शिक्षक को विचार अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। फलस्वरूप वह बिना किसी संकोच के अपने विचार, कठिना-इयाँ, सुझाव आदि पर्यवेक्षक के समक्ष रखता है। इससे परस्पर चर्चाओं के द्वारा शंकाओं तथा मतभेदों का सरलता से निवारण हो जाता है। साथ ही साथ विरोध तथा द्वेष विकसित नहीं हो पाता है। इसमें सद्भाव का विकास अधिक होता है।

सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण रचनात्मक भी होता है क्योंकि इसमें स्थितियों तथा कमियों के सुधार के प्रयास ही किये जाते हैं । इसमें नये प्रयोगों तथा कार्यों को करने की प्रेरणा मिलती है ।

सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक गुण हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) यह शिक्षक को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता देता है ।

(२) यह रचनात्मक होता है ।

(३) इसमें पर्यवेक्षक तथा शिक्षकों में सद्‌भाव रहता है तथा विरोध एवं द्वेष का अभाव रहता है ।

(४) इसमें पर्यवेक्षक उचित मार्ग-दर्शन कर शिक्षकों के पथ को सुगम, प्रगतिशील तथा उन्नत बनाता है ।

(५) यह शिक्षकों को नवीन प्रयोगों को करने का प्रोत्साहन देता है ।

सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष भी हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) यह शिक्षकों के दोषों तथा अभावों की ओर ही अधिक दृष्टि रखता है ।

(२) कुशल पर्यवेक्षक के अभाव में शिक्षकों का पर्याप्त विकास सम्भव नहीं है ।

(३) अभावों तथा कमियों की ओर ही अधिक ध्यान दिलाये जाने के कारण शिक्षकों में हीन भावना का विकास सम्भव है ।

(४) दोषों को यदि कुशलता से न बतलाया जाये तो पर्यवेक्षक तथा शिक्षकों में आपसी विरोध तथा द्वेष बढ़ने की सम्भावनाएँ अधिक हो जाती हैं ।

नेतृत्व-शिक्षा-पर्यवेक्षण

"Leadership is, without doubt, the most potent influence and, at the same time, the most dramatic activity in the field of educational administration and supervision."[1] नेतृत्व का प्रभाव सभी प्रकार की सहयोगी गतिविधियों में बहुत अधिक रहता है । उचित नेतृत्व करने के लिए पर्यवेक्षक में निम्नांकित गुणों का होना आवश्यक है :

(१) सीधा उत्तम प्रभाव डालने की क्षमता ।

(२) रास्ता दिखाकर, कठिनाइयों का हल सुझाकर उचित निर्देशन देने की क्षमता ।

(३) कार्य, मत तथा विचारों के संबंध में निर्देशन देने की क्षमता ।

(४) अपने अधीन रहने वाले समूह को नियोजन, क्रियान्वयन, आदि में आवश्यक सहायता तथा निर्देशन देने की क्षमता ।

---

[1] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, p. 53.

(५) मानवीय व्यवहारों को प्रभावित करने की क्षमता।

(६) "गुड" के शिक्षा-शब्दकोश के अनुसार, दूसरों को प्रेरित, निर्देशित, आदेश देने तथा व्यवस्थित करने की क्षमता तथा तत्परता।

इस प्रकार यदि उपर्युक्त दर्शाये गुण तथा क्षमताएँ पर्यवेक्षक में हैं तभी वह शिक्षकों का समुचित नेतृत्व कर सकेगा तथा उनका उचित व्यावसायिक विकास सम्भव हो सकेगा। जेलेनी (Zeleny)[1] का कथन है कि नेतृत्व को व्यक्तित्व के गुणों के रूप में ही नहीं समझना चाहिये। 'जेलेनी', नेता को एक ऐसा व्यक्ति मानता है जिसने समूह में अनेक सामाजिक संबंधों पर प्रभुत्व प्रदर्शित किया है, तथा जो "जीवन का केन्द्र" बन गया है और जिसके पीछे अन्य लोग चलते हैं। जेलेनी की इस परिभाषा से व्यक्ति-केन्द्रित नेता की अपेक्षा समूह-केन्द्रित नेता का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है। परन्तु शैक्षणिक विकास के लिए हमें इसी प्रकार के नेता की आवश्यकता अधिक है। नेता में विशेष रूप से बुद्धि, सामाजिक परिपक्वता, आत्म-विश्वास, अधिकार करने की क्षमता, पाण्डित्य, धैर्य, सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से अच्छी स्थिति, विचारशीलता, महत्वाकांक्षा, बल, सामाजिक समंजन आदि क्षमताओं का होना आवश्यक माना जाता है।

समूह में नैतिकता बनाये रखने के लिए नेता में नैतिकता का होना बहुत आवश्यक है।

शिक्षा की दृष्टि से नेतृत्व-विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पर्यवेक्षण को जब हम नेतृत्व मान लेते हैं तब यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक में निम्नांकित कार्य करने की क्षमताओं का होना आवश्यक है :

(१) छात्रों का विकास तथा समाज के जीवन-स्तर को उच्च बनाने की क्षमता।

(२) शिक्षण के सतत् विकास करने की अल्प तथा दीर्घ कालीन योजनाओं के निर्माण तथा क्रियान्वयन की क्षमता।

(३) लोकतंत्रीय कार्यविधियों का शिक्षण में उपयोग करने की क्षमता।

(४) यथार्थवादी तथा व्यावहारिक होने की क्षमता।

(५) शिक्षण के क्षेत्र में व्यावसायिक तथा पांडित्य संबंधी कौशलों के विकास की क्षमता।

(६) शिक्षकों के संबंध में सामाजिक सूझ-बूझ रखने की योग्यता।

(७) विभिन्न शिक्षकों तथा शालाओं के कार्यों तथा गतिविधियों को समन्वित करने की योग्यता।

(८) शिक्षकों की विशेष योग्यताओं को खोजने, समझने तथा उपयोग में लाने एवं विकसित करने की क्षमता।

---

[1] Zeleny, Leslie D., Leadership, *Encyclopedia of Educational Research*, Macmillan & Co., New York, 1950, pp. 662-667.

(९) शिक्षण का व्यावसायिक विकास करने की क्षमता।

(१०) उद्देश्यों की पृष्ठभूमि में शिक्षण के उचित मूल्यांकन करने की क्षमता।

इन उपर्युक्त गुणों तथा क्षमताओं से युक्त शिक्षा-पर्यवेक्षक शिक्षण का सतत् विकास करने में सफल होगा।

वास्तव में संसार के विकसित लोकतंत्रीय देशों में शिक्षा-पर्यवेक्षण शिक्षा-नेतृत्व का स्वरूप ले रहा है।

नेतृत्व-शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—प्रमुखतः इसमें निम्नांकित गुण हैं :

(१) यह शिक्षण संबंधी नवीन गतिविधियों से परिचित कराता है।

(२) यह लोकतंत्रीय तथा यथार्थवादी होता है।

(३) यह छात्रों, शिक्षकों तथा समाज के सदस्यों में सुसंबंध स्थापित करता है।

(४) शिक्षण का उचित नेतृत्व, शिक्षकों को कार्य करने तथा उन्नति करने की प्रेरणा देता है।

(५) यह शिक्षण-समस्याओं का उचित हल निकालने की प्रेरणा देता है साथ ही क्रियाशील सहयोग भी देता है।

(६) इसमें ससी को अपनी क्षमताओं के अनुसार स्वतंत्रता से विकसित होने के अवसर मिलते हैं।

(७) यह शिक्षण-क्षेत्र में गतिशीलता तथा जीवन का समावेश करता है।

नेतृत्व-शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—नेतृत्व शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष भी हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) नेतृत्व हमेशा उत्तम तथा निस्वार्थी हो, यह सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में शिक्षण में अपेक्षित सुधार तथा उन्नति की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

(२) शिक्षा-नेतृत्व के क्षीण तथा अशक्त होने पर सभी शिक्षण-योजनाएँ व्यर्थ-सी ही पड़ी रह जाती हैं।

(३) शिक्षण-नेतृत्व की ओर हमेशा मुँह ताकते रहने से स्वयं कार्य कर विकास करने की क्षमता क्षीण हो जाती है।

(४) इसमें वे सभी दुर्गुण आ सकते हैं जो आधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में विद्यमान रहते हैं—जैसे; अधिक सत्ता का उपयोग, निरंकुश होना, दबाव का उपयोग करना, मनमानी करना आदि।

निर्देशन-शिक्षा-पर्यवेक्षण

आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उचित निर्देशन का महत्व बढ़ता जा रहा है। अनेक विद्वान तो शिक्षा को एक निर्देशन ही मानते हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण को भी इसीलिए अनेक विद्वान निर्देशन के रूप में मान्यता देते हैं। शिक्षकों तथा पर्यवेक्षकों के आपसी संबंधों पर निर्देशन निर्भर करता है। शिक्षण की दृष्टि से निर्देशन का संबंध अनेक गतिविधियों जैसे,

नवीन शिक्षकों को शाला में व्यवस्थित कराने, नवीन गतिविधियों का ज्ञान देकर शिक्षण-स्तर उच्च बनाने, शिक्षकों के नैतिक स्तर को ऊँचा रखने, अनुशासन संबंधी समस्याओं के हल करने आदि से रहता है। वही पर्यवेक्षक उचित निर्देशन कर सकता है जो कि शिक्षण-स्थितियों के संबंध में समुचित रूप से ज्ञान रखता हो, निर्देशन की विभिन्न विधियों का ज्ञाता हो, उच्च व्यक्तित्व वाला हो एवं मनुष्यता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने वाला हो, आदि। निर्देशन के समय पर्यवेक्षक को वस्तुस्थिति को ठीक से समझने का प्रयास करना चाहिये। सामान्यतः शिक्षक, पर्यवेक्षकों के विरोधी होते हैं तथा उनकी बातों को शंका से देखते हैं। अतः यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक पहले रचनात्मक संबंधों की स्थापना से आपसी सद्भाव विकसित करे, तत्पश्चात शिक्षकों को वास्तविक निर्देशन दे जिससे उनकी समस्याएँ हल हों। निर्देशन से शिक्षकों का संरक्षण होना भी आवश्यक है। यदि यह संरक्षण नहीं रहा, तब शिक्षकों की आस्था निर्देशन में नहीं रहेगी तथा विरोध विकसित होगा। निर्देशन करने वाले पर्यवेक्षक को शिक्षकों की व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक, दोनों प्रकार की समस्याओं में रुचि लेना चाहिये। इनकी पृष्ठभूमि में ही निर्देशन उचित होगा तथा आपसी सद्भाव के विकास की सम्भावनाएँ अधिक रहेंगी।

निर्देशन शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुण—निर्देशन-शिक्षा-पर्यवेक्षण के अनेक गुण हैं जिनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) इसमें पर्यवेक्षक तथा शिक्षकों के संबंध अच्छे रहते हैं तथा शिक्षकों में विकास का पर्याप्त उत्साह रहता है।

(२) इसमें समय पर उचित सहायता मिलने से शिक्षण में शीघ्रता से अपेक्षाकृत अधिक विकास होता है।

(३) इसमें कम परिश्रम से अधिक उपलब्धि होती है।

(४) इसमें शिक्षकों के संरक्षण की भावना रहने से संशय तथा विरोध को कम स्थान रहता है।

(५) शिक्षकों को ऐसा लगता है कि पर्यवेक्षक उनमें व्यक्तिगत रुचि ले रहा है। इससे आत्मीयता की वृद्धि होती है तथा कार्य अधिक होता है।

निर्देशन-शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोष—निर्देशन शिक्षा-पर्यवेक्षण में अनेक दोष हैं जिनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) बड़ी संख्या में कुशल निर्देशन करने वाले पर्यवेक्षकों का मिलना अत्यन्त कठिन है। अतः इसके विकास में अवरोध तथा कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं।

(२) निर्देशक आधिकारिक भावना से भी पर्यवेक्षण कर सकता है। अतः इसमें वे सभी दोष आ सकते हैं जो आधिकारिक शिक्षा-पर्यवेक्षण में रहते हैं।

(३) इसमें पर्यवेक्षण का दबाव तथा नियंत्रण हमेशा बना रहता है।

अध्याय १८

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

सीमान्डस् ने शिक्षकों तथा पर्यवेक्षक के सुसंबंधों पर अधिक बल दिया है। हैरिक तथा कोरी ने भी शिक्षकों में अनुकूलन संबंधी क्षमता होना आवश्यक माना है। जार्डन के विचार हैं कि "Actually teachers differ so much, class rooms differ so much, and methods differ so much that it is almost impossible to determine the protocols of visiting."[1] इस दृष्टि से यह निश्चित करना कठिन है कि किस समय कक्षा-पर्यवेक्षण के लिए जाना उपयुक्त होगा। परन्तु कक्षा-पर्यवेक्षण के निम्नांकित उद्देश्य अवश्य निश्चित किये जा सकते हैं:

(१) अनुभवहीन शिक्षक की आवश्यक सहायता करना।

(२) अनुभव वाले शिक्षक के विकास में सहायक होना।

(३) अप्रशिक्षित शिक्षक का मार्ग-दर्शन करना।

(४) शिक्षक के निमंत्रण पर कक्षा-निरीक्षण करके उत्तम शिक्षण का अवलोकन करना।

(५) शिक्षक के द्वारा दृश्य-श्रव्य सामग्री के उपयोग का उचित मूल्यांकन करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को हम दो भागों में विभक्त करते हैं।

(१) शैक्षणिक कार्यक्रमों के सर्वांगीण स्वरूप की जानकारी के लिए पर्यवेक्षण।

(२) शिक्षण-समस्याओं के उचित हल के लिए पर्यवेक्षण।

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के ये उपर्युक्त दर्शाये दोनों रूप उपयोगी तथा महत्वपूर्ण हैं। परन्तु अनेक विद्वानों का विचार है कि शिक्षण-समस्याओं के हल के लिए ही कक्षा-पर्यवेक्षण किया जाना चाहिये। शिक्षण-कार्यक्रमों के स्वरूप को जानने के लिए कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण करना आवश्यक नहीं है। परन्तु मेरी राय में यह उचित होगा कि दोनों ही उद्देश्यों से कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण किया जाये।

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण का स्वरूप

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के लिए यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक, छात्रों के शिक्षण का पर्यवेक्षण करें। यदि शिक्षण-स्तर में उन्नति करना है तो यह बहुत आवश्यक है कि पर्यवेक्षक

---

[1] Jordon, William C., *Elementary School Leadership*, McGraw Hill Book Co., New York, 1959, p. 195.

काफी समय ऐसे स्थानों में व्यय करे जहाँ छात्र सीख रहे हों। छात्रों के कार्य करते समय, खेलते समय, मैदान में चलते-फिरते समय तथा पाठ्यक्रमगामी गतिविधियों को करते समय उन पर पर्यवेक्षक की दृष्टि होना आवश्यक है। कहने का अर्थ यह है कि कोई भी गतिविधि ऐसी न हो जिसका अवलोकन पर्यवेक्षक ने न किया हो। इस अवलोकन से पर्यवेक्षक बहुत सी बातों का ज्ञान प्राप्त करता है। छात्र के वातावरण, स्वास्थ्य, रुचियों, सहयोग, स्वतंत्रता, सुरक्षा, सुख आदि सभी के संबंध में पर्यवेक्षक को अनेक तथ्यों की जानकारी होती हैं। इन्हीं तथ्यों के आधार पर वह यह भी ज्ञात कर सकता है कि छात्रों का समुचित विकास सही दिशाओं में हो रहा है या नहीं। इससे उसे इस बात का ज्ञान भी होता है कि शिक्षक की स्थिति छात्रों के मध्य कैसी है। वास्तव में शिक्षक का आदर छात्र करते हैं या नहीं। शिक्षकों के संबंध में भी यह अवलोकन उसे समुचित ज्ञान कराता है। पाठ्यक्रम वे पूर्ण कर सके हैं या नहीं ? शिक्षण के समय शिक्षक व्यक्तिगत रुचियों की विभिन्नता का ध्यान कैसे रखता है ? या नहीं रखता है ? शिक्षक कक्षा-व्यवस्था कैसी करता है ? उपर्युक्त अनेक तथ्यों का ज्ञान उसे कक्षा-शिक्षण-अवलोकन से होता है। शिक्षण की अच्छाइयों तथा दोषों का ज्ञान भी वह इसी अवलोकन के आधार पर प्राप्त करता है। क्रासबाई (Crosby) का कथन है कि पाठ्यक्रम संबंधी कठिनाइयों तथा उसमें आवश्यक परिवर्तनों का ज्ञान भी कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण से होता है।[१]

शिक्षक सहायक सामग्री का किस प्रकार उपयोग कर रहा है, शिक्षण-गतिविधियों का स्वरूप कितना तथा किस प्रकार विकसित कर रहा है, छात्र इनमें किस प्रकार भाग ले रहे हैं, क्या दृश्य एवं श्रव्य सहायक सामग्री का छात्र समुचित उपयोग कर रहे हैं, आदि बातों का ज्ञान पर्यवेक्षक को कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण द्वारा होता है।

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण शालाओं की भौतिक सुविधाओं के समुचित ज्ञान के लिए भी बहुत आवश्यक है। आजकल शालाओं की भौतिक स्थितियों के शिक्षण-गतिविधियों पर प्रभाव के संबंध में अनेक शोध-अध्ययन किये गये हैं। शाला-भवन के स्थान, प्रकाश, आवाज तथा वायुवीजन संबंधी सुविधाओं के शिक्षण पर प्रभाव का अन्वेषण अनेक विद्वानों ने किया है। फिर भी भारत जैसे विकसित हो रहे देश में अनेक क्या, अधिकांश शालाओं के भवनों की स्थिति बहुत अनुकूल नहीं कही जा सकती है। विशेषतः किराये की इमारतों की दशा तो प्रतिकूल ही कही जायगी।

शाला-उपकरणों के उचित माप आदि के संबंध में भी पर्यवेक्षक कक्षा-शिक्षण-अवलोकन से ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। भौतिक सुविधाओं के संबंध में पर्यवेक्षक एकदम सहायक तो नहीं हो सकता है परन्तु यदि शिक्षक तथा पर्यवेक्षक दोनों भौतिक स्थितियों के संबंध में सजग तथा प्रयत्नशील रहें तो कालान्तर में स्थिति में आवश्यक सुधार अवश्य होगा।

---

[1] Crosby, Muriel, *Supervision as Co-operative Action*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1957, p. 52.

इस तरह हम देखते हैं कि कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण से पर्यवेक्षक को कक्षा-शिक्षण संबंधी अनेक तथ्यों का ज्ञान होता है। इसके आधार पर ही आगे के सुधार तथा विकास का कार्य-क्रम विकसित होना चाहिये। अतः कक्षा-पर्यवेक्षण के समय पर्यवेक्षक को इन सभी बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण-विधियाँ

कक्षा-शिक्षण की स्थितियाँ इतनी विभिन्न हैं कि किसी एक विधि का निर्धारण करना कठिन है। फिर भी यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक शिक्षण की अधिक से अधिक स्थितियों का पर्यवेक्षण समुचित समय तक करे। इससे उसे कक्षा-शिक्षण संबंधी अनेक तथ्यों का ज्ञान होगा।

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के लिए अनेक विधियों का उपयोग किया जा सकता है। इनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं:

(१) कक्षा तथा शाला में शिक्षण प्रारम्भ होने से पूर्व या शिक्षण समाप्त होने के उपरान्त जाना

रिक्त कक्षाओं तथा शाला से शिक्षण-संबंधी अनेक तथ्यों का ज्ञान हो सकता है। कक्षा-सफाई, श्यामपट-कार्य, कक्षा-सजावट, भौतिक स्थितियाँ, उपकरण आदि अनेक बातों के संबंध में समुचित ज्ञान इन अवसरों पर ही होता है। शिक्षण-वातावरण का ज्ञान भी उसे इसी समय हो जाता है।

(२) शाला लगने पर कई बार अवलोकन के लिए कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

शाला लगने पर कक्षाओं में ५ या १० मिनट तक पर्यवेक्षण के लिए अनेक बार विभिन्न समयों में जाने से शिक्षकों के शिक्षण-स्तर, शिक्षक-छात्र-संबंध, शिक्षण की स्थितियों आदि का ज्ञान होता है।

(३) सह-क्रिया के लिए कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

कक्षा-शिक्षण का आधुनिक रूप यह है कि पर्यवेक्षक कक्षा-पर्यवेक्षण के लिए जाये तथा शिक्षक और छात्रों के साथ शिक्षण-क्रिया, प्रयोग या किसी गतिविधि में स्वयं भाग लेकर आवश्यक सहयोग प्रदान करे। सह-कार्य करने में पर्यवेक्षक को शिक्षण-स्थितियों के गुण तथा दोषों का समुचित ज्ञान होगा तथा उसके सहयोग से शिक्षण की कठिनाइयाँ तत्काल ही हल होंगी। पर्यवेक्षक, निबन्ध-कापियों के जाँचने तथा किसी योजना के क्रियान्वयन में शिक्षकों का समुचित रूप से सहायक हो सकता है। इस प्रकार अपने सहयोग से वह शिक्षकों तथा छात्रों के समक्ष यह प्रदर्शित कर सकता है कि वह वास्तव में एक सहायक है। परन्तु पर्यवेक्षक को कक्षा का प्रधान सदैव शिक्षक को ही मानना चाहिये। उसे अपने हाथ में कक्षा कभी नहीं लेनी चाहिए। वरन् सहायक-मात्र ही रहना चाहिये।

(४) आत्म मूल्यांकन के लिए कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

फ्रेन्ल्डर्स का विचार है कि शिक्षक आत्म-मूल्यांकन के लिए अपने द्वारा किये गये कक्षा-शिक्षण का टेप रिकार्ड करके सुने या कक्षा-शिक्षण के संबंध में अपने अनुभव लिपिबद्ध कर स्वयं विकास के लिए आत्म-विश्लेषण करे। ग्रे महोदय ने भी आत्म-विश्लेषण के गुणों के विकास के लिए अपने शिक्षण को लेखबद्ध कर उचित मूल्यांकन करने की प्रवृत्ति के विकास को उपयोगी माना है।

शिक्षक-पर्यवेक्षक-संवाद भी आत्म-विश्लेषण के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अनेक विद्वानों का विचार है कि आत्म-विश्लेषण के आधार पर विकास अधिक द्रुत गति से होता है।

(५) शिक्षकों के निमंत्रण पर कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण करना

शिक्षण की किसी समस्या के हल के लिए शिक्षकों के निमंत्रण पर भी कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण करना उपयोगी रहता है। इस प्रकार का कक्षा-पर्यवेक्षण ऐसे समय करना चाहिये, जब कि योजना चल रही हो या कठिनाई उपस्थित होने की स्थितियाँ विद्यमान हों। इस प्रकार के पर्यवेक्षण के लिए समुचित तैयारी आवश्यक रहती है। शिक्षक-पर्यवेक्षक-चर्चा भी आवश्यक रहती है। कभी-कभी स्थितियों संबंधी अवलोकित बातों की टिप्पणी लेना भी आवश्यक रहता है। कभी-कभी किसी समस्या के हल के लिए अनेक बार अवलोकन करना भी आवश्यक हो सकता है। अतः एक ही अवलोकन से समस्या के हल होने की आशा हमेशा करना उचित नहीं है।

(६) शाला के भीतर, विभिन्न कक्षाओं में अवलोकन के लिए शिक्षकों का जाना

शाला के भीतर अन्य शिक्षकों की कक्षाओं के शिक्षण के अवलोकन से भी शिक्षक काफी सीखते हैं। हेमॉक तथा ओइंग्स[1] का विचार है कि अपने विषयों के अतिरिक्त भी अन्य विषयों के शिक्षण के अवलोकन से लाभ होते हैं। पाठ्यक्रम के आपसी संबंधों का उन्हें ज्ञान होता है। अनेक नयी विधियों का ज्ञान उन्हें हो जाता है। अपने ही विषय की ऊँची कक्षाओं तथा नीची कक्षाओं के अवलोकन से शिक्षण-स्तर का ज्ञान होता है। यह ज्ञान अपनी कक्षा-शिक्षण के सुधार में भी सहायक होता है। अपनी शाला की अन्य कक्षाओं के शिक्षण-पर्यवेक्षण से शिक्षकों का दृष्टिकोण विस्तृत होता है।

इस प्रकार का अवलोकन शिक्षकों को अपने रिक्त-कालांश में करना चाहिये। परन्तु यदि आवश्यक हो तो शाला के अन्य कालांशों में भी इस प्रकार के पर्यवेक्षण की व्यवस्था की जा सकती है।

---

[1] Hammock & Owings, *Supervising Instruction in Secondary Schools*, McGraw Hill Book Co., New York, 1955, p. 178.

(७) अन्य शालाओं में शिक्षकों द्वारा कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

इस प्रकार के कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण से विकास की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं परन्तु इसका उपयोग सामान्यतः बहुत कम किया जाता है। शिक्षकों को विभिन्न शालाओं में कक्षा-शिक्षण-अवलोकन के लिए जाना चाहिये। यदि एक या दो सप्ताह किसी अन्य शाला में पर्यवेक्षण के लिए मिलें तो अधिक लाभ होने की सम्भावनाएँ रहती हैं।

अन्य शालाओं में उत्तम स्तर की कक्षाओं का शिक्षण-पर्यवेक्षण अधिक लाभप्रद होता है। शालाओं में जाकर केवल कक्षा-शिक्षण ही न देखा जाये वरन् प्रयोग-शालाएँ, खेल के मैदान, अभिलेख, गतिविधियों आदि अन्य बातों का अवलोकन किया जाना चाहिये। इस प्रकार अन्य शालाओं की शिक्षण तथा अन्य गतिविधियों के सुनयोजित अवलोकन से लाभ ही होता है। अवलोकन के पूर्व तथा उपरान्त शिक्षकों से चर्चा, शिक्षकों के कार्यों में सहयोग आदि का ध्यान भी रखा जाना आवश्यक है। इससे अनेक समस्याओं का स्पष्टीकरण होता है तथा अनुभवों के आदान-प्रदान से शिक्षण संबंधी विधियों का समुचित ज्ञान बढ़ता है। अतः कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण, अन्य शालाओं के कक्षा-शिक्षण-अवलोकन को प्रोत्साहित करता है।

अध्याय १९

व्यक्तिगत शिक्षण-सुधार के लिए शिक्षा-पर्यवेक्षण की प्रविधियाँ

शिक्षण में उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि शाला के प्रत्येक शिक्षक का आवश्यक तथा अनुकूल विकास हो। शाला-शिक्षकों में यह विकास तथा परिवर्तन, उनके व्यक्तिगत अनुभवों तथा सामूहिक अनुभवों के आधार पर होता है। वास्तव में ये व्तक्तिगत तथा सामूहिक अनुभव एक दूसरे के पूरक होते हैं। इनमें से कुछ अनुभव ऐसे भी होते हैं, जिन्हें स्थिति-विशेष के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामूहिक दोनों कह सकते हैं, जैसे यदि पाठ-प्रदर्शन किसी शिक्षक को, उसके विकास या उसकी किसी कठिनाई को हल करने के लिए कराया गया है तब वह व्यक्तिगत अनुभव होगा परन्तु यदि यही प्रदर्शन किसी समूह के विकास या किसी नवीन विधि के क्रियान्वयन को दिखाने के लिए व्यवस्थित किया गया है तब वह सामूहिक अनुभव होगा। इस तरह हम देखते हैं पर्यवेक्षण-प्रविधियाँ, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, दो प्रकारों में से किसी एक के अन्तर्गत हो सकती हैं। यहाँ पर्यवेक्षण-प्रविधियों को इसीलिए विवेचना की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) व्यक्तिगत रूप से शिक्षकों के शिक्षण को उन्नत करने वाली (२) समूह में शिक्षकों के शिक्षण को उन्नत करने वाली।

शिक्षक के व्यक्तिगत शिक्षण को उन्नत करने वाली प्रविधियाँ

शिक्षण-पर्यवेक्षण की निम्नांकित प्रविधियाँ शिक्षक की व्यक्तिगत उन्नति के लिए उपयोगी रहती हैं :

(१) शिक्षकों की नियुक्ति।
(२) कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण।
(३) कक्षा-प्रयोग।
(४) व्यावसायिक उच्च शिक्षा।
(५) व्यक्तिगत गोष्ठियाँ।
(६) प्रदर्शन-शिक्षण।
(७) मूल्यांकन।

(८) व्यावसायिक संगठनों की गोष्ठियाँ।
(९) व्यावसायिक साहित्य-अध्ययन।
(१०) व्यावसायिक साहित्य-लेखन।
(११) शैक्षणिक सहायक सामग्री-निर्माण।
(१२) व्यावसायिक स्टाफ का चुनाव।
(१३) पर्यवेक्षण संबंधी बुलेटिन।
(१४) अविधिक सम्पर्क।
(१५) अन्य अनुभव।

(१) शिक्षकों की नियुक्ति

सामान्यत: शिक्षकों की नियुक्ति प्रशासन का कार्य समझा जाता है। परन्तु शैक्षणिक दृष्टिकोण से यह पर्यवेक्षण का कार्य होना चाहिये। शिक्षक को बालकों के समान अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने देना, अधिक उपयोगी रहता है। शिक्षा-प्रशासक नवीन अनुभव-विहीन शिक्षकों को दूरस्थ, कठिनाई वाले स्थानों में नियुक्त करके भेजते हैं जबकि सरल स्थानों में इन्हें भेजना अधिक उपयुक्त होता है। इसी प्रकार शालाओं में कार्य-वितरण करते समय शिक्षा-प्रशासक तथा पर्यवेक्षक को, व्यक्तिगत योग्यताओं तथा रुचियों के अनुरूप शिक्षकों का कार्य देना चाहिए। इस दृष्टि से सभी शिक्षकों को समान देखना उचित नहीं है। प्रत्येक शिक्षक को उसकी व्यक्तिगत योग्यता तथा आवश्यक-ताओं की पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिये।

(२) कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण

कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के सम्बन्ध में अत्यन्त विवादग्रस्त तथा विरोधी विचार विद्वानों के हैं। ये विवाद पर्यवेक्षण की विधियों तथा स्थितियों के संबंध में ही हैं। इस संबंध में प्राचीन तथा परम्परागत विचार यह है कि पर्यवेक्षक, शिक्षक की कक्षा में जब चाहे जा सकता है तथा पर्यवेक्षण कर सकता है। परन्तु इस संबंध में आधुनिक विचार यह है कि शिक्षक से अच्छे संबंध की स्थापना के उपरान्त ही पर्यवेक्षक को शिक्षक की कक्षा में पर्यवेक्षण के लिए जाना चाहिये। कक्षा में पर्यवेक्षण के लिए जाने के संबंध में निम्नांकित बातें विचारणीय हैं:

(१) शिक्षक तथा पर्यवेक्षक के मध्य अच्छे संबंध स्थापना के पश्चात्।
(२) शिक्षकों के निमंत्रण पर।
(३) पर्यवेक्षक अच्छी तैयारी के बाद कक्षा में पर्यवेक्षण के लिए जाये।
(४) शिक्षक के अनजाने जाये तथा उसे पता न चले कि पर्यवेक्षण किया जा रहा है।
(५) कक्षा-पर्यवेक्षण के पूर्व शिक्षक से विचार-विमर्ष किया जाये।

(६) कक्षा-पर्यवेक्षण के उपरान्त विचार-विमर्ष किया जाये।
(७) पर्यवेक्षण, सीखने की सम्पूर्ण स्थितियों में किया जाये।
(८) पर्यवेक्षक केवल गुणों की ओर विशेष ध्यान दे।
(९) पर्यवेक्षण के समय, पर्यवेक्षक उन बातों का आभास न होने दे जो उसे अरुचिकर लगी हैं।

उपर्युक्त दर्शाये गये विचारों के अतिरिक्त भी अन्य अनेक विचार हैं, परन्तु इनमें से किसका उपयोग कब किया जाये, यह स्थिति-विशेष पर निर्भर करता है। कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के संबंध में विस्तृत विवेचना आगे चलकर अलग से एक अध्याय में की गयी है।

(३) कक्षा-प्रयोग

शिक्षकों को कक्षा-शिक्षण संबंधी नवीन प्रयोगों, विधियों तथा सामग्रियों के संबंध में प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहन देना आवश्यक है। शिक्षकों द्वारा नवीन प्रयोगों के सम्बन्ध में अमेरिका में जो अध्ययन किये गये हैं, उनसे स्पष्ट होता है कि ७५ प्रतिशत से ८० प्रतिशत शिक्षक, गणित तथा पठन के सम्बन्ध में प्रयोग करने के पक्ष में रहते हैं। शिक्षण-अभ्यासों के सम्बन्ध में प्रयोग, साधारण परिवर्तन से लेकर वृहत् पैमाने पर परिवर्तन या शोध-कार्य के रूप में हो सकता है। ग्विन (Gwynn) महोदय[1] कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण की दृष्टि से प्रयोगों के सम्बन्ध में निम्नांकित सावधानियाँ रखना आवश्यक समझते हैं:

(१) प्रयोगों के संबंध में पालकों तथा छात्रों, दोनों को ज्ञान कराना आवश्यक है।

(२) प्रयोगों के संबंध में पालकों तथा छात्रों का सहयोग प्राप्त करना चाहिये।

(३) प्रयोग की असफलता के लिए शिक्षकों को दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिये।

(४) प्रयोग के लिए चुनी गयी विधि ऐसी होनी चाहिए कि उससे छात्रों को किसी प्रकार की हानि न हो।

(५) प्रयोग में लायी जा रही नवीन विधि में पुरानी विधि से अधिक उत्तम होने की सम्भावनाओं का होना जरूरी है।

(४) व्यावसायिक उच्च शिक्षा

शिक्षकों को अपने व्यवसाय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरणा देना, व्यावसायिक विकास के हितों में रहता है। सामान्यतः अनेक पर्यवेक्षक तथा निरीक्षक उच्च

---

[1] Gwynn, I. Minor, *Theory and Practice of Supervision*, Dodd, Mead & Co., New York, 1961, p. 339 and 340.

व्यावसायिक शिक्षा का विरोध करते हैं। परन्तु यह उचित होगा कि कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण को उन्नत करने के लिए शिक्षकों को उच्च-व्यावसायिक शिक्षण के लिए उत्प्रेरित किया जाये।

(५) व्यक्तिगत गोष्ठियाँ या संवाद

शिक्षक से व्यक्तिगत विचार-विमर्ष या संवाद कक्षा-शिक्षण के स्तर-विकास में बहुत अधिक सहायक होता है। संवाद या विचार-विमर्ष, कक्षा-शिक्षण के अवलोकन के पहले या उपरान्त किया जाता है। अतः दोनों प्रविधियाँ, साथ-साथ चलने वाली क्रियायें हैं। व्यक्तिगत विचार-विमर्ष या संवाद के संबंध में कोई निश्चित रूपरेखा निर्धारित नहीं की जा सकती है। संवाद या विचार-विमर्ष निम्नांकित बातों के कारण आवश्यक है:

(१) शिक्षक अपने कक्षा-शिक्षण के उपरान्त पर्यवेक्षक से अपने शिक्षण के संबंध में राय जानना चाहते हैं।

(२) शिक्षक अच्छे कक्षा-शिक्षण के उपरान्त प्रशंसा पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

(३) विचार-विमर्ष से कठिनाई सरलता से सुलझायी जा सकती है।

(४) अप्रशिक्षित, अल्प-प्रशिक्षित तथा अनुभवहीन शिक्षकों के कक्षा-शिक्षण-स्तर में सुधार के लिए कक्षा-अवलोकन ही पर्याप्त नहीं है, सुनियोजित संवाद भी आवश्यक है।

विचार-विमर्ष या संवाद क्या है ?

इन्हें व्यक्तिगत गोष्ठियाँ भी कहते हैं। बर्टन तथा ब्रुकनेर ने व्यक्तिगत संवाद या विचार-विमर्ष को ऐसा सम्मेलन माना है जहाँ दोनों पक्ष, स्थिति को सुधारने में समान रुचि रखते हैं। प्रत्येक दल के विचार तथा तथ्य, चित्र को पूर्ण करने के लिए आवश्यक रहते हैं। तथ्यों तथा विचारों का आदान-प्रदान, समस्या के हल की ओर केन्द्रित रहता है, किसी एक व्यक्ति की ओर नहीं।[1] उपर्युक्त दर्शाये अनुसार, व्यक्तिगत संवाद बहुत महत्वपूर्ण, मौलिक तथा उपयोगी होते हैं। कक्षा-शिक्षण संबंधी समस्याओं को हल करने में इनका उपयोग अवश्य किया जाना चाहिये।

व्यक्तिगत विचार-विमर्ष या संवाद को उपयोगी बनाने के लिए सुझाव

(१) व्यक्तिगत संवाद के लिए पर्यवेक्षक तथा शिक्षक, दोनों के द्वारा पर्याप्त तैयारी की जानी चाहिये।

(२) इसे कक्षा-निरीक्षण के तत्काल बाद ही किया जाना चाहिये।

(३) इसे शाला-समय में ही व्यवस्थित किया जाना चाहिये।

---

[1] Burton, William, H., & Brueckner, Leo J., *Supervision—A Social Process*, Appleton Century Crofts, New York, 1955, p. 168.

(४) यह जितना अधिक अविधिक होगा उतना ही अधिक प्रभावी तथा उपयोगी होगा।

(५) इसे ऐसे स्थान में व्यवस्थित किया जाना चाहिये, जहाँ दोनों को सर्वाधिक सुविधा हो।

(६) संवाद के विभिन्न पक्षों को लिखकर भी रखना लाभदायक होता है।

(७) संवाद द्वारा लिये गये निर्णयों को लिखकर दोनों पक्षों में वितरित करना चाहिये।

(८) व्यक्तिगत गोष्ठियों को शिक्षण-समस्या-हल का महत्वपूर्ण उपाय समझना चाहिये।

(६) प्रदर्शन-शिक्षण

प्रदर्शन-शिक्षण, व्यक्तिगत तथा सामूहिक, दोनों रूपों में प्रयुक्त किया जा सकता है। पर्यवेक्षक से यह अपेक्षा होती है कि वह शिक्षक से कक्षा तब तक न लेगा, जब तक कि शिक्षक स्वयं न कहे। परन्तु प्रदर्शन-शिक्षण, उत्तम शिक्षण के अवलोकन का साधन है जिसके माध्यम से शिक्षण-कौशल तथा कला की बारीकियों से शिक्षक को परिचित कराया जा सकता है। स्पीयर्स महोदय का विचार है कि अन्य शिक्षकों के उत्तम कार्यों के अवलोकन की परम्परा अच्छी है, जो शिक्षक-प्रशिक्षण से प्रारम्भ होती तथा सम्पूर्ण व्यावसायिक जीवन भर चलती है।[1]

प्रदर्शन-शिक्षण एक सेवा-पथ-प्रदर्शन है, जिसके माध्यम से नवीन या अकुशल शिक्षक शिक्षण संबंधी अपनी समस्याओं को स्पष्ट रूप से हल होता हुआ देखता है। फलस्वरूप उसे अन्धकार में, भूल और प्रयास-विधि से सीखना नहीं पड़ता। प्रदर्शन-शिक्षण से उसे विश्वास तथा कुशलता से निश्चित दिशा में उत्साहपूर्वक कार्य करने का निर्देश मिलता है। यही कारण है कि प्रदर्शन-शिक्षण, शिक्षण के विकास तथा उन्नति के लिए एक महत्वपूर्ण प्रविधि के रूप में मान्य किया जाता है।

प्रदर्शन-शिक्षण को प्रभावी तथा उपयोगी बनाने के लिए निम्नांकित सावधानियों को ध्यान में रखना चाहिये :

(१) प्रदर्शन-शिक्षण सामान्य कक्षा-शिक्षण के अनुरूप ही व्यवस्थित होना चाहिये।

(२) इसे सामान्यतः निमंत्रण पर व्यवस्थित किया जाना चाहिये।

(३) प्रदर्शन-शिक्षण, अच्छे सहयोगी छात्रों की कक्षा में किये जाने से अधिक प्रभावी होता है।

(४) प्रदर्शन-शिक्षण बिना पूर्व तैयारी के नहीं किया जाना चाहिये।

(५) प्रदर्शन के तत्काल बाद विचार-विमर्ष अवश्य किया जाना चाहिये।

---

[1] Spears, Harold, *Improving the Supervision of Instruction*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, 1955, p. 273.

(६) प्रदर्शन हमेशा एक ही शिक्षक या एक ही कक्षा के छात्रों द्वारा व्यवस्थित नहीं किया जाना चाहिये।

(७) प्रदर्शन का मूल्यांकन, अवलोकन-कर्त्ताओं तथा छात्रों द्वारा किया जाना चाहिये।

(८) टीम-टीचिंग के प्रदर्शन में शिक्षण के लिए वृहत् समूह चुनना चाहिये।

(७) मूल्यांकन

"मूल्यांकन सीखने की स्थितियों के सुधार के लिए की जाने वाली आवश्यक प्रक्रिया है।"[१] अतः आत्म-मूल्यांकन, पर्यवेक्षकों द्वारा मूल्यांकन तथा छात्रों द्वारा मूल्यांकन आवश्यक रूप से व्यवस्थित किया जाना चाहिये। पर्यवेक्षकों की गतिविधियों का मूल्यांकन स्टाफ के अन्य सदस्यों द्वारा भी किया जाना उपयोगी होता है। पर्यवेक्षक को ऐसी स्थितियों के विकास के लिए सचेष्ट रहना चाहिये कि जिनमें, शिक्षण से संबंधित सभी व्यक्ति उन्नति करने के लिए सजग रहें। शिक्षण-विकास के लिए कला-शिक्षण, पाठ्यक्रम, सहायक सामग्री के उपयोग, श्यामपट-कार्य, प्रश्नोत्तर, भौतिक साधन, आदि के विकास की ओर ध्यान देना बहुत जरूरी है। इन सभी क्षेत्रों में विकास के लिए व्यक्तियों को प्रोत्साहित करते रहना, शिक्षण-विकास की दृष्टि से बहुत आवश्यक है।

इसके लिए सतत् मूल्यांकन करना लाभप्रद रहता है। परन्तु मूल्यांकन का अर्थ केवल दोष खोजना नहीं है। गुणों को खोजने से व्यक्ति और अधिक प्रगति के लिए प्रोत्साहित होता है। अतः शिक्षण-विकास के लिए दोषों की अपेक्षा गुणों की ओर अधिक बल देना चाहिये।

शिक्षण का मूल्यांकन छात्रों, शिक्षकों, पर्यवेक्षकों आदि के द्वारा किया जा सकता है। इसके लिए अनेक साधन विकसित किये गये हैं। शिक्षक स्वयं भी अपने शिक्षण का मूल्यांकन कर प्रगति कर सकते हैं। मूल्यांकन की प्रक्रिया, विकास के लिए आवश्यक निर्देशन देती है। अतः कक्षा-शिक्षण का मूल्यांकन आवश्यक है। अन्य शालाओं के शिक्षण-मूल्यांकन के लिए शिक्षकों की समितियों में भी रखा जा सकता है।

(८) व्यावसायिक संगठनों की गोष्ठियाँ

शिक्षकों को व्यावसायिक संगठनों की स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय गोष्ठियों में सम्मिलित होने तथा भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिये। परन्तु यह कार्य उन पर थोपा नहीं जाना चाहिये। शिक्षकों को इन गोष्ठियों में भेज कर शिक्षण संबंधी नवीन चर्चाओं, साहित्य आदि से परिचित होने के अवसर अवश्य प्रदान करना चाहिये। आजकल इन गोष्ठियों के कार्यक्रमों में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। एक ही प्रकार के या

---

[1] Neagley, Ross L., & Evans, N. Dean, *Handbook for Effective Supervision of Instruction*, Prentice Hall, Inc., Englewood Cliffs, 1964, p. 138.

कुछ शिक्षकों को ही हमेशा गोष्ठियों में भाग लेने के लिए भेजना उचित नहीं है। शिक्षकों को भेजने की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि कुछ वर्षों में अधिक से अधिक शिक्षकों को सम्मिलित होने का लाभ मिल सके। अमेरिका में कुछ जिला-शालाओं ने यह व्यवस्था की है कि उनके सभी शिक्षक किसी न किसी व्यावसायिक गोष्ठी में अवश्य ही सम्मिलित होते हैं। फिलाडेल्फिया में कुछ शालाएँ तो दो तीन दिन के लिए केवल इसीलिए बन्द कर दी जाती हैं कि शिक्षक उत्तम स्तर की व्यावसायिक गोष्ठियों में सम्मिलित हो सकें।[1]

(९) व्यावसायिक साहित्य-अध्ययन

किसी भी व्यवसाय से संबंधित विकास से सुपरिचित रहने का एक उत्तम साधन व्यावसायिक साहित्य-अध्ययन है। अतः शिक्षण से संबंधित नवीनतम विकास से परिचित होने के लिए शिक्षकों को शैक्षणिक पत्रिकाओं, लेख तथा नवीन शिक्षा संबंधी पुस्तकों का अध्ययन नियमित रूप से करते रहना चाहिये। परन्तु आजकल शिक्षा के संबंध में इतना साहित्य प्रकाशित हो रहा है कि इसमें से चुनाव करना, कुशलता की अपेक्षा रखता है। अतः पर्यवेक्षक को इस संबंध में भी शिक्षकों का उचित मार्ग-दर्शन करना चाहिये। इसके लिए निम्नांकित उपाय अपनाये जा सकते हैं :

(१) शिक्षकों को उत्तम शैक्षणिक पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की सूची समय समय पर भेजी जाये।

(२) शालाओं में उत्तम स्तर की शैक्षणिक पत्रिकाएँ तथा शिक्षा संबंधी साहित्य, ग्रंथालय में रखा जाये।

(३) स्टाफ-बैठकों, अध्ययन-गोष्ठियों आदि में उत्तम शिक्षण-अभ्यासों का विवरण, पुस्तक संक्षेप आदि का पठन किया जाये।

(४) स्टाफ-नोटिस-बोर्ड पर पुस्तकों तथा उत्तम पठनीय लेखों का संक्षिप्त विवरण तथा सूची टाँगी जाये।

(५) पर्यवेक्षक स्वयं समुचित अध्ययन करे।

(६) शिक्षकों को साधनों के अनुसार स्वयं की व्यावसायिक लायब्रेरी विकसित करने को प्रोत्साहित किया जाये।

(७) शिक्षक-पुस्तक-क्लबों को विकसित किया जाये।

(१०) व्यावसायिक साहित्य-लेखन

व्यावसायिक साहित्य-लेखन भी एक साधना है जिससे व्यावसायिक उन्नयन होता है। शिक्षकों को शिक्षण-साहित्य पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना, शिक्षा संबंधी प्रयोग करने की प्रेरणा देना तथा अपने अवलोकन के आधार पर लेखन को प्रोत्साहित करना, उनके तथा

---

[1] Neagley, Ross L., & Evans, N. Dean, *Handbook for Effective Supervision of Instruction*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, 1964, p. 140.

अन्य दूसरों के विकास में अत्यन्त सहायक होता है। पर्यवेक्षकों को, इस दृष्टि से शिक्षकों को लेखन के लिए प्रेरणा देते रहना चाहिये। इस क्षेत्र में भी पर्यवेक्षक स्वयं लिखकर शिक्षकों का मार्ग-दर्शन कर सकता है। आवश्यकतानुसार शिक्षकों को सह-लेखक के रूप में रहने की प्रेरणा देना भी उपयोगी होगा।

(११) शैक्षणिक सहायक सामग्री-निर्माण

सहायक सामग्री-निर्माण से शिक्षकों का समुचित व्यावसायिक विकास होता है। आवश्यकताओं का निर्धारण, आधारों का चुनाव, योजना-निर्माण, सहायक सामग्री-प्रदर्शनी का अवलोकन आदि अनेक ऐसी आवश्यक प्रक्रियाएँ हैं जिनसे शिक्षकों का व्यावसायिक विकास होता है। इसके साथ-साथ पाठ्य-पुस्तकों के चयन से भी शिक्षकों का विकास होता है। शिक्षकों को, पुस्तक तथा साहित्यिक सामग्री-प्रदर्शनी आदि में, भ्रमण करने के लिए जाने की प्रेरणा देते रहना लाभदायक रहता है।

(१२) व्यावसायिक स्टाफ का चुनाव

व्यावसायिक स्टाफ का चुनाव, शिक्षण-स्तर के विकास से, अनेक दृष्टियों से संबंधित है। शिक्षकों के चुनाव की प्रक्रिया में यदि शिक्षकों का सहयोग लिया जाता है, तब परोक्ष रूप से शिक्षकों का विकास होता है तथा वे शिक्षक आत्म-अध्ययन करके अपना विकास करने की दिशा में उत्साहित होते हैं। अतः शिक्षकों तथा शिक्षण के लिए अन्य कर्मचारियों की चुनाव-समितियों में, शिक्षकों को रखना आवश्यक है।

(१३) पर्यवेक्षण संबंधी बुलेटिन

पर्यवेक्षण संबंधी बुलेटिन यदि अच्छी तरह निर्मित हो तथा उपयुक्त विधि द्वारा उपयोग में लाया जाये तो यह शिक्षण-स्तर-सुधार में अत्यन्त सहायक हो सकता है। पर्यवेक्षण-बुलेटिन में, शिक्षकों के लिए किसी नवीन शिक्षण-विधि के प्रदर्शन का स्वरूप दिया जा सकता है। इसमें किसी शिक्षण-प्रक्रिया का संक्षिप्त रूप, पूरक रूप या फॉलो-अप भी दिया जा सकता है। कक्षा-अवलोकनों के अथवा उत्तम शिक्षण-अभ्यास के विवरण आदि भी इसमें दिय जा सकते हैं। बुलेटिन को शिक्षक-निर्देशिका का स्वरूप भी दिया जा सकता है। विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग शिक्षक-निर्देशिकाएँ हो सकती हैं। शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों की गतिविधियों, जैसे निर्देशन, शिक्षक-पालक-संबंध, गतिशील विधियों, शिक्षण-सहायक-सामग्री, अनुशासन आदि पर भी अलग-अलग शिक्षक-निर्देशिकाएँ तैयार की जा सकती हैं। शिक्षकों के लिए हैंडबुक्स भी इसका एक स्वरूप हो सकता है। बर्टन तथा ब्रुकनेर का कथन है कि बुलेटिन में सहयोग के लिए शिक्षकों का आभार-प्रदर्शन करने से शिक्षकों को बहुत प्रोत्साहन मिलता है।

(१४) अविधिक सम्पर्क

पर्यवेक्षण एक सतत् चलने वाली प्रक्रिया है। अतः शिक्षण के विकास के प्रति पर्यवेक्षक

के उत्तरदायित्व का अन्त कभी नहीं होता। उसे हमेशा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये कि शिक्षकों की कहाँ तथा किस प्रकार सहायता की जाये। शिक्षकों से रास्ते में भ्रमण के समय केफेटेरिया, समाज आदि में अविधिक व्यावसायिक चर्चाएँ, शिक्षण-स्तर उच्च बनाने में अत्यन्त सहायक होती हैं। अतः पर्यवेक्षक तथा शिक्षक, जितना अधिक आपसी सम्पर्क में आ सकेंगे, उत्तम होगा। सामान्यतः पर्यवेक्षक शिक्षकों से सामान्य चर्चा करना, अपने समय का अपव्यय समझते हैं। परन्तु यह दृष्टिकोण उचित नहीं है।

(१५) अन्य साधन

शिक्षकों को उनके उत्तम शिक्षण के विशेष सर्टीफिकेट देना, शिक्षकों के साथ कार्य करना तथा उन्हें आवश्यक सहायता देना, समस्यात्मक शिक्षकों से विशेष सम्पर्क-स्थापना, पुराने उत्तम शिक्षकों से सम्पर्क, शिक्षकों की व्यक्तिगत समस्याओं को हल करने में सहायक होना, आदि ऐसे साधन हैं जो शिक्षकों के शिक्षण-स्तर को सुधारने में सहायक सिद्ध होते हैं। अतः पर्यवेक्षक को इन साधनों को अपनी पर्यवेक्षण-प्रक्रिया का अंग बनाना चाहिये।

अध्याय २०

शिक्षण-सुधार के लिए उपयोगी समूह-प्रविधियाँ

समूह-प्रविधियों के द्वारा शिक्षा-पर्यवेक्षक शिक्षकों के शिक्षण-स्तर को सुधारता तथा उच्च बनाता है। शिक्षण की अनेक प्रक्रियाओं तथा गतिविधियों की उन्नति में समूह-प्रविधियाँ ही अधिक उपयोगी तथा सहायक होती हैं क्योंकि इनमें अनुभवों तथा विचारों का आदान-प्रदान होता है। समूह-प्रविधियों की सफलता के लिए गतिशील लोकतंत्रीय नेतृत्व तथा प्रभावी मानवीय संबंध नितांत आवश्यक हैं। इन प्रविधियों के उपयोग के समय प्रत्येक शिक्षक को अपना मौलिक-सहयोगी योगदान देने के लिए प्रेरित किया जाना आवश्यक है। तभी शिक्षण तथा शिक्षण के मूल्यांकन में वांछनीय सुधार हो सकेगा।

शिक्षण-सुधार के लिए निम्नांकित समूह-प्रविधियाँ उपयोग में लायी जा सकती हैं:

(१) नवीन शिक्षकों का व्यवस्थीकरण।
(२) क्रियात्मक अनुसंधान।
(३) वर्कशाप।
(४) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण।
(५) अध्ययन-गोष्ठियाँ।
(६) सामूहिक परामर्श।
(७) ग्रीष्मकालीन विस्तार-योजना या ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम।
(८) बड़ी सामूहिक सभाएँ।
(९) शाला-सर्वेक्षण।
(१०) प्रचार-पत्रिकाएँ तथा अन्य उपकरण।
(११) अन्य साधन।

(१) नवीन शिक्षकों का व्यवस्थीकरण

शालाओं की संख्या-वृद्धि तथा पाठ्यक्रम में नवीन विषयों के समावेश से, वर्तमान समय में नवीन शिक्षकों का प्रतिवर्ष अधिक संख्या में आगमन होने लगा है। ये शिक्षक प्रशिक्षित तथा अप्रशिक्षित, दोनों प्रकार के होते हैं। इनकी आवश्यकताएँ स्वाभाविकतः विभिन्न होती हैं। इन नवीन शिक्षकों के व्यवस्थीकरण के निमित्त लचीला तथा व्यक्तिगत

आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला कार्यक्रम होना चाहिये। इसके लिए कार्यक्रम की व्यवस्था निम्नांकित सिद्धान्तों के आधार पर की जा सकती है :

(१) मानवीय संबंध हमेशा अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। अतः पर्यवेक्षकों तथा प्राचार्यों को सद्भाव, सहानुभूति, सहयोगी तथा मैत्री भाव रखना चाहिये।

(२) यह कार्यक्रम निरन्तर चलता रहे। केवल एक या दो बैठकों में पूर्ण होने वाला न हो।

(३) आवश्यक तथा तत्काल हल किये जाने योग्य समस्याओं को पहले हल करने के प्रयास किये जायें।

(४) अनुभवी शिक्षकों को इस कार्यक्रम की नियोजना बनाने के लिए संलग्न किया जाये।

(५) नवीन शिक्षकों के व्यवस्थीकरण की योजना समुचित तो हो परन्तु नियमों आदि की अधिकता से किंकर्त्तव्यविमूढ़ करने वाली न हो।

(६) नवीन शिक्षकों के लाभार्थ विशेष सेवा-कार्यक्रम व्यवस्थित किये जायें।

(७) सामूहिक समितियों में उन्हें अपने विचार स्पष्ट रूप से व्यक्त करने की सुविधाएँ दी जायें। वाद-विवाद के लिए भी उन्हें प्रोत्साहित किया जाये।

(८) उन्हें शाला के साधनों, जैसे ग्रंथालय, संग्रहालय, खेल के मैदान, कक्षाएँ आदि देखने के अवसर भी प्रदान किये जायें।

(९) स्थानीय सुख-सुविधाओं, विशेष बातों तथा स्थलों के भ्रमण से शिक्षकों के ज्ञान-वर्धन के प्रयास किये जायें।

(१०) व्यवस्थीकरण को चार स्तरों में व्यवस्थित किया जाना चाहिये। (१) आगमन, (२) अपने अनुभव, (३) कार्य प्रारम्भ, (४) व्यवस्थापन।

(११) समाज के सदस्यों से मिलने के लिए पार्टियों, प्रीतिभोजों आदि का आयोजन किया जाना चाहिये। इनसे उन्हें आवास-स्थानों के मिलने तथा समाज से सम्पर्क-वृद्धि के अवसर मिलते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त आधारों पर नवीन शिक्षकों को शाला में व्यवस्थापित करने के प्रयास करने चाहिये। प्रारम्भ से इन्हें यह प्रतीत कराने का प्रयास करना चाहिये कि शाला में उनकी आवश्यकता है तथा शिक्षण के कार्य में उनका विशेष स्थान है।

(२) क्रियात्मक अनुसंधान

विभिन्न शिक्षा-शास्त्री क्रियात्मक अनुसंधान के विभिन्न अर्थ लगाते हैं। कुछ का विचार है कि शाला-कार्य करत समय शाला-कार्य की उन्नति के लिए जो प्रयोग-कार्य किये जाते हैं, वे क्रियात्मक अनुसंधान-कार्य हैं। परन्तु अन्य विद्वानों का विचार है कि क्रियात्मक अनुसंधान के लिए विधिवत योजना बनायी जानी चाहिये तथा स्थितियों का नियंत्रण कर प्रयोग तथा शोध-अध्ययन किया जाना चाहिये। अमेरिका के कोरी महोदय ने

क्रियात्मक अनुसंधान के संबंध में बहुत कार्य किया है। भारत में भी वे बहुत समय तक रहे हैं। उनका विचार है—"Every kind of research involves accumulating and interpreting evidence, but action research focuses on evidence that helps answer the question : Did a particular action result in the desirable consequences that were anticipated."[1] फ्रेन्सेथ[२] महोदय का कथन है "शिक्षा में क्रियात्मक अनुसंधान, शिक्षकों, पाठ्यक्रम-कार्यकर्त्ताओं, प्राचार्यों, शिक्षा-संचालकों, पर्यवेक्षकों तथा अन्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है जिनका संबंध छात्रों के शिक्षण-स्तर-सुधार में सहायता देने से रहता है। इसमें शिक्षक अपनी कक्षा में, पाठ्यक्रम-कार्यकर्त्ता अपने अध्ययन समूह में तथा अन्य शिक्षाविद् किसी व्यावहारिक स्थिति में परिकल्पनाओं की जाँच करते हैं।......आधारभूत, व्यावहारिक तथा क्रियात्मक, सभी प्रकार के अनुसंधानों में एक तत्व समान रूप से विद्यमान रहता है, और वह है अध्ययन-पूर्ण जाँच, विधिवत अन्वेषण, सत्य की सावधानीपूर्वक खोज। समस्या का विस्तार, तथ्यों का विधिवत एकत्रीकरण, व्यवस्थीकरण, विश्लेषण तथा निष्कर्षों के आधार पर सुझाये गये उपायों का, स्थिति-सुधार के लिए उपयोग आदि सभी कार्यों में शोध के वैज्ञानिक सिद्धान्त उपयोग में लाये जाते हैं।

कोरी तथा फ्रेन्सेथ महोदय के कथन से यह स्पष्ट होता है कि क्रियात्मक अनुसंधान, विधिवत, सावधानीपूर्वक नियंत्रित शोध-अध्ययन है जो कक्षाओं तथा शालाओं में किया जाता है। ये कक्षाएँ तथा शालाएँ शिक्षण की उन्नति के लिए प्रयोग-कक्ष बन जाती हैं। डेवीसन का विचार है कि व्यावसायिक कार्यकर्त्ताओं के पास छात्र, उपकरण, छात्रों के साथ शाला-स्थितियों में अनुभव आदि अनुसंधान के लिए आधारभूत-साधन विद्यमान रहते हैं। अतः शिक्षा-अनुसंधान में विकास तथा आन्दोलन, कक्षा-शिक्षकों तथा पाठ्यक्रम-विशेषज्ञों से ही आ सकता है। डेवीसन ने क्रियात्मक अनुसंधान के निम्नांकित सोपान सुझाये हैं :

क्रियात्मक अनुसंधान के सोपान	क्रियात्मक अनुसंधान के सोपानों की व्यवस्था-विधि
(१) क्रियात्मक अनुसंधान की आवश्यकता की प्रतीति।	(१) शाला-समस्याओं को, शाला-शिक्षकों के समक्ष रखने से यह आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। शाला समस्याओं के सर्वेक्षण से भी यह आवश्यकता उपस्थित हो जाती है।

1 Corey, Stephen M., *Action Research to Improve School Practices*, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1953, p. 26.

2 Franseth, Jane, "Improving the curriculum and teaching through action Research", *School Life*, XLII, No. 4 (December), 1959, pp. 8-9.

क्रियात्मक अनुसंधान के सोपान	क्रियात्मक अनुसंधान के सोपानों की व्यवस्था-विधि
(२) समस्या का स्पष्टीकरण।	(२) शिक्षक द्वारा समस्या पर सतत् विचार तथा पुनर्विचार करते रहने से यह सम्भव होगा।
(३) संबंधित साहित्य-अध्ययन जिससे समस्या के अध्ययन की रूपरेखा विकसित की जा सके।	(३) प्राचार्य या शिक्षा-पर्यवेक्षक द्वारा संबंधित साहित्य की उपलब्धि कराना तथा शिक्षकों के अध्ययन के उपरान्त शिक्षक-समूह में प्रस्तुत करना।
(४) परिकल्पनाओं का निर्माण। यह शोध-अध्ययन की विधि के प्रारम्भिक एवं अन्तिम मूल्यांकन के आधार पर किया जाना चाहिये।	(४) इसमें रेटिंग स्केल, केस-स्टडी, समस्याओं की सूची बनाकर जाँच करना, आदि अनेक साधनों का उपयोग किया जा सकता है। परिकल्पनाओं के निर्माण के लिए किये गये मूल्यांकन की विधि शोध-अध्ययन-विधि की दृष्टि से उपयुक्त होना चाहिये।
(५) प्रगति-प्रतिवेदन, जिससे विभिन्न शोध-कर्ताओं की प्रगति का परिचय मिल सके तथा अनावश्यक तत्वों को अलग किया जा सके।	(५) यह एक जटिल कार्य है। पर्यवेक्षक को इस स्तर पर समूह-बैठकों की व्यवस्था करने की आवश्यकता होगी।
(६) बैठकों, भ्रमण, सामग्री-वितरण आदि की उचित व्यवस्था, जिससे तथ्य एकत्रित किये जायें।	(६) किसी एक व्यक्ति को इनका उत्तरदायित्व सौंपना उचित होगा।
(७) तथ्यों का एकत्रीकरण तथा विश्लेषण।	(७) ग्राफ, चार्ट, सांख्यिकी, तुलना आदि की उचित व्यवस्था। उपयोगिता तथा विवेक के अनुरूप उनका वितरण तथा व्यवस्थीकरण।
(८) निष्कर्ष, जिसमें परिकल्पनाओं को अपनाया जाये या अमान्य किया जाये। इस स्तर पर समस्या के प्रमुख प्रश्न का उत्तर अवश्य मिलना चाहिये।	(८) शोध-कर्त्ता द्वारा शोध का प्रतिवेदन, लेखन तथा पुनर्निरीक्षण।
(९) शोध-सुझावों का क्रियान्वयन।	(९) बैठकों आदि की व्यवस्था के माध्यम से शोध-सुझावों के क्रियान्वयन के संबंध में निर्णय लेकर, शिक्षक तथा पर्यवेक्षक कार्य प्रारम्भ करें।

डेवीसन के द्वारा सुझायी गयी उपर्युक्त विधि से कक्षा-शिक्षण, शाला-व्यवस्था या अन्य किसी भी समस्या के हल के लिए क्रियात्मक अनुसंधान किया जा सकता है। पर्यवेक्षक यदि चाहे तो अनेक शालाओं की समान समस्याओं के हल के लिए विभिन्न शालाओं के प्रतिनिधि शिक्षकों की सभा द्वारा भी, क्रियात्मक अनुसंधान-प्रक्रिया अपना कर समस्याओं के हल खोजने की प्रेरणा दे सकता है तथा उचित नेतृत्व-प्रदर्शन कर सकता है।

(३) वर्कशाप

शिक्षकों का विकास व्यक्तिगत कार्य के माध्यम से तो होता ही है परन्तु अन्य शिक्षकों तथा विद्वानों के साथ विचारों के आदान-प्रदान तथा कार्य-विधियों पर विचार-विमर्ष के माध्यम से विकास और भी अधिक होता है। "वर्कशाप" व्यक्तियों में विकास करने का अति उत्तम साधन है।

आधुनिक काल में वर्कशाप का काफी प्रचलन है। इसका प्रारम्भ अमेरिका में उस समय हुआ, जब सन् १९३६ में प्रोग्रेसिव एजूकेशन एसोसियेशन के अन्तर्गत ३५ शिक्षक ग्रीष्मकाल में गहन अध्ययन के लिए एकत्रित हुए। इसके बाद तो अमेरिका में "वर्कशाप" की व्यवस्था काफी चली तथा अमेरिका-शिक्षा-परिषद के शिक्षक-प्रशिक्षण-आयोग ने वर्कशाप-सलाह-कार-सेवा सन् १९४२ तक चलायी। आजकल वर्कशाप, शिक्षकों के व्यावसायिक विकास का महत्वपूर्ण साधन बन गयी है तथा इसका उपयोग संसार के अनेक देशों में शिक्षा के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी काफी होने लगा है।

शिक्षण की दृष्टि से वर्कशाप, शिक्षण-प्रक्रिया से संबंधित रहती है। वर्कशाप, सेमीनार, क्लिनिक, अध्ययन-समूह, ग्रीष्मकालीन शिविर आदि में, बहुधा व्यक्ति भ्रम में पड़ जाते हैं तथा सभी को समानार्थी मानते हैं। परन्तु ये सभी अलग तथा भिन्न अर्थ एवं उद्देश्य रखते हैं। सेमीनार में विचार-विमर्ष ही होता है। वर्कशाप में समस्या के हल के लिए सभी मिलकर सोचते-विचारते तथा प्रत्यक्ष कार्य भी करते हैं। वर्कशाप में कोई व्यावहारिक समस्या ही ली जा सकती है। शिक्षकों की दैनिक शिक्षण-समस्याओं या व्यावहारिक कार्यों पर विचार करने तथा हल सोचने के लिए शिक्षक वर्कशाप का आयोजन करते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि अपनी व्यावहारिक समस्याओं के प्रति शिक्षकों में सजगता हो, रुचि हो तथा इन समस्याओं के हल के लिए वे प्रयत्नशील हों तभी वर्कशाप सफल हो सकती है। प्रो० बेकर का कथन है "वर्कशाप वह स्थान है जहाँ उत्पादन-कार्य (सुनने या भाषण देने के अतिरिक्त) किया जाता है; प्रदर्शन तथा अवलोकन किया जाता है एवं समितियों में भाग लिया जाता है।" टेलर ने कहा है "वर्कशाप वह व्यवस्था है जहाँ अध्यापक या शालाधिकारी अपने विद्यालय से संबंधित किसी समस्या को हल करने के लिए कार्य करता है तथा उसे अपने इस प्रयास में शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं के अधिकारियों की सहायता प्राप्त हो सकती है।" इस दृष्टि से वर्कशाप में (१) विचार-विमर्ष, (२) बैठकें, (३) व्यक्तिगत कार्य, (४) सामूहिक बैठकें, तथा (५) मनोरंजन आदि होता है। वर्कशाप प्रायः अवकाश के समय ही व्यवस्थित की जाती हैं। ये ३ दिन से ४५ दिन तक की होती हैं।

वर्कशाप के लिए समस्याओं का चयन––एम० आर० मिचल ने वर्कशाप की समस्याओं के चयन पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया है। उनका विचार है कि इन समस्याओं का चयन बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिये । मिचल ने वर्कशाप के लिए समस्या-चयन के निम्नांकित सिद्धान्त सुझाये हैं :

(१) वर्कशाप में विचार के लिए केवल उन्हीं समस्याओं का चयन किया जाना चाहिये जो शिक्षकों के विकास में सहायक हों।

(२) ऐसी समस्याओं का चयन करना चाहिये जो शिक्षकों को आधारभूत समस्याओं का बोध करा सकें तथा उनके शैक्षणिक महत्व का ज्ञान कराते हुए शालेय विकास-योजना में उन्हें शामिल करने के लिए प्रोत्साहन दे सकें ।

(३) शिक्षक, छात्र तथा समाज के संबंध दृढ़ करने वाली समस्याएँ चुनना अधिक उपयोगी तथा लाभकर होता है ।

(४) वर्कशाप, शिक्षकों में व्यावसायिक नेतृत्व का विकास करने में सफल होना चाहिये ।

(५) समस्याएँ रचनात्मक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षण-कौशल से विशेष रूप से संबंधित हों ।

(६) समस्याएँ ऐसी हों जो निर्धारित वित्तीय साधनों से पूर्ण की जा सकें ।

(७) समस्याएँ दीर्घकालीन प्रयत्न तथा अध्ययन को प्रोत्साहित करने वाली हों।

(८) समस्याएँ शिक्षकों को अपने उत्तरदायित्व का बोध कराने में समर्थ हों।

(९) समस्याएँ शिक्षकों के ज्ञान, कौशल तथा क्षमताओं के विकास में सहायता पहुँचाने वाली हों।

(१०) समस्याएँ नवीन अनुभव, कार्य-स्वतंत्रता, समूह-मूल्यांकन को प्रोत्साहित करने वाली तथा सभी प्रकार के शिक्षकों की क्षमताओं के उपयोग की सम्भावनाओं से युक्त हों।

वर्कशाप-व्यवस्था––वर्कशाप शिक्षकों की सुविधा के स्थान में व्यवस्थित की जानी चाहिये परन्तु अन्य तकनीकी सलाहकारों, आवश्यक सामग्री की उपलब्धि, आदि का ध्यान भी रखना आवश्यक है। शिक्षण-समस्या पर वर्कशाप किसी शाला या शिक्षक-प्रशिक्षण संस्था में रखना अधिक उपयोगी तथा सुविधाजनक रहता है। वर्कशाप में एक समान कार्य करने वाले शिक्षक या विभिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले शिक्षक सम्मिलित हो सकते हैं। यह समस्या के स्वरूप तथा आवश्यकता पर निर्भर करता है । वर्कशाप का एक संचालक होता है तथा एक या दो रिसोर्स व्यक्ति होते हैं । ये अनुभवी तथा कुशल होते हैं । ये लोकतंत्रीय विधि से सदस्यों को स्वतंत्रता से कार्य करने की सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं । ये वर्कशाप को "समस्या की प्रयोगशाला" बनाने में सहायक होते हैं । वर्कशाप के सदस्य कार्याविधि, समय या अन्य बातों का निर्णय स्वयं करते हैं । इस प्रकार वर्कशाप की सफलता का आधार सदस्यों या शिक्षकों का स्वयं का कार्य तथा उपलब्धि होता है। ई० सी० केले ने वर्कशाप-

प्रविधि के संबंध में *The Workshop a Way to Learning* नामक पुस्तक में व्यक्त किया है कि वर्कशाप की सफलता, आपसी संबंधों के उत्तम विकास, समस्याओं के रचनात्मक समाधान, समस्याओं के हल के लिए सदस्यों की तात्कालिक सहायता, विशेषज्ञों के विषयानुकूल सुझाव, सर्व सम्मति से निर्णय, सदस्यों के आत्म-विश्वास, संयम, मौलिकता, उपयुक्त साधनों की उपलब्धि, आदि पर निर्भर रहती है। इसमें समस्या केन्द्र रूप में रहे, जिससे सदस्य इसके हल के लिए सक्रिय कार्य कर सकें।

वर्कशाप-विधियाँ—वर्कशाप की कार्य-विधि लचीली होनी चाहिये। इसमें विचार-विमर्ष, व्यक्तिगत कार्य तथा बैठकों की व्यवस्था की जानी चाहिये जिससे प्रत्येक शिक्षक को सन्तोष मिले तथा उसे कार्य करने के अवसर उपलब्ध हों। अतः वर्कशाप की कोई एक निश्चित रूपरेखा या विधि निश्चित नहीं की जा सकती है। परन्तु यह अवश्य निश्चित किया जा सकता है कि वर्कशाप में विधिवत व्याख्यान या शिक्षण नहीं होना चाहिये। वर्कशाप-कार्य-विधि में लोकतंत्रीय कार्य-विधि का स्वरूप स्पष्ट प्रदर्शित होना चाहिये। वर्कशाप के संचालक, सहायक तकनीकी सदस्य, तथा अन्य सदस्यों को समूह में सहयोगी ढंग से सीखने का तथा गतिविधियों को व्यवस्थित करने का कार्य करना चाहिये। इस प्रकार वर्कशाप लोकतंत्रीय सहयोगी जीवन का महत्वपूर्ण अनुभव प्रदान करने वाली, होनी चाहिये।

वर्कशाप में मनोरंजन के कार्यक्रमों का समावेश अनिवार्यतः किया जाना चाहिये। इसीलिए वर्कशाप किसी आनन्द तथा सौन्दर्य के स्थान में व्यवस्थित की जाती है।

शिक्षण-सुधार के लिए व्यवस्थित की गयी वर्कशाप के अन्तर्गत शालाओं में, छात्रों से मिलकर किये जाने वाले कार्य तथा गतिविधियों का समावेश किया जाना चाहिये। इससे वर्कशाप प्रत्यक्ष-शिक्षण-गतिविधियों से संबंधित हो जायेगी। डाइडेरिक तथा टिल ने *The Workshop* पुस्तक में व्यक्त किया है कि "A workshop for teachers which includes no personal contact with young people is Hamlet minus the Melancholy Dane himself."[1]

वर्कशाप की सफलता के लिए भौतिक साधनों का, अनुरूप तथा सहायक होना भी आवश्यक है। सहायक सामग्री या चल-चित्र-प्रदर्शन इसमें बहुत सहायक होते हैं।

वर्कशाप-संगठन को प्रोत्साहित करने के लिए यह आवश्यक है कि वर्कशाप में भाग लेने वाले शिक्षकों को वित्तीय लाभ अवश्य मिलें। अमेरिका में उत्तम स्तर की वर्कशाप में भाग लेने पर शिक्षकों को आर्थिक लाभ दिया जाता है।

वर्कशाप का मूल्यांकन—वर्कशाप कितनी सफल या असफल रही यह जानना अति आवश्यक है। इसके लिए कोई औपचारिक परीक्षण या मूल्यांकन विधि तो नहीं अपनायी जा सकती है परन्तु प्रत्येक भाग लेने वाले शिक्षक के विकास के आधार पर ही वर्कशाप की सफलता आँकी जा सकती है। शिक्षक अपना विकास करके शालाओं में जाकर क्या

---

[1] Diederich, P. B., & Til, W. V., *The Workshop*, Hinds, Hayden & Eldridge Inc., New York, 1945, p. 32.

प्रगति करते हैं, यही मूल्यांकन का आधार होना चाहिये। अतः कुछ प्रश्नों का उत्तर देकर शिक्षक स्वयं अपना मूल्यांकन करें। वर्कशाप का लाभ अपने अन्य साथियों को देने के लिए भेंट तथा बैठकें आयोजित करना आवश्यक है। वर्कशाप की सफलता उद्देश्यों की स्पष्टता तथा योजना की व्यवस्था पर, आधारित रहती है। अतः इसका ध्यान भी रखा जाना आवश्यक है।

वर्कशाप से लाभ—वर्कशाप के निम्नांकित मुख्य लाभ हैं :

(१) वर्कशाप से शिक्षक का व्यावसायिक उत्थान होता है।

(२) विशिष्ट कार्य के संबंध में विशिष्ट ज्ञान मिलता है।

(३) परम्परागत तथा रूढ़िगत विधियों के स्थान में नवीन लोकतंत्रीय कार्य-विधियों का विकास होता है।

(४) शिक्षकों का व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास होता है।

(५) शिक्षकों के शिक्षण संबंधी व्यक्तिगत समस्याओं का हल प्राप्त होता है।

(६) यथार्थ स्थिति में कार्य करने, विचार-सामग्री तथा परिणामों का प्रयोग करने, की क्षमताओं का विकास होता है।

(७) शिक्षकों की व्यक्तिगत कुशलता तथा आत्म-विश्वास में वृद्धि होती है।

(८) नवीन प्रयोग तथा स्वयं-मूल्यांकन करने की क्षमताओं का विकास होता है।

(४) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण

सेवारत शिक्षक प्रशिक्षण के अन्तर्गत वर्कशाप, नवीन शिक्षक व्यवस्थापन, अध्ययन गोष्ठियाँ, आदि अनेक प्रविधियों का उपयोग होता है। जब शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाएँ, शालाओं के शिक्षकों के शिक्षण तथा व्यावसायिक कौशल-विकास के लिए विशेष प्रयास करती हैं तब उन्हें "सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण" कहते हैं। अनेक विद्वान कार्यरत शिक्षकों के शिक्षण में विकास करने के उद्देश्य से अपनायी गयी प्रविधियों को ही "सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण" मानते हैं। इसके अन्तर्गत सामूहिक बैठकें, सेमीनार, वर्कशाप, अध्ययन-गोष्ठियाँ, आदि सभी आ जाते हैं। इसकी अनेक प्रविधियाँ हो सकती हैं। इसको निम्नांकित गति-विधियों के अन्तर्गत व्यवस्थित किया जा सकता है :

(१) पाठ्यक्रम-अध्ययन तथा विकास।

(२) शिक्षकों द्वारा स्वयं अध्ययन।

(३) शाला-प्रगति की प्रवृत्तियों का अध्ययन।

(४) शिक्षण-समस्याओं के हल के लिए सेमीनार तथा वर्कशाप की व्यवस्था।

(५) शिक्षण-सामग्री के विकास के लिए गोष्ठियाँ।

(६) शिक्षण-विधियों तथा पाठ्यवस्तु संबंधी सेमीनार तथा वर्कशाप।

(७) बालकों के अध्ययन के लिए गोष्ठियाँ।

(८) क्षेत्र-विशेष के शिक्षण-स्तर में विकास के लिए कार्यक्रम।

सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण को सफल बनाने के लिए सुझाव—सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण सुनियोजित तथा व्यवस्थित होना चाहिये। इससे शिक्षकों की रुचि तथा सक्रिय योगदान की वृद्धि होगी एवं अधिक शिक्षक इसमें भाग लेने के लिए प्रोत्साहित होंगे। इस दृष्टि से निम्नांकित उपाय अपनाये जा सकते हैं :

(१) इसमें अविधिक चर्चा तथा विचारों के आदान-प्रदान की समुचित सुविधाएँ रहनी चाहिये।

(२) इसके उद्देश्य, क्षेत्र, आदि स्पष्ट होने चाहिये तथा लेने वालों को इसका समुचित ज्ञान होना चाहिये।

(३) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण के प्रारम्भिक नियोजन में भाग लेने वाले शिक्षकों का सहयोग अवश्य लिया जाना चाहिये।

(४) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण के लिए समुचित वित्तीय प्रावधान होना चाहिये।

(५) इसकी अवधि, कार्यक्रम के लिए उपयुक्त हो। दिन भर कार्य करने के उपरान्त, शिक्षकों से इसकी गतिविधियों में भाग लेने की अपेक्षा करना, उचित नहीं। अतः छुट्टियों में या कार्य-अवधि में ही इसे पूर्ण कालिक रूप से व्यवस्थित किया जाना चाहिये।

(६) इसका स्वरूप वर्कशाप, सेमीनार, विचार-गोष्ठी या इनके सम्मिलित रूप का हो।

(७) इसके उपरान्त शिक्षक विकास-कार्यक्रम अपनायें, इसका ध्यान रखा जाना आवश्यक है।

सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण के बाधक तत्व—सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण के अनेक बाधक तत्व हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) शिक्षकों का अधिक कार्य-भार।

(२) शिक्षकों में विकास करने के प्रति उत्साह न होना।

(३) वित्तीय या आर्थिक अभाव।

(४) नियोजन का अभाव।

वेबर ने शिक्षकों में उत्साह के अभाव के संबंध में अध्ययन किया तथा निष्कर्ष निकाला कि अधिक सेवा वाले शिक्षकों का उत्साह सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण की ओर नहीं रहता है। शिक्षकों में विकास करने के प्रति निरुत्साह तथा आलस भी महत्वपूर्ण कारण है।

अनेक शिक्षकों में इस प्रकार की सेवा के प्रति संदेह की भावनाएँ रहती हैं। उन्हें विश्वास ही नहीं रहता कि इस प्रकार के कार्यक्रम शिक्षण के विकास में सहायक रहेंगे। वे सोचते हैं कि इनमें समय तथा साधन व्यर्थ ही व्यय किये जाते हैं।

(५) अध्ययन-गोष्ठियाँ

विभिन्न विषयों के लिए, स्थानीय शिक्षकों की अध्ययन गोष्ठियाँ संगठित की जा सकती हैं। अलग-अलग विषयों के लिए, अलग-अलग बैठकों का आयोजन किया जाना चाहिये। ये बैठकें, शिक्षक-प्रशिक्षण संस्था या किसी शाला में, आयोजित की जानी चाहिये।

क्रम से विभिन्न शालाओं में गोष्ठियाँ करना भी लाभदायक रहता है। इन गोष्ठियों में, विषय-शिक्षक अपने विषय से संबंधित किसी समस्या पर विचार करते तथा सामूहिक रूप से सोच-विचार कर शिक्षण-समस्याओं के हल सोचते हैं। गोष्ठी में लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित कर शिक्षण को उन्नत बनाया जाता है। इन गोष्ठियों को व्यावहारिक स्वरूप देने के लिए शिक्षण-समस्याओं से संबंधित प्रदर्शन-पाठ भी आयोजित कर, विचार-विमर्ष किया जा सकता है। अध्ययन-गोष्ठियों में विषय-शिक्षण से संबंधित उत्तम कार्य-विधियों या अभ्यासों का, विवरण एवं प्रदर्शन, दोनों हो सकते हैं। इनकी बैठकें, साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक, सुविधानुसार आयोजित की जा सकती हैं।

(६) सामूहिक परामर्श

सामूहिक परामर्श के लिए पर्यवेक्षक, टूर्नामेंट या अन्य उपयुक्त अवसरों पर, संबंधित शिक्षकों, प्राचार्यों आदि को आमंत्रित कर ऐसी समस्याओं या कार्य-विधियों के संबंध में आपसी परामर्श कर सकता है, जिससे सभी को लाभ हो। ये परामर्श-बैठकें एक से तीन या चार दिन तक की हो सकती हैं। जिला या क्षेत्रीय टूर्नामेंट, आदि के समय इन बैठकों को आयोजित करने से, शिक्षकों या प्राचार्यों के शाला से अनुपस्थित रहने के कारण शाला के शिक्षण की हानि नहीं होती है।

ये परामर्श-बैठकें सहयोगी तथा लोकतंत्रीय ढंग से व्यवस्थित की जानी चाहिये। इनकी पूर्व-तैयारी अच्छी होने से व्यर्थ समय नष्ट नहीं होता है।

(७) ग्रीष्मकालीन विस्तार-योजना या पाठ्यक्रम

ग्रीष्म-अवकाश काफी लम्बा होता है। सामान्यतः यह दो माह का होता है। इस लम्बे ग्रीष्म-अवकाश में एक माह या डेढ़ माह का शिविर, शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं या विश्वविद्यालयों में आयोजित किया जा सकता है। इनमें शिक्षण संबंधी अथवा विषय-विशेष संबंधी उच्च ज्ञान दिया जा सकता है। कहीं कहीं तो एम० ए० या एम० एस-सी० की डिग्री, ८ या ९ माह के अध्ययन तथा विश्वविद्यालय-परीक्षण के उपरान्त, दी जाती है। भारत में, रीजनल कालेज आफ एजूकेशन में ५ वर्ष से अधिक सेवा वाले शिक्षकों को दो तीन ग्रीष्मकालीन शिविरों में अध्ययन तथा परीक्षण के उपरान्त बी० एड० की डिग्री दी जाती है। सन् १९६९-७० से सागर में एम० एड० की डिग्री के लिए भी इसी प्रकार की व्यवस्था प्रारम्भ की गयी है।

इस प्रकार ये ग्रीष्मकालीन विस्तार-योजनाएँ, शिक्षकों के व्यावसायिक तथा विषय से संबंधित ज्ञान-वर्धन में, अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। शिक्षण-समस्याओं पर विचार करने के लिए भी ये शिविर, क्षेत्रीय या राष्ट्रीय आधारों पर, आयोजित किये जा सकते हैं।

ग्रीष्मकालीन शिविरों से अनेक लाभ हैं। जैसे, व्यापक दृष्टिकोण विकसित होना, आपसी संबंध उत्तम होना, ज्ञान-वृद्धि होना, नवीन अनुभव मिलना, सामाजिकता के गुणों का विकास होना आदि।

(८) बड़ी सामूहिक सभाएँ

बड़ी सामूहिक सभाओं के निम्नांक्ति तीन रूप हो सकते हैं—(१) कन्वेन्शन, (२) सभाएँ, तथा (३) फैकल्टी बैठक। इन तीनों पर अलग अलग विचार करना उपयोगी होगा।

(१) **कन्वेन्शन**—कन्वेन्शन शैक्षणिक तथा अन्य विभिन्न प्रयोजनों के लिए संगठित किये जाते हैं। इनमें एक ही क्षेत्र में कार्य करने वाले विचारक तथा विद्वान एकत्रित होते तथा अपने कार्य-क्षेत्र से संबंधित बातों पर विचार कर निर्णय लेते हैं। कन्वेन्शन, व्यावसायिक तथा तांत्रिक विचार-विनिमय में बड़े सहायक होते हैं। ये स्फूर्ति, संस्कृति, प्रज्ञा तथा शिक्षा के विकास में सहायक होते हैं। योग्य नेतृत्व के मार्ग-दर्शन में पूर्व-नियोजित होने पर इनसे समुचित लाभ होता है।

(२) **सभाएँ**—सभाएँ एक दिवसीय, दो या तीन दिवसीय या एक से तीन सप्ताह तक चलने वाली हो सकती हैं। एक दिन की सभा, प्रत्येक संस्था में होने वाली बैठकों के रूप में ही,आयोजित की जाती है। इसमें चल-चित्र प्रदर्शन, सहायक सामग्री-प्रदर्शन, शिक्षा तथा शाला विशेष से संबंधित समस्याओं पर विचार आदि किया जाता है।

एक या दो दिवसीय सभाओं में सम्पूर्ण शहर या आस-पास के सम्पूर्ण क्षेत्र के शिक्षकों, प्राचार्यों अथवा इनके मिले जुले रूप का सम्मेलन होता है। शाला खुलने से पूर्व या टूर्नमेंट आदि के समय ये सभाएँ व्यवस्थित की जाती हैं।

एक से तीन सप्ताह तक चलने वाली सभाएँ शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं में, शिक्षण-समस्याओं पर विचार-विमर्ष करने के उद्देश्य से आयोजित की जाती हैं। शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाएँ या क्षेत्र के चुने हुए शिक्षक, इनमें भाग लेते हैं।

(३) **फैकल्टी बैठक**—शाला-विशेष के, किसी विषय-विशेष से अथवा सभी विषयों से संबंधित, शिक्षकों की बैठक प्रति सप्ताह, पक्ष या माह में आयोजित की जाती है। इसमें शिक्षण संबंधी विशेष स्थितियों या समस्याओं पर विचार-विमर्ष होता है। साथ ही साथ आवश्यकतानुसार विशेषज्ञों के भाषणों, चर्चाओं, आदि के कार्यक्रम भी रखे जाते हैं।

बैठकों तथा सभाओं को प्रभावी कैसे बनाया जाये ? बैठकों के उद्देश्य तथा लक्ष्य, स्पष्ट एवं निश्चित होने चाहिये। इनकी कार्य-विधियाँ भी निश्चित होनी चाहिये। केवल प्रशासनीय दृष्टिकोण से आयोजित न कर, इन्हें शैक्षणिक दृष्टिकोण से भी आयोजित किया जाना चाहिये। तभी ये सभाएँ या बैठकें समुचित रूप से उपयोगी सिद्ध होंगी। इन बैठकों में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक, दोनों प्रकार की चर्चाएँ होनी चाहिये। इनमें भाग लेने वाले सभी सदस्यों को स्वतंत्रता से अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये तथा लोकतंत्रीय कार्य-विधियों को इनका आधार बनाया जाना चाहिये। सभाओं की बैठकें, सीमित तथा निश्चित समय तक, चलने वाली हों। प्रदर्शन-पाठ या शिक्षण का अन्य व्यावहारिक स्वरूप भी इनमें प्रदर्शित हो तो बैठकों से अधिक लाभ होता है। इन बैठकों में

विशेषज्ञों को आमंत्रित करके शिक्षकों को इनसे विचार-विमर्ष के अवसर भी प्रदान किये जाने चाहिये।

सामूहिक बैठकों या सभाओं से लाभ—सामूहिक बैठकें पर्यवेक्षक, शिक्षक तथा प्राचार्य की विशिष्ट प्रतिभाओं तथा योग्यताओं का परिचय देती हैं। सामान्य शिक्षक, विलक्षण तथा प्रतिभावान शिक्षकों तथा विद्वानों के संपर्क में आते तथा उनके सुझावों से लाभान्वित होते हैं। इनमें सभी को आपस में एक दूसरे की विशिष्टताओं से परिचित होने का अवसर मिलता है। इनमें लोकतंत्रीय विधि अपनाने से मानवीय संबंध अच्छे होते हैं। भाग लेने वाले सदस्यों में स्फूर्ति तथा उत्साह का विकास करने में, ये अत्यधिक सहायक होती हैं। रचनात्मकता के विकास में भी ये सहायता प्रदान करती हैं।

ब्रिग्स तथा जस्टमेन ने सामूहिक शिक्षक-सभाओं से लाभों के संबंध में व्यक्त किया है—"ये सभाएँ, शिक्षकों की आवश्यकताओं, कठिनाइयों तथा समस्याओं का, आभास कराती हैं। इनसे समस्याओं के हल की प्राप्ति तथा आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती है। पर्यवेक्षक तथा शिक्षकों के बीच सद्भाव विकसित करने तथा मधुर संबंध बनाये रखने में, ये सहायक होती हैं। ये शिक्षकों का दृष्टिकोण व्यापक बनाती हैं तथा इनसे कर्त्तव्य-निष्ठता का विकास होता है। शिक्षक तथा पर्यवेक्षक इन सभाओं के माध्यम से शिक्षण-कार्य-स्तर का, अनुमान लगा सकते हैं। विशेषज्ञों के विचारों से भी शिक्षक लाभान्वित हो जाते हैं।

सामूहिक बैठकों तथा सभाओं के दोष—सामूहिक बैठकें यदि सुनियोजित न हों तथा उचित गतिशील नेतृत्व यदि इन्हें उपलब्ध न हो तो इनसे लाभ कम होता है। इनमें भाग लेने वाले सदस्यों में आपसी सहयोग होना भी आवश्यक है। अनेक बार औपचारिकता को अधिक महत्व देने के कारण व्यक्तिगत आवश्यकता तथा सुझाव को इनमें उचित महत्व नहीं मिल पाता है। कभी-कभी विषयान्तर होने से महत्वपूर्ण विषय समयाभाव के कारण रह जाते हैं। चुने हुए विषयों पर केवल सैद्धान्तिक चर्चा करने से इन बैठकों द्वारा समुचित लाभ नहीं होता है।

(९) शाला-सर्वेक्षण

आजकल कुछ विशेषज्ञों या शिक्षण से संबंधित व्यक्तियों द्वारा शालाओं का सर्वेक्षण किया जाता है। किसी शाला-विशेष या कुछ शालाओं के शाला-सर्वेक्षण के आधार पर प्राप्त ज्ञान द्वारा, शाला या शालाओं की समस्याओं के हल के प्रयास किये जाते हैं। इस प्रकार शाला-सर्वेक्षण द्वारा शाला-समस्याओं का विशेष अध्ययन करके शालाओं को उन्नत बनाने के प्रयास किये जाते हैं। शाला-सर्वेक्षण सप्रयोजन होता है तथा व्यावहारिक रहता है। सर्वेक्षण करने वाले व्यक्तियों में प्रशासनीय कौशलों का इससे विकास होता है। सर्वेक्षण के लिए आवश्यकतानुसार कुछ विशेषज्ञों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। विशेषज्ञों की सहायता से, कार्य-विधियाँ एवं परिणाम, स्पष्ट एवं उन्नत प्रकार के हो जाते हैं।

शाला-सर्वेक्षण के द्वारा शिक्षण-विधियों, विशिष्ट समस्याओं, स्थितियों, प्रशासनीय व्यवहार, मूल्यांकन आदि के संबंध में समुचित ज्ञान प्राप्त किया जाता है। शाला में विद्यमान स्थिति तथा अवस्थाओं का ज्ञान इसके द्वारा हो जाता है। शाला-सर्वेक्षण शाला-विशेष, क्षेत्र-विशेष या राष्ट्रीय स्तर के हो सकते हैं। विभिन्न प्रकार की शालाओं के लिए अलग-अलग या मिला जुला सर्वेक्षण भी किया जा सकता है। शाला-सर्वेक्षण शाला से संबंधित किसी पक्ष से संबंधित हो सकता है। इसमें अनेक पक्षों को एक साथ मिला कर भी तात्कालिक विद्यमान स्थितियों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यह लगातार बहुत समय तक भी चल सकता है, जैसे एक वर्ष, ५ वर्ष, १० वर्ष या अल्प कालिक—एक दो माह का भी हो सकता है। इसे शाला के शिक्षक, प्रशिक्षण-संस्थाओं के आचार्य, शिक्षा-विशेषज्ञ या प्रशासनीय अधिकारी, कोई भी व्यवस्थित कर सकते हैं। शाला-पर्यवेक्षण कोई भी करे, इसका उद्देश्य वर्तमान स्थितियों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें उन्नत बनाना ही होता है।

शाला-सर्वेक्षण के लिए प्रश्नावली, प्रत्यक्ष भेंट, स्थितियों का प्रत्यक्ष अवलोकन आदि किसी भी विधि का, उपयोग किया जा सकता है। इनका अलग-अलग या सभी का, या किन्हीं भी दो विधियों का, उपयोग शाला-सर्वेक्षण के लिए किया जाता है। एक से अधिक विधियों का उपयोग अधिक उपयोगी रहता है। इससे जो जानकारी मिलती है वह अधिक प्रामाणिक तथा वस्तुनिष्ठ होती है। उपयुक्त विधियों का चुनाव करने के साथ-साथ प्राप्त जानकारी तथा तथ्यों के मूल्यांकन के लिए वैज्ञानिक तथा सांख्यिकी विधियों द्वारा उनका विश्लेषण बहुत आवश्यक होता है। आजकल शाला-सर्वेक्षण, विकसित तथा विकसित हो रहे देशों में, काफी प्रचलित हो रहा है।

(१०) प्रचार-पत्रिकाएँ तथा अन्य उपकरण

प्रचार-पत्रिकाएँ राजकीय या अराजकीय तथा क्षेत्रीय या राष्ट्रीय, हो सकती हैं। विभिन्न स्तरों के शिक्षक-संघ भी अनेक प्रकार की व्यावसायिक सामग्री-युक्त पत्रिकाएँ निकालते हैं। अनेक पुस्तक-प्रकाशक भी आजकल अपनी पुस्तकों के प्रचार के साथ-साथ अनेक प्रकार की शिक्षण-समस्याओं पर विद्वानों के विचार पत्रिकाओं के माध्यम से प्रसारित करते हैं।

इस प्रकार के साहित्य से शिक्षकों को शिक्षकीय व्यवसाय संबंधी अनेक बातों का ज्ञान होता है। इस प्रकार के साहित्य में सूत्र-सामग्री, पाठ्यक्रमानुसार सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य विषयों पर उपयोगी सामग्री रहती है। शिक्षण-समस्याओं, विभिन्न विषयों की शिक्षण-विधियाँ, सीखने की कठिनाइयों तथा व्यावसायिक विकास संबंधी विशिष्ट सामग्री इन पत्र-पत्रिकाओं में रहती है। ये पत्रिकाएँ, शाला-विशेष की, स्थानीय, क्षेत्रीय, जिला-स्तरीय तथा राज्य या राष्ट्र-स्तरीय हो सकती हैं।

इन प्रचार-पत्र-पत्रिकाओं में निम्नांकित गुण भी होने चाहिये :

(१) शिक्षण की किसी एक या अनेक समस्याओं के हल के लिए सुझाव।

(२) शिक्षकों के लाभार्थ व्यावसायिक, व्यावहारिक तथा उत्तम सामग्री।
(३) स्वरूप, न बहुत वृहत् और न बहुत छोटा हो ।
(४) शैली रोचक तथा प्रभावोत्पादक हो ।
(५) वाह्य स्वरूप आकर्षक तथा उत्तम हो ।
(६) सामग्री क्रम-बद्ध, विवेक-पूर्ण तथा व्यावहारिक हो ।
(७) हस्तलिखित या स्टेन्सिल के स्थान में छपी हो ।
(८) कक्षा-शिक्षण से संबंधित व्यावहारिक तथा उपयोगी सामग्री समुचित मात्रा में हो।

(११) अन्य साधन

अन्य साधनों के अन्तर्गत (१) व्यावसायिक ग्रंथालय, (२) अन्य शिक्षकों के शिक्षण का अवलोकन, (३) परस्पर पर्यवेक्षण, (४) अन्तर्विद्यालय-भ्रमण, (५) शिक्षक-सभा, (६) विभागीय सभा, तथा (७) पैनेल-विचार-विमर्ष सम्मिलित किये जा सकते हैं। पैनेल-विचार-विमर्ष के लिए ३ से १० सदस्यों की समिति बनायी जाती है। इसके माध्यम से शिक्षण-विधि या पाठ्यवस्तु पर प्रकाश डाला जाता है। एडे (L. K. Ade) ने पैनेल-समिति के अध्यक्ष के कर्त्तव्यों की चर्चा विस्तार से की है। इसके संबंध में उनका विचार है कि अध्यक्ष का कार्य, शिक्षकों को प्रेरणा देना, उनके कार्य का पुनर्निरीक्षण करना, आवश्यक शंका-समाधान करना, तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक दृष्टान्त देना, वार्ता को संश्लिष्ट तथा सार रूप में प्रस्तुत करना, वार्तालाप के मध्य भावावेश तथा रोष को दूर करना; त्वरित निर्णय लेना, सजगता तथा तत्परता से कार्य-निर्वाह करना, सहृदयता तथा धैर्य से कार्य सम्पन्न करना, आदि हैं।

पैनेल-विचार-विमर्ष को सक्रिय तथा सफल बनाने के लिए सभाओं तथा गोष्ठियों के अनुरूप सावधानियाँ व्यवहृत करना आवश्यक है।

उपर्युक्त दर्शाये साधनों के अतिरिक्त यात्रा, सामाजिक उत्सव में भाग लेना, पूर्व-शाला-बैठकें, पाठ्यक्रम-प्रयोग शालाएँ, कक्षा-निरीक्षण के लिए कक्षा-भ्रमण, शिक्षण-मापन तथा मूल्यांकन आदि अनेक साधन हैं, जिनकी सहायता से पर्यवेक्षक समूह में शिक्षकों का व्यावसायिक कौशल विकसित कर सकता है।

अध्याय २१

शिक्षा-पर्यवेक्षण की समस्याएँ

शिक्षा-पर्यवेक्षण के अर्थ, सिद्धान्त तथा प्रविधियों की विवेचना के उपरान्त यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की समस्याओं पर भी विचार कर लिया जाये। शिक्षा-पर्यवेक्षण की निम्नांकित समस्याएँ प्रमुख हैं :

(१) पर्यवेक्षक का शिक्षण-विषयों में उचित नेतृत्व का प्रदर्शन करने में असमर्थ होना।

(२) शालाओं में पाठ्य पुस्तकों का चुनाव।

(३) मापन-परिणामों का विवेकपूर्ण उपयोग।

(४) पर्यवेक्षण का मापन।

(५) शिक्षकों की व्यावसायिक क्षमताओं का विकास।

(१) पर्यवेक्षक का शिक्षण विषयों में उचित नेतृत्व का प्रदर्शन करने में असमर्थ होना

शिक्षण-पर्यवेक्षक के पास शाला-व्यवस्था संबंधी अनेक कार्य रहते हैं। भारत में तो निरीक्षक तथा शिक्षण-पर्यवेक्षक एक ही व्यक्ति रहता है। इन दोनों उत्तरदायित्वों का एक ही व्यक्ति में निर्धारण उसे और भी अधिक व्यस्त बनाता है। इसके साथ ही साथ यह मानव-स्वभाव है कि अधिकार तथा प्रभुत्व की ओर उसका अधिक झुकाव रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि भारत में निरीक्षक नियंत्रण, प्रभुत्व तथा अधिकारों की ओर अधिक ध्यान देते हैं तथा शिक्षण-स्तर उन्नत बनाने का कार्य अपने आप ही चलता रहता है। अनेक शालाओं में प्राचार्य भी इस ओर समुचित ध्यान नहीं देते हैं। फलस्वरूप कक्षा-शिक्षण का समुचित पर्यवेक्षण नहीं हो पाता है। यही कारण है कि भारत में शिक्षण-स्तर जितना अच्छा होना चाहिये उतना अच्छा नहीं है।

पर्यवेक्षक को अपनी रुचियों के विषयों में नेतृत्व करने के लिए, समुचित अध्ययन करना आवश्यक है। इसके लिए उसके पास समय नहीं है। यह समस्या शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में अत्यन्त जटिलता से विद्यमान है। इसके उचित निराकरण से ही शिक्षण-स्तर उन्नत हो सकेगा।

पर्यवेक्षक अपने विषयों का विस्तृत तथा गहन अध्ययन कर अनेक विधियों द्वारा शिक्षकों का मार्ग-दर्शन कर सकते हैं। सामान्य चर्चाओं में शिक्षकों की अनेक कठिनाइयों

का हल हो सकता है। पर्यवेक्षण-बुलेटिन में लेख लिख कर पर्यवेक्षक उचित नेतृत्व का प्रदर्शन कर सकता है। शिक्षकों की सभा या गोष्ठी के माध्यम से भी शिक्षण संबंधी अनेक कठिनाइयाँ हल की जा सकती हैं। शिक्षकों के ग्रंथालय-विकास में भी पर्यवेक्षक का विभिन्न विषयों में गहन एवं विस्तृत अध्ययन सहायक हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्यवेक्षक अनेक प्रकार से विभिन्न विषयों में नेतृत्व प्रदर्शित कर शिक्षकों को लाभ पहुँचा सकता है। पर्यवेक्षक के पास समय की कमी तथा कार्याधिक्य होते हुए भी शिक्षण-विषयों में ज्ञान-वृद्धि तथा व्यावसायिक कौशल-वृद्धि का कार्य इसके द्वारा किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। जिस प्रकार छात्रों के शिक्षण में तीव्र रुचि विकसित की जाती है, उसी प्रकार शिक्षकों में भी शिक्षण के प्रति तीव्र रुचि तथा उत्साह विकसित किया जा सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक, अपने स्वयं के ज्ञान तथा व्यावसायिक कौशल के उचित नेतृत्व का, विकास करे तथा पर्यवेक्षण की विभिन्न प्रविधियों के माध्यम से, इस नेतृत्व को शिक्षकों की समस्याओं के हल के लिए सक्रिय तथा गतिशील बनाये। इस प्रकार पर्यवेक्षक, शिक्षकों का केवल तकनीकी सलाहकार ही नहीं रहेगा वरन् वह उनका निर्देशक तथा नेता बनकर और भी सम्पन्न तथा उत्तम शिक्षण करने के लिए, उचित प्रेरणा देने वाला भी बनेगा।

(२) शालाओं में पाठ्य पुस्तकों का चुनाव

शिक्षण के क्षेत्र में पाठ्य पुस्तकों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। सामान्यतः शालाओं में शिक्षक पाठ्य पुस्तकों पर ही निर्भर रहते हैं तथा उन्हीं के माध्यम से शिक्षण होता है। परन्तु अनेक शिक्षाविदों का विचार है कि कक्षाओं में एक ही पाठ्य पुस्तक निर्धारित नहीं होनी चाहिये। वे चाहते हैं कि एक के स्थान में प्रत्येक विषय के लिए अनेक पाठ्य पुस्तकों का चुनाव किया जाये जिससे छात्र तथा शिक्षक, अपनी आवश्यकता तथा रुचि के अनुसार पुस्तकों का चुनाव कर, सन्दर्भ-ग्रन्थ के रूप में पुस्तकों का उपयोग कर सकें।

यह तो सर्वमान्य है कि किसी एक ही पुस्तक में छात्रों के लिए सभी उपयोगी सामग्री नहीं मिलती। लेखक किसी पुस्तक के सभी विषयों पर समान अधिकार से नहीं लिखता है। अतः छात्रों को, पाठ्य पुस्तक के साथ-साथ सहायक पुस्तकों की सूची देकर विस्तृत अध्ययन की, प्रेरणा देना अत्यन्त आवश्यक है। फिर भी विद्वानों में इस बात में मतभेद है कि पाठ्य पुस्तक एक हो या अनेक, या बिलकुल न हो। इससे द्विविधा का विकास होता है। शिक्षा-पर्यवेक्षक के समक्ष इस दिशा में उचित मार्ग-दर्शन करने की समस्या बहुत समय से बनी हुई है।

पाठ्य पुस्तकों के चयन के संबंध में अनेक विधियाँ विकसित की गयी हैं, जैसे (१) शाला द्वारा स्वयं अपने लिए पाठ्य पुस्तकें चुनना, (२) राज्य या विभाग द्वारा पाठ्य पुस्तकें चुनकर निर्धारित करना, (३) राज्य या विभाग द्वारा अनेक पुस्तकें सन्दर्भ-ग्रंथ के रूप में प्रस्तावित करना, (४) क्षेत्रीय आवश्यकताओं तथा सुविधाओं को ध्यान में रखकर क्षेत्रीय

आधार पर पुस्तकें निर्धारित करना, आदि। परन्तु इन सभी विधियों में कुछ गुण हैं तथा कुछ दोष हैं। फलस्वरूप पर्यवेक्षकों के समक्ष हमेशा यह समस्या रहती है कि शिक्षकों तथा शालाओं का इस दृष्टि से कैसे मार्ग-दर्शन किया जाये तथा पाठ्य पुस्तकों को शिक्षण के विकास में किस प्रकार सहायक बनाया जाये।

(३) मापन परिणामों का विवेकपूर्ण उपयोग

आजकल अनेक प्रकार के बुद्धि-मापन तथा उपलब्धि-मापन परीक्षणों का उपयोग किया जाता है। इनके परिणामों का विवेकपूर्ण उपयोग सामान्य शिक्षक नहीं कर पाते हैं। अतः पर्यवेक्षक के समक्ष यह समस्या रहती है कि इस दृष्टि से वह शिक्षकों का मार्ग-दर्शन कैसे करे। भारत में शिक्षक साधारण योग्यता के होते हैं तथा प्रमाणीकृत विभिन्न परीक्षणों का विधिवत उपयोग नहीं कर पाते हैं। साथ ही साथ अनेक पालक भी कम पढ़े लिखे होने के कारण, मापन परिणामों का उचित अर्थ नहीं लगा पाते हैं। फलस्वरूप कभी-कभी परीक्षण-परिणामों से शिक्षक तथा पालक दोनों अधिक चिन्तित हो जाते हैं। इससे शिक्षकों की रचनात्मकता कम होती है। यही कारण है कि आजकल शालाओं में परीक्षा पास कराने का भूत प्रत्येक शिक्षक के मस्तिष्क में समाया रहता है। वह परीक्षा को ही शिक्षण का लक्ष्य मानता है तथा उसी दृष्टिकोण से शिक्षण करता है। अतः पर्यवेक्षक के समक्ष हमेशा यह समस्या रहती है कि कैसे परीक्षण-परिणामों का विवेकपूर्ण उपयोग कराने में वह सहायक हो तथा परीक्षा में पास कराने के लक्ष्य के स्थान पर उत्तम शिक्षण को कैसे प्रतिष्ठित करे।

(४) पर्यवेक्षण का मापन

भारत तथा अन्य अनेक देशों में आजकल निरीक्षण पर ही अधिक बल दिया जा रहा है। शिक्षा-पर्यवेक्षण की ओर न तो शाला-प्राचार्य ध्यान दे रहे हैं और न निरीक्षक। वास्तव में शिक्षण-पर्यवेक्षण का उचित मापन एवं मूल्यांकन होना बहुत आवश्यक है। इससे पर्यवेक्षकों का विकास होता है तथा शिक्षण-स्तर भी परोक्ष रूप से सुधरता है। पर्यवेक्षण के मापन तथा मूल्यांकन के संबंध में विस्तार से चर्चा अगले अध्याय में की गयी है। परन्तु यहाँ इसकी समस्या की ओर इंगित कर देना आवश्यक है। पर्यवेक्षण का उचित मापन तथा मूल्यांकन न होने से कार्य रुढ़िगत-सा ही चल रहा है। उत्तम पर्यवेक्षण तथा निकृष्ट पर्यवेक्षण, दोनों को ही आज समान महत्व मिल रहा है। फलस्वरूप पर्यवेक्षण का तकनीकी विकास तथा उसका उचित प्रभाव शिक्षण-स्तर को उच्च बनाने में असमर्थ है। यह स्थिति उचित नहीं है।

(५) शिक्षकों की व्यावसायिक क्षमताओं का उचित विकास

शिक्षक-प्रशिक्षण संस्थाओं में, समयाभाव तथा विभिन्न गतिविधियों के आधिक्य के कारण, शिक्षकों को व्यावसायिक कौशलों से सिर्फ परिचित ही कराया जा रहा है। अल्प

प्रशिक्षण-अवधि में, व्यावसायिक कौशलों में उनकी दक्षता बढ़ा पाना तथा उनका अच्छा स्तर विकसित कर पाना, सम्भव ही नहीं है। अतः आजकल सेवारत शिक्षक-सेवाओं का महत्व बढ़ता जा रहा है। परन्तु पर्यवेक्षक की समस्या यह है कि धनाभाव के कारण सेवारत शिक्षक-सेवा कैसे व्यवस्थित की जाये तथा शिक्षकों को इससे लाभान्वित होने के लिए कैसे उत्प्रेरित किया जाये। शिक्षक स्वयं प्रशिक्षण-संस्थाओं की विधियों में आस्था नहीं रखते हैं। वे प्रशिक्षण को नौकरी के स्थायित्व के लिए ही आवश्यक समझते हैं, शिक्षण के लिए नहीं। ऐसी अवस्था में जहाँ शिक्षकों को अपने व्यावसायिक कौशल-वृद्धि के प्रति कोई लगाव नहीं है, पर्यवेक्षक क्या करे? वह शिक्षकों के व्यावसायिक कौशलों को कैसे विकसित करे? यह समस्या अति जटिल है। अमेरिका जैसे विकसित देशों में सेवारत शिक्षक-सेवा प्राप्त करने तथा व्यावसायिक कौशल-वृद्धि करने पर शिक्षकों को आर्थिक लाभ मिलता है। अतः वे वहाँ समुचित रूप से तत्पर रहते हैं तथा अपने व्यावसायिक कौशलों की वृद्धि के उपाय करते रहते हैं। परन्तु भारत जैसे विकसित हो रहे देश में, जहाँ सभी शिक्षक प्रशिक्षित तो क्या अल्प प्रशिक्षित भी नहीं हैं, जहाँ शिक्षक-प्रशिक्षण को शिक्षण-कौशल के लिए आवश्यक समझा ही नहीं जाता, वहाँ शिक्षकों को व्यावसायिक कौशल-विकास के लिए सजग करना कठिन समस्या ही है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण-परिषद (NCERT), दिल्ली, शिक्षकों के व्यावसायिक कौशल-विकास के समुचित प्रयास कर रही है। इस परिषद की स्थापना प्रमुखतः शालाओं के शिक्षण-स्तर में विकास की दृष्टि से की गयी है। इस परिषद का अध्यक्ष केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री होता है तथा सभी राज्यों के शिक्षा-मंत्री इसके सदस्य रहते हैं। अतः यह परिषद (NCERT), राज्य-शिक्षा-समितियों, राज्य-शिक्षा-विभागों, राज्य-शिक्षा-संस्थानों आदि के सहयोग से राष्ट्रीय स्तर पर शाला-शिक्षा-सुधार की महत्वपूर्ण तकनीकी एजेन्सी बन जाती है। इस परिषद की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि राज्य-शिक्षा-विभाग, इसके सुझावों को कितनी मान्यता देते हैं तथा यह क्षेत्र की शैक्षणिक समस्याओं के उचित समाधानीकरण में कितना सहयोग दे पाती है। इन दोनों कार्यों के लिए NCERT में राज्य-शिक्षा-विभाग के अधिकारी नियुक्त किये जाते तथा राज्य-शिक्षा-विभागों में भी इस परिषद के तकनीकी योग्यता प्राप्त व्यक्ति नियुक्त किये जाते हैं। यह आदान-प्रदान सतत् चलता रहता है।

NCERT देश की शिक्षा-समस्याओं पर विचार-विमर्ष के लिए विभिन्न स्थानों में शिक्षा-गोष्ठियाँ आयोजित करता है। चार क्षेत्रीय शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालय भी, देश के विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख स्थानों में, इसके अन्तर्गत इसी दृष्टि से खोले गये हैं। दिल्ली में केन्द्रीय शिक्षा-संस्थान भी इसके अन्तर्गत कार्यरत है। NCERT का विस्तार-सेवा-विभाग, देश के विभिन्न शिक्षक-प्रशिक्षण-महाविद्यालयों के विस्तार-सेवा-विभागों के कार्यों को, गति तथा निर्देशन देता है। यह इनकी गतिविधियों का राष्ट्रीय स्तर पर समन्वय भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में NCERT शिक्षा-पर्यवेक्षण की विभिन्न गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा-स्तर के विकास का प्रयास करता रहता है।

अध्याय २२

शिक्षा-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन

शिक्षा-पर्यवेक्षण की उपादेयता प्रदर्शित करने वाले अनेक शोध-अध्ययन हुए हैं परन्तु शिक्षा-पर्यवेक्षण के मूल्यांकन के लिए समग्र स्वरूप तथा कार्यक्रम निश्चित करने के उद्देश्य से शोध-अध्ययन अपेक्षाकृत कम ही हुए हैं। शिक्षण के विकास तथा उन्नति के लिए, पर्यवेक्षण के उपयोग तथा प्रभाव का मूल्यांकन बहुत आवश्यक है। किसी भी कार्यक्रम की उन्नति में उसके प्रभाव का-मूल्यांकन बहुत सहायक होता है। यदि शिक्षा-पर्यवेक्षण की प्रभावोत्पादकता का अध्ययन उचित मूल्यांकन-विधियों के द्वारा न किया जाये, तब यह कैसे विदित होगा कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की कौन सी विधि कितनी उपयोगी सिद्ध हो रही है तथा विकास वास्तव में हो रहा है या नहीं। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की विधियों का उचित मूल्यांकन कर, यह ज्ञात किया जाये कि वे शिक्षण-स्तर के सुधार में कितना सहयोग दे रही हैं। शिक्षा-पर्यवेक्षण के उचित तथा ठोस मूल्यांकन-कार्यक्रम ही यह स्पष्ट कर सकते हैं कि पर्यवेक्षक का नेतृत्व शिक्षकों के विकास तथा शिक्षण-स्तर की उन्नति में कितना प्रभावी सिद्ध हो रहा है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन सामान्यतः बहुत साधारण तथा अविधिक ढंग से किया जाता है। इसका कारण यह है कि यह मान्य किया जाता है कि जो व्यक्ति, शिक्षण का पर्यवेक्षण कर रहे हैं, वे छात्रों के विकास का कार्य समुचित रूप से करते हैं तथा छात्रों का विकास हो रहा है। पर्यवेक्षकों की नियुक्ति, सेवारत शिक्षकों के विकास के लिए अनेक प्रकार के कार्यक्रमों की व्यवस्था, पाठ्यक्रम-सुधार के प्रयास आदि ही, छात्रों के वास्तविक विकास के प्रमाण मान लिये जाते हैं। परन्तु यह उचित नहीं है। आवश्यकता तो इस बात की है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण की उचित मूल्यांकन-विधियाँ विकसित की जायें। जिस प्रकार आजकल केवल शिक्षक का मूल्यांकन न कर सम्पूर्ण शिक्षण तथा सीखने की स्थितियों का मूल्यांकन किया जाता है, उसी प्रकार केवल पर्यवेक्षकों का मूल्यांकन न कर सम्पूर्ण शाला-कार्यक्रमों का मूल्यांकन किया जाना चाहिये। इसका कारण यह है कि पर्यवेक्षक भी शाला-कार्य का एक अभिन्न अंग है। सभी प्रकार के मूल्यांकन में मानवीय संबंध तथा व्यक्तित्व संबंधित रहते हैं। अतः मूल्यांकन में कुछ न कुछ सापेक्ष तत्व अवश्य विद्यमान रहेंगे। इसी सापेक्षता के कारण अनेक विद्वानों का विचार है कि शिक्षकों, प्रशासकों तथा पर्यवेक्षकों के कार्यों का

समुचित वस्तुनिष्ठ-मूल्यांकन सम्भव नहीं है। परन्तु अनुभव तथा शोध-अध्ययनों से ये प्रमाण मिलते हैं कि ये सभी, सहयोगी ढंग से छात्रों के शैक्षणिक अनुभवों के विकास तथा मूल्यांकन के लिए कार्य कर सकते हैं। इसी दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण के मूल्यांकन के लिए अनेक प्रश्नावलियाँ, पर्यवेक्षकों के स्वयं-मूल्यांकन तथा अन्य उच्चाधिकारियों के द्वारा किये गये मूल्यांकन के आधार पर विकसित की गयी हैं। हरमेन[१] ने तो शिक्षा-पर्यवेक्षण के मूल्यांकन में पर्यवेक्षक की अपेक्षा शिक्षण-कार्यक्रमों के मूल्यांकन पर अधिक बल दिया है। उनका कथन है कि शिक्षकों से ही यह ज्ञात करना चाहिये कि कौन-कौन से पर्यवेक्षण-कार्यक्रम या विधियाँ उन्हें अधिक प्रभावी प्रतीत हुई हैं।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के सिद्धान्त

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के अनेक सिद्धान्त विकसित किये गये हैं जो आपस में समुचित रूप से संबंधित हैं तथा जो शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के व्यवहार या क्रियान्विति को प्रभावित करते हैं। पर्यवेक्षकों को इन सभी सिद्धान्तों के उपयोग तथा उचित मिश्रण की व्यवस्था करनी चाहिये। किसी एक सिद्धान्त का उपयोग या व्यवहार इतना अधिक नहीं होना चाहिये कि अन्य सिद्धान्त स्पष्ट गोचर ही न हों। "To be worthy of full professional status, a supervision must be sufficiently foresighted to avoid either over enthusiasm or under appraisal of the up and down shifting attitudes towards enduring principles. Otherwise, he will emulate the turf uprooting armadillo who lives in a shell and cannot see beyond his own ears."[2]

अेयर का उपरोक्त कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन का संबंध पर्यवेक्षण के सभी सिद्धान्तों से है तथा पर्यवेक्षक को इन सभी सिद्धान्तों का उचित निर्वाह करना चाहिये। वाइल्स महोदय ने शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के निम्नांकित चार सिद्धान्तों का निरूपण किया है।

(१) प्रशासक को शिक्षकों, छात्रों तथा समाज के सदस्यों का अधिकतम उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग प्राप्त करना।

(२) शाला-कार्यक्रम को उन्नत तथा व्यापक बनाने के लिए उपयुक्त वांछनीय सुविधाएँ उपलब्ध करना।

(३) उत्तम शिक्षण-स्थितियों का विकास कर छात्रों की उन्नति में सहायक होना।

(४) शाला को, जन-जीवन-सुधार के कार्यों में अधिक मात्रा में योगदान देना।

---

[1] Harman, Allen C., Supervision in selected secondary schools, (Doctoral dissertation, University of Penunsylvania, 1947), pp. 102-108.

[2] Ayer, Fred, C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, pp. 478-479.

वाइल्स के अनुसार इन उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर पर्यवक्षक के योगदान तथा सक्रियता का मूल्यांकन किया जा सकता है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के लिए निम्नलिखित सिद्धान्तों को अपनाया जा सकता है।

(१) शिक्षा में विकास, शैक्षणिक गतिविधियों के उचित मूल्यांकन तथा मापन पर निर्भर रहता है।

आजकल यह मान्य किया जाता है कि शिक्षा में सुधार एवं विकास, शैक्षणिक गतिविधियों के उत्पादन के सही मापन तथा ठोस आधार के रूप में स्तर के मूल्यांकन पर निर्भर रहता है। मापन तथा मूल्यांकन अलग-अलग न होकर एक दूसरे पर निर्भर हैं। मापन से हमें उत्पादन की मात्रा का ज्ञान होता है तथा मूल्यांकन उसकी उपादेयता निश्चित करता है। उदाहरण से यह और भी अच्छी तरह स्पष्ट हो जायेगा। हिन्दी भाषा में रचना की परीक्षा से भाषा संबंधी उपलब्धियों तथा स्तर का ज्ञान होता है जबकि मूल्यांकन के द्वारा विचार व्यक्त करने की क्षमता, पत्र-लेखन, निर्देशन देने तथा किसी समस्या को स्पष्ट करने की क्षमता का ज्ञान होता है। इस प्रकार मापन और मूल्यांकन को हम एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते हैं। ये एक दूसरे के पूरक हैं। "The current trend of thought is towards a concept of evaluation that involves measurement and appraisal as co-ordinate and interrelated processes."[1]

(२) मूल्यांकन नायकत्व के सिद्धान्त से पूरित होना चाहिये

मूल्यांकन के लिए नायकत्व आवश्यक रहता है। मूल्यांकन की योजना के विकास, उद्देश्य-निरूपण, क्रियान्वयन तथा गतिविधियों, विधियों के उपयोग, परिणामों के आधार पर शिक्षण-विकास के लिए उन्नत प्रशासनीय नीतियों के निर्धारण, आदि सभी के लिए उत्तम नेतृत्व आवश्यक है। परन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि नेतृत्व के विकास के लिए मूल्यांकन आवश्यक है। अतः प्राचार्यों तथा पर्यवेक्षकों को सतत् अपना मूल्यांकन, मानवीय संबंधों तथा शैक्षणिक उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टियों से, करते रहना चाहिये।

(३) मूल्यांकन सहयोग पर आधारित है

मूल्यांकन करने के लिए अन्य संबंधित व्यक्तियों का सहयोग आवश्यक है। अतः समूह-गतिविधियों की नियोजना सहयोगी ढंग से विकसित की जानी चाहिये। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन में समूह की भावना परिलक्षित होनी चाहिये। इसमें बाल-व्यवहार तथा कार्य-विधियों को उन्नत करने तथा परीक्षण लेने वाले सभी सदस्यों को सम्मिलित करना चाहिये। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को एक ओर तो समूह-प्रयासों को प्रोत्साहित करना

---

[1] Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, p. 465.

चाहिये तथा दूसरी ओर समूह-प्रविधियों के प्रभाव तथा उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन शिक्षकों तथा छात्रों को आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया तथा मानवीय संबंधों के लिए संवेदनशील बनायेगा, छात्रों तथा शिक्षकों को सहयोगी रूप से आग बढ़ने की प्रेरणा देगा तथा लोकतंत्रीय व्यवहार विकसित करेगा। इससे पाठ्यक्रम, छात्र-प्रगति, समाज-संबंध आदि नियोजना में, सहयोग विकसित होगा। इस दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन में सहकारिता के सिद्धान्त को मान्यता देनी चाहिये क्योंकि यह अधिक फलदायी, व्यापक तथा विश्वसनीय है।

(४) रचनात्मकता का सिद्धान्त

मूल्यांकन से रचनात्मकता विकसित होती है। मूल्यांकन गतिशील है। यह परिवर्तन तथा विकास को प्रेरित करता तथा उसका उचित मापन भी करता है। मूल्यांकन की उपा-देयता शिक्षण-प्रक्रिया से संबंधित व्यक्तियों को रचनात्मक शक्तियों से समन्वित करने में ही है। पर्यवेक्षक की रचनात्मकता का बोध, शिक्षकों तथा छात्रों की समस्याओं के उचित हल तथा आत्म-अभिव्यक्ति से सुसंबंधित होने में ही होता है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को, आत्म-अभिव्यक्ति तथा समस्या के हल को विकसित तथा उन्नत बनाने में, सफल होना चाहिये। व्यक्तित्व-विकास में बाधक सभी तत्वों का निरोध कर रचनात्मक शिक्षण एवं पर्यवेक्षण को विकसित करने में इसे सहायक होना चाहिये।

(५) समन्वय, मूल्यांकन का स्रोत तथा उद्देश्य है

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन की प्रक्रिया तथा उपलब्धियों की उत्तमता की जाँच का आधार छात्र, शिक्षक तथा समाज में सामंजस्य स्थापित करना, होना चाहिये। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को स्वयं-निर्देशन, स्वयं-नियंत्रण तथा समन्वित व्यक्तित्व के विकास में सहायक होना आवश्यक है। इसके द्वारा व्यक्तित्व-विकास तो होता ही है परन्तु यह व्यक्तित्व-विकास समाज से समन्वित होना चाहिये।

(६) सहानुभूति, मूल्यांकन-मापन का आधार हो

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन, मानवीय संबंधों, छात्रों तथा शिक्षकों के मानसिक स्वा-स्थ्य एवं वातावरण को दृष्टि में रखकर, कल्याणमय होना चाहिये। आज के विज्ञान-युग में वस्तुनिष्ठता बहुत अधिक अपेक्षित है। परन्तु इस वस्तुनिष्ठता के साथ-साथ विवेकपूर्ण सहानुभूति का विकास भी शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन द्वारा होना आवश्यक है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन शिक्षक तथा समाज के संघर्ष को कम करने, छात्रों के अशान्ति के पक्षों का उचित समाधान करने का शिक्षकों का उचित मूल्यांकन उनके व्यक्तिगत विकास के उद्देश्यों से करने वाला होना चाहिये। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के सहानुभूतिपूर्ण तत्व का यही आधार है।

(७) मूल्यांकन, नियोजना से अत्यधिक संबंधित है

नियोजना के सिद्धान्तों से शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन अत्यधिक संबंधित है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन सुनियोजित होना चाहिये। इसकी प्रक्रिया, शिक्षा के अन्य क्षेत्रों, जैसे पाठ्यक्रम, छात्र-शिक्षक-संबंध, आदि की नियोजना-प्रक्रिया के अनुरूप ही है। अतः इसका प्रारम्भ समस्या से होता है तथा क्रमशः उद्देश्य-निर्धारण, प्रक्रिया या प्रविधि-चुनाव, तथ्य एकत्रीकरण तथा मूल्यांकन एवं परिणामों का समस्या के हल के लिए उपयोग आदि प्रक्रियाएँ इस उपयोग में लायी जाती हैं।

शिक्षण-विकास की उत्तम नियोजना में, बीच-बीच में, तथा अन्त में मूल्यांकन का स्थान रहता है तथा मूल्यांकन ही विकास का आधार बनता है। नियोजना की प्रक्रियाओं, विकास तथा उपलब्धियों का मापन तथा मूल्यांकन, शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन से ही शिक्षण नियोजना प्रारम्भ होती है तथा शिक्षण-विकास इसी की उपलब्धियाँ हैं।

(८) मूल्यांकन, वस्तुनिष्ठ तथा लचीला होना चाहिये।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन का महत्वपूर्ण तत्व तथा आधार, वस्तुनिष्ठता तथा लचीलापन है। मूल्यांकन स्वयं-गारंटी देने वाली प्रक्रिया नहीं है। इसके मापन में वस्तुनिष्ठता का तत्व ही इसे अधिक उपयोगी बनाता है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षकों तथा उनके द्वारा अपनायी जाने वाली प्रविधियों को, वस्तुनिष्ठ होना चाहिये। वस्तुनिष्ठ होने पर ही मूल्यांकन स्वयं अपना विकास करता है। मूल्यांकन में समुचितता तथा विश्वसनीयता के तत्वों का भी समावेश होना चाहिये।

प्रत्येक स्थिति मौलिक तथा भिन्न होती है। अतः स्थितियों के अनुसार विभिन्नता के लिए मूल्यांकन में लचीलापन अवश्य होना चाहिये। पाठ्यक्रम, शिक्षण-विधियों तथा अन्य बातों में, आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना मूल्यांकन द्वारा सुगम होना चाहिये।

(९) पुनर्स्थापन से मूल्यांकन संबंधित है

मूल्यांकन पुनर्स्थापना की ओर दृष्टि रखता है तथा वातावरण के सभी तत्वों पर उचित ध्यान देकर सम्पूर्ण स्थितियों में समन्वय की स्थापना करता है। अतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को शाला के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन, समाज संबंध, मूल्य-द्वन्द्व तथा विशेष संगठनों के घातक संघर्षों का, उचित ध्यान रखना आवश्यक है। साथ ही साथ शाला तथा समाज के जीवन-विकास, संगठन तथा निदेशन में, शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को उन्नत सूझ-बूझ एवं समन्वय का, उपयोग करना चाहिये। इसके सम्पूर्ण वातावरण से, छात्र की क्रिया-प्रतिक्रिया के प्रति विकसित सजगता का, बोध होना चाहिये।

इस प्रकार उपर्युक्त दर्शाये गये पुनर्स्थापना के सिद्धान्त के आधार पर संगठित होकर शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन को समुचित रूप से प्रभावी होना चाहिये। इसके माध्यम से

शिक्षण-व्यवस्था, संगठन-व्यवस्था तथा अवरोधन की शक्ति का, समुचित विकास तथा संवर्द्धन होगा।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के कार्य

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के निम्नांकित कार्य महत्वपूर्ण हैं:

(१) यह पर्यवेक्षण-प्रविधियों के चयन में सहायक होता है।

(२) यह शिक्षण-उद्देश्यों से मापन को संबंधित बनाता है।

(३) यह मापन, संयंत्र के चयन तथा उसे और अधिक उन्नत बनाने में सहायक होता है।

(४) यह बाल-व्यवहार के परिवर्तनों को उचित रूप से आँकता है।

(५) यह विशेष साधनों तथा विधियों की उपयोगिता तथा प्रभाव का उचित अंकन करता है।

(६) यह शिक्षकों के कौशल-स्तर का मापन करता है।

(७) यह पर्यवेक्षक के कौशल-स्तर का ज्ञान भी कराता है।

(८) यह शिक्षण के आवश्यक स्तर तथा उद्देश्यों के चयन में समुचित रूप से सहायक होता है।

(९) यह स्वयं-विकास में सहायक होता है।

(१०) यह शिक्षक को बालक की आवश्यकताओं तथा विकास से परिचित कराता है।

(११) यह शाला तथा समाज-सम्बन्धों के विकास में सहायक होता है।

(१२) यह पर्यवेक्षण के लिए विकसित योजनाओं की सफलता का बोध कराता है।

(१३) यह शिक्षा के लिए किये गये व्यय की अवश्यकता तथा उपादेयता की पुष्टि करता है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन-प्रविधियाँ

शिक्षा-पर्यवेक्षण के मूल्यांकन के संबंध में दो प्रकार की विधियों का उपयोग किया जा सकता है:

(१) शिक्षण-कार्य का मूल्यांकन, तथा

(२) पर्यवेक्षक का मूल्यांकन।

शिक्षण-कार्य के मूल्यांकन के अन्तर्गत वे सभी तत्व आते हैं जो कक्षा में छात्रों के अनुभवों को प्रभावित करते हैं; जैसे छात्रों में स्वयं आने वाले परिवर्तन, शिक्षण-विधियों में आने वाले परिवर्तन, शाला-स्थितियों में आने वाले परिवर्तन, पाठ्यक्रम में आने वाले परिवर्तन, शालाओं में प्रयोग तथा शोध करने से सम्बन्धित परिवर्तन, आदि। पर्यवेक्षक के

मूल्यांकन के अन्तर्गत वे कार्य आते हैं जो पर्यवेक्षक, शिक्षण को उन्नत बनाने के लिए करता है।

शिक्षण-कार्य का मूल्यांकन

शिक्षण-कार्य के विभिन्न पक्षों के मूल्यांकन के लिए शिक्षकों की सभा तथा पर्यवेक्षकों की बैठकों आदि में, शिक्षण-कार्य, उसकी उपादेयता, प्रभाव, शिक्षण उन्नत करने के लिए अपनाये जा रहे उपाय, शिक्षण-समस्याओं के बोध तथा उनके हल के लिए किये जा रहे उपाय तथा शिक्षण-विकास के लिए अपनाये जा रहे उपायों के संबंध में, अनेक प्रश्नों पर विचार करना चाहिये। शिक्षकों को स्वयं-मूल्यांकन करने की प्रेरणा देना चाहिये। मोरर (Moarer) ने एक संयंत्र विकसित किया है जो शिक्षण-पर्यवेक्षण के स्वयं-मूल्यांकन में बड़ा सहायक हो सकता है। शालाओं में बाहरी पर्यवेक्षक-टीम द्वारा मूल्यांकन भी अनेक देशों में प्रचलित हो रहा है। "Many secondary schools are now evaluated by a visiting team at least every ten years. There is a growing movement for similar evaluation of elementary schoos."[1]

शिक्षण-कार्य-मूल्यांकन विधियों को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) सांख्यिकी विधि।
(२) प्रश्नावलि विधि।
(३) मापन विधि।
(४) तुलनात्मक विधि।

(१) सांख्यिकी विधि

शिक्षण-कार्य के मूल्यांकन के लिए इस विधि का उपयोग, छात्रों की प्रगति, स्तर, आयुक्रम के ज्ञान, पर्यवेक्षक के संस्था पर अधिकार, शिक्षण-निर्देशन के प्रभाव, पाठ्यक्रम-विकास, शिक्षक-समाज संबंधों, आदि के संदर्भ में किया जा सकता है। इस विधि का उपयोग सन् १९०९ में अेयर महोदय ने छात्रों की प्रगति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया था। इसके बाद अनेक शिक्षा-विदों ने इसका उपयोग किया है। परन्तु अभी भी यह पूर्णरूपेण विकसित नहीं हुई है। इसका स्वरूप निखरता जा रहा है तथा क्षेत्र-विशेष की सांख्यिकी जानकारी प्राप्त कर, उसके प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए इस विधि का उपयोग अधिक किया जाने लगा है। इस विधि का उपयोग इसलिए अधिक हो रहा है क्योंकि यह विधि यंत्रवत है तथा इससे निश्चित परिणाम उपलब्ध

---

[1] Neagley, Ross L., & Evans, N. Dean, *Handbook for Effective Supervision of Instruction*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, 1964, p. 220.

करना सम्भव है। इसके माध्यम से प्रत्येक शाला के शिक्षण संबंधी विकास का ज्ञान अच्छी तरह हो जाता है।

इस विधि का उपयोग लाओरी नेलसन ने, संस्था के प्राचार्य का संस्था पर अधिकार तथा उसकी सीमा आँकने के लिए किया था। परन्तु उसने प्रयोग द्वारा यह पाया कि सांख्यिकी विधि द्वारा यह सिद्ध करना कठिन है कि अधिकार की मात्रा, कार्य-सफलता की प्रामाणिकता के लिए यथेष्ट रूप से आवश्यक है क्योंकि उसने देखा कि अधिक अधिकार वाले प्राचार्य, कुशल न होने से, उनका पूर्ण उपयोग न कर सके; कम अधिकार वाले अपनी अधिक योग्यता से अधिक सफलता से कार्य कर सके तथा समान अधिकार वाले प्राचार्य अपने स्वभाव, गुण तथा योग्यता की विभिन्नता के कारण, कार्य-स्तरों में बहुत विभिन्न रहे। अंतः शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के क्षेत्र में सांख्यिकी विधि को सहायक विधि के रूप में उपयोग में लाना उचित होगा।

अमेरिका की राष्ट्रीय शिक्षा-समिति ने सांख्यिकी विधि का उपयोग पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता एवं शाला के कार्यक्रमों की उपयोगिता आँकने की दृष्टि से किया। इस विधि से एकत्रित तथ्यों को उसने राष्ट्र, समाज तथा राज्य के समक्ष प्रस्तुत किया। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये तथ्य तथा निष्कर्ष उतने श्रेष्ठ सिद्ध नहीं हुए। कुछ आंशिक सफलता उन्हें अवश्य मिली।

इन प्रयोगों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस विधि द्वारा, बाल-प्रगति, शिक्षण, पर्यवेक्षण, नेतृत्व आदि में सहायक सिद्ध होने वाले तत्वों का समुचित रूप से अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इस विधि द्वारा, मान-वीय प्रभावों तथा प्रगति-सम्बन्धी सूक्ष्म प्रभावों एवं उनकी सीमा को आँकना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि शालाओं में सूक्ष्म प्रभाव, स्थिति, नियम, कार्य-स्तर, आदर्श वातावरण समान प्रतीत होते हुए भी सूक्ष्म रूप से पर्याप्त भिन्नता रहती है।

(२) प्रश्नावलि-विधि

बालकों के विकास को पाठ्यक्रम, निर्देशन, शिक्षक—उनका प्रशिक्षण, आयु तथा अनुभव, सहायक सामग्री, पाठ्य पुस्तक, बाल-रुचि, भौतिक, सामाजिक तथा नैतिक वाता-वरण, शाला-नियम, आदि अनेक प्रतिकारक प्रभावित करते हैं। अतः केवल बालक में दृष्टिगोचर होने वाले परिवर्तनों के आधार पर पर्यवेक्षण के नेतृत्व की परख नहीं की जा सकती है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-नेतृत्व के मूल्यांकन में उपर्युक्त दर्शाये इन प्रतिकारकों का ध्यान रखना आवश्यक है। इसके लिए प्रश्नावलि-विधि का उपयोग अच्छा रहता है। इस विधि द्वारा बालक के विकास को प्रभावित करने वाले तत्वों तथा प्रतिकारकों का मापन सरलता से किया जा सकता है।

शिक्षा-पर्यवेक्षण-नायकत्व की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन शिक्षकों द्वारा नियोजित तथा क्रियान्वित क्रियाओं के आधार पर किया जा सकता है। इसके लिए इन गतिविधियों

के संबंध में शिक्षकों, शिक्षाविदों तथा अन्य संबंधित सदस्यों से प्रश्नावलि के द्वारा मत लिया जाना आवश्यक रहता है। इस दृष्टि से सम्मति या मत गणना के लिए प्रश्नावलि-विधि अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन की शुद्धता के लिए शिक्षक, छात्र तथा पालक, तीनों की राय जानना अधिक उपयोगी होगा। बार तथा रेयन ने प्रश्नावलि के माध्यम से शिक्षकों की पर्यवेक्षण-प्रक्रिया के प्रति अभिवृत्ति का अध्ययन किया। ७१ शहरों के २०,००० शिक्षकों को प्रश्नावलि भेजकर पर्यवेक्षण संबंधी तथ्य एकत्रित करने पर इन विद्वानों को ज्ञात हुआ कि शिक्षा-पर्यवेक्षण में, सुनियोजना तथा सुसंगत रचना का अभाव, शिक्षण के मध्य पर्यवेक्षक द्वारा अवरोध, अनावश्यक बातों पर बल, दैनिक व्यावहारिक समस्याओं की ओर कम ध्यान, नवीन प्रयोगों की ओर उदासीनता, शिक्षा-नीतियों में आकस्मिक तथा निरुद्देश्य परिवर्तन, नियंत्रण की भावना अधिक, ध्वंसात्मक प्रवृत्ति, महत्वपूर्ण उपयोगी सुझावों का अभाव, शिक्षण-उन्नति में बाधक होना आदि अनेक दोष विद्यमान हैं। इन विद्वानों को शिक्षा-पर्यवेक्षण के गुणों संबंधी तथ्य भी मिले, जैसे शिक्षक को कार्य के प्रति सचेष्ट बनाना, शिक्षकों को कर्त्तव्यनिष्ठ बनने को प्रोत्साहित करना, शिक्षकों की समस्याओं का निवारण करना, शिक्षकों के कार्य को नियंत्रित करना, नवीन शिक्षकों में अनुकूलन विकसित करना, मौलिक कार्यों के लिए सुविधाएँ देना आदि। प्रश्नावली के उत्तरों से इन विद्वानों को यह भी ज्ञात हुआ कि कक्षा-भ्रमण तथा शिक्षण-अवलोकन, गोष्ठी, शिक्षण-प्रदर्शन, शिक्षा-सम्मेलन, व्यावसायिक साहित्य-अध्ययन आदि विधियों का उपयोग शिक्षा-पर्यवेक्षण में अधिक किया गया है। प्रश्नावलि के आधार पर एकत्रित तथ्यों से इन दोनों विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला कि कुशल तथा उपयुक्त पर्यवेक्षण शिक्षण-स्तर-सुधार में सहायक होता है।

रेडिट ने पर्यवेक्षण-नेतृत्व पर विशेष अन्वेषण किया तथा प्रश्नावलि-विधि का उपयोग कर अनेक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले; जैसे पर्यवेक्षकों में निष्ठाभाव रहता है, ये प्रदर्शन को कम महत्व देते हैं, निष्पक्ष पर्यवेक्षण उत्साह-वर्धक तथा कार्य-सम्पन्नता में सहायक होता है, पर्यवेक्षण शिक्षकों को यथेष्ट सहायता पहुँचाते हैं, आदि। इन्होंने पर्यवेक्षण के माध्यम से शिक्षकों के विकास के संबंध में अनेक सुझाव भी दिये हैं।

जूड ने निर्देशन-सेवा-गतिविधियों का मूल्यांकन प्रश्नावलि के माध्यम से किया। इस प्रश्नावलि में उन्होंने निर्देशन-सेवा-गतिविधियों की शाला-दर्शन से अनुरूपता, इन गतिविधियों के प्रति छात्र-प्रतिक्रिया, इनके प्रकार, मूल्यांकन, इनके आधार पर प्रगति के प्रमाण आदि से संबंधित प्रश्नों का समावेश किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के लिए प्रश्नावलि का उपयोग किया जाना लाभदायक रहता है। प्रश्नावलि के माध्यम से बालक में होने वाले विकास तथा परिवर्तनों के साथ, उन सभी तत्वों एवं प्रतिकारकों के प्रभावों का ज्ञान भी होता है जो बाल-विकास में सहायक होते हैं।

(३) मापन विधि

मापन विधि द्वारा शिक्षा-पर्यवेक्षण-कार्य में अन्तर तथा भेद की सीमा का समुचित मूल्यांकन किया जा सकता है। शिक्षण-कार्यक्रम में होने वाले सुधार की सीमा का ज्ञान भी मापन विधि द्वारा सम्भव है। इस प्रकार शिक्षा-पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता को आँकने के कार्य में मापन विधि सहायक होती है। पर्यवेक्षण तथा उसके नेतृत्व की प्रभावपूर्णता, शालाओं के कार्यक्रमों की सूची तथा विवरण-पत्रिकाओं से भी ज्ञात हो सकती है। शिक्षक तथा छात्रों के विकास के मापन के समान पर्यवेक्षकों तथा निरीक्षकों के प्रभाव, विकास आदि के मापन की विधियाँ विकसित नहीं हुई हैं। रेटिंग स्केल या श्रेणीबद्ध करने, आदि की दिशा में कुछ कार्य हुआ है। साथ ही साथ मूल्यांकन के सिद्धान्त, रुचि, तालिका आदि साधनों तथा विधियों का विकास भी हुआ है।

(४) तुलनात्मक विधि

तुलनात्मक विधि से छात्रों के विकास का अध्ययन करने के लिए उन्हें दो समूहों में विभक्त किया जाता है—(१) नियंत्रित (controlled) समूह तथा (२) अनियंत्रित (uncontrolled) समूह। इस विधि में प्रयोग तथा खोज की जाती है। अतः इसे प्रयोग-विधि या अन्वेषण विधि भी कह सकते हैं।

नियंत्रित समूह में छात्रों को साविधिक ढंग से अध्ययन किये जा रहे तत्वों द्वारा नियंत्रित रखा जाता है। अनियंत्रित समूह में छात्र स्वतंत्र रहते हैं। इस प्रकार नियंत्रित समूह सम्पूर्ण निरीक्षण तथा नियंत्रण में रहता है एवं अनियंत्रित समूह के छात्र, मुक्त और स्वतत्र रहते हैं।

तुलनात्मक विधि द्वारा बाल-विकास का विभिन्न क्षेत्रों में अध्ययन, शैक्षणिक गति-विधियों के अंतर संबंधी सम्पूर्ण तथा आंशिक संबंध एवं उनमें परस्पर समन्वय का अध्ययन आदि, वैज्ञानिक ढंग से किया जा सकता है। पर्यवेक्षण-नेतृत्व द्वारा छात्रों की प्रगति की प्रभावपूर्णता के मूल्यांकन का अध्ययन इस विधि द्वारा अनेक विद्वानों ने किया है। मिस क्रैब का अध्ययन इस विषय में विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने एक समूह के शिक्षकों को पर्यवेक्षण के अन्तर्गत तथा दूसरे समूह को स्वतंत्र, बिना पर्यवेक्षण के, शिक्षण-कार्य करने दिया। मिस क्रैब ने प्रयोग के आधार पर अध्ययन से ज्ञात किया कि दोनों प्रकार के शिक्षक-समूहों के साधन, कार्य-विधि तथा कार्य-स्तरों में स्पष्ट एवं पर्याप्त अन्तर है। इतना ही नहीं, पर्यवेक्षण के अन्तर्गत कार्यरत शिक्षक-समूह का कार्य-स्तर साधन, विधि सभी श्रेष्ठतर हैं। मिस क्रैब ने इसके साथ-साथ छात्र-विकास का मापन भी आवश्यक समझा। ग्रीन फील्ड महोदय ने भी तुलनात्मक विधि का उपयोग कर पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता का अध्ययन किया तथा निष्कर्ष निकाला कि शिक्षा-पर्यवेक्षण शिक्षण-स्तर, विधियों तथा साधनों का विकास करता है। इनका निष्कर्ष यह भी था कि मूल्यांकन की सार्थकता तथा वास्तविकता के लिए नियंत्रित प्रयास आवश्यक है।

कोर्टिस तथा वार्न्स ने डेट्रोयट पब्लिक शालाओं में भूगोल के विषय के छात्रों का तुलनात्मक विधि से अध्ययन किया। छः सप्ताह के अपने अध्ययन से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पर्यवेक्षण होते रहने वाली शालाओं के छात्रों की प्रगति अपर्यवेक्षित शालाओं की अपेक्षा अधिक अच्छी रही। पिटमेन ने ग्रामीण संस्थाओं के अध्ययन के लिए तुलनात्मक विधि का उपयोग किया। इन्होंने अपने क्षेत्र की तेरह संस्थाओं के छात्रों के विकास का अध्ययन किया। संस्थाओं को पर्यवेक्षित तथा अपर्यवेक्षित, दो भागों में विभक्त कर उन्होंने दोनों प्रकार की शालाओं में अनेक प्रतिकारकों को समान रखा, जैसे छात्र-संख्या, वित्त, स्तर तथा अन्य बाह्य तत्व आदि। सात माह तक अध्ययन करने के उपरान्त पिटमेन ने निष्कर्ष निकाला कि पर्यवेक्षित शालाओं के छात्रों की प्रगति, अपर्यवेक्षित शालाओं के छात्रों की अपेक्षा अधिक अच्छी रही। पर्यवेक्षित शालाओं के शिक्षकों ने विषय संबंधी पुस्तकों का अध्ययन चौगुनी गति से किया। इनमें व्यावसायिक कौशल अधिक परिलक्षित हुआ। छात्रों की उपस्थिति, सामाजिक पक्ष, परिणाम आदि भी पर्यवेक्षित शालाओं में अधिक अच्छे रहे।

गिलन्टाइन ने पूर्वी कक्षा के छात्रों के पढ़ने की क्षमता का अध्ययन तुलनात्मक विधि द्वारा किया। इन्होंने अनेक प्रतिकारकों को नियंत्रित किया तथा मापन के अनेक प्रामाणिक साधनों, जैसे स्टैनफोर्ड उपलब्धि परीक्षण, थार्नडाइक मैकाल रीडिंग स्केल, गेट्स साइलैंट रीडिंग टेस्ट, स्टोन नेरेटिव रीडिंग टेस्ट आदि का उपयोग कर निष्कर्ष निकाले कि अध्ययन के प्रारम्भ में दोनों समूह के छात्रों की पढ़ने की क्षमता, सामान्य से कम स्तर की थी। पर्यवेक्षित समूह में पढ़ने की क्षमता का अपर्यवेक्षित समूह से अधिक विकास हुआ तथा यह सामान्य से आगे बढ़ी। पर्यवेक्षित समूह के छात्रों की अन्य विषयों में प्रगति भी सामान्य रही।

उपर्युक्त प्रयोग किसी क्षेत्र-विशेष में पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता परखने की दृष्टि से किये गये थे। शिक्षण के विभिन्न तत्वों तथा क्षेत्रों के आपसी संबंधों की परख के लिए भी तुलनात्मक विधि का उपयोग किया गया। वाइशन ने शिक्षण से संबंधित अनेक प्रतिकारकों के आपसी संबंधों की परख की। इन्होंने छात्रों को दो समूहों में विभक्त किया तथा तीन सप्ताह से छः माह तक प्रयोग के बाद, निश्चित तथा सामान्य शिक्षा-उद्देश्यों के आधार पर छात्रों की परख की। पर्यवेक्षण को उत्तम बनाने के लिए निर्देशन देने के उद्देश्य से शाला-भ्रमण की योजना भी बनायी। प्रत्येक भ्रमण में कुछ विशिष्ट क्रियाओं का सम्पादन आवश्यक रूप से निर्धारित किया गया। प्रत्येक समूह ने १२ स्थानों में भ्रमण किया। इस प्रयोग के अध्ययन से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि उचित निर्देशन तथा व्यवस्थित शाला-भ्रमण-योजना, सम्पूर्ण पर्यवेक्षण को उन्नत बनाते हैं। इस प्रयोग के मध्य उन्होंने छात्रों के विकास पर, शिक्षकों की कुशलता के प्रभाव का अध्ययन भी किया।

इस प्रकार तुलनात्मक विधि के प्रयोग से भी शिक्षा-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन तथा छात्र-विकास की प्रगति परखी जा सकती है।

शिक्षा-पर्यवेक्षकों का मूल्यांकन

शिक्षा-पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन शिक्षा-पर्यवेक्षकों की गतिविधियों तथा कौशलों की परख के आधार पर भी किया जा सकता है। इसके लिए निम्नांकित विधियों का उपयोग किया जा सकता है :

(१) पर्यवेक्षकों द्वारा स्वयं-मूल्यांकन।
(२) शिक्षकों द्वारा पर्यवेक्षक का मूल्यांकन।
(३) अन्य अधिकारियों द्वारा पर्यवेक्षक का मूल्यांकन।

(१) पर्यवेक्षकों द्वारा स्वयं-मूल्यांकन

स्वयं-मूल्यांकन, शिक्षण-स्तर के सुधार के लिए एक प्रभावी साधन है। परन्तु स्वयं-मूल्यांकन के लिए प्रश्नावलि, चेक लिस्ट आदि का विकास किया जाना आवश्यक है। वाइल्स ने पर्यवेक्षकों के स्वयं-मूल्यांकन के लिए एक चेक लिस्ट विकसित की है। इसके आधार पर आवश्यकतानुसार दूसरी चेक लिस्ट विकसित की जा सकती है। अेयर तथा पेकहम[1] ने पर्यवेक्षण-नियोजन तथा मूल्यांकन के लिए सम्पूर्ण चेक लिस्ट विकसित की है।

(२) शिक्षकों द्वारा पर्यवेक्षकों का मूल्यांकन

शिक्षकों के द्वारा पर्यवेक्षकों के मूल्यांकन के लिए भी प्रश्नावलि या चेक लिस्ट का विकास किया जाना आवश्यक है। प्राचार्य की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन शिक्षक अच्छी तरह कर सकते हैं। अपने प्राचार्य तथा शिक्षा-पर्यवेक्षक के कार्यों, गतिविधियों के मूल्यांकन में शिक्षकों का पर्याप्त रूप से सहायक होना आवश्यक है। नीग्ले तथा ईवान्स ने अपने १४ शिक्षकों के स्टाफ की सहायता से पर्यवेक्षण की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन करने संबंधी प्रयोग किये। इन्होंने चेक लिस्ट बनायी तथा इसके माध्यम से अनेक ऐसे तत्वों का पता लगाया, जिनमें सुधार आवश्यक था। इस चेक लिस्ट में गुण तथा सापेक्ष सम्मति, दोनों देने का प्रावधान था। इस प्रयोग से ज्ञात हुआ कि कक्षा-भ्रमण की संख्या तथा रचनात्मक सहायता दोनों की दृष्टि से प्राचार्य का कार्य समुचित नहीं रहा। कक्षा-भ्रमण तथा तत्पश्चात् की जाने वाली शिक्षक-बैठकों के माध्यम से और भी अधिक विशिष्ट पाठ्यक्रम-सहायता पहुँचायी जानी चाहिये। प्राचार्य को छात्रों की आवश्यकताओं तथा रुचियों का और भी अधिक ज्ञान होना लाभकारी होगा। प्राचार्य को शिक्षकों द्वारा लिये गये निर्णयों को और अधिक सजगता तथा बल से कार्यान्वित करना चाहिये। नवीन शिक्षकों के व्यवस्थापन के लिए और अधिक कार्यक्रम किया जाना चाहिये। इन निष्कर्षों के आधार पर अनेक निर्णय लेकर शाला में प्राचार्य की प्रभावपूर्णता को विकसित किया गया।

---

[1] Ayer, Fred C. & Peckham, Dorothy, Reed, *Check List for Planning and Appraising Supervision*, The Stock Company, Austin, Texas, 1948.

शिक्षकों के द्वारा, मूल्यांकन के साथ-साथ यदि स्वयं-मूल्यांकन भी किया जाये तथा इन दोनों विधियों के माध्यम से निकाले गये निष्कर्षों के आधार पर पर्यवेक्षण को उन्नत बनाने के प्रयास किये जायें, तब उन्नति एवं सुधार अपेक्षाकृत अधिक होगा । अतः प्राचार्य तथा शिक्षा-पर्यवेक्षक दोनों को इन दोनों विधियों के उपयोग से अपनी प्रभावपूर्णता के विकास का प्रयास करना चाहिये ।

(३) अन्य अधिकारियों द्वारा मूल्यांकन

अन्य उच्च अधिकारियों द्वारा प्राचार्य या शिक्षा-पर्यवेक्षक की प्रभावपूर्णता का मूल्यांकन उनके प्रतिवेदनों, पत्र-व्यवहार, चर्चाओं तथा उनकी गतिविधियों संबंधी चेक लिस्ट के आधार पर किया जा सकता है । स्वयं-मूल्यांकन या शिक्षकों के उपयोग के लिए विकसित चेक लिस्टों के आधार पर ही, उच्च अधिकारियों द्वारा मूल्यांकन के लिए चेक लिस्ट तैयार की जाती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन, उपर्युक्त दर्शायी गई विधियों द्वारा किया जा सकता है । परन्तु सामान्यतः शिक्षा-पर्यवेक्षण का मूल्यांकन सरसरी तौर पर अविधिक रूप से किया जाता है । शिक्षा-पर्यवेक्षण का सामग्र मूल्यांकन, शिक्षण-स्तर-विकास तथा शिक्षकों एवं पर्यवेक्षकों की कार्य-क्षमताओं को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक है । इस संबंध में और अधिक शोध किया जाना आवश्यक है ।

अध्याय २३

विभिन्न देशों में शिक्षा-पर्यवेक्षण

आजकल शाला-पर्यवेक्षण का उद्देश्य केवल यह देखना ही नहीं है कि शासन या समाज द्वारा दिया गया धन उचित ढंग से व्यय किया गया है या नहीं; वरन् इसके माध्यम से शिक्षण-कला को उन्नत बना कर शिक्षा-स्तर में विकास करना भी इसका उद्देश्य है। यहाँ यह देखना उचित होगा कि संसार के विकसित देशों में शाला या शिक्षा-पर्यवेक्षण किस प्रकार किया जाता है। इस तुलनात्मक अध्ययन से, शिक्षण-उन्नत करने के लिए विभिन्न देशों में किये जा रहे प्रयासों का ज्ञान तो होता ही है, शिक्षण-समस्याओं को समझने तथा हल करने के कौशलों का भी विकास होता है। यहाँ हम भारत, इंगलैण्ड, अमेरिका तथा रूस में किये जाने वाले शिक्षा-पर्यवेक्षण का अध्ययन करेंगे।

भारत में शिक्षा-पर्यवेक्षण

भारत में शिक्षा-पर्यवेक्षण का विधिवत कार्य १८५४ के वुड शिक्षा-महाविधान के अनुसार, प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग बनने तथा निरीक्षकों की नियुक्ति से प्रारम्भ हुआ। परन्तु इसके पूर्व भी १९वीं सदी के प्रारम्भ में शिक्षा-पर्यवेक्षण, मद्रास प्रेसीडेंसी में प्रारम्भ किया गया था। उस समय शिक्षा-पर्यवेक्षण के लिए कोई विशिष्ट कर्मचारी या अधिकारी नियुक्त नहीं किया जाता था। मेस्टन की "इंडियन एजूकेशन पॉलिसी" (पृष्ठ १७) से ज्ञात होता है कि सहायता-प्राप्त शालाओं को मिशनरी ही नियमित रूप से देखते थे। शाला-पर्यवेक्षण के लिए अलग से अधिकारी नियुक्त नहीं किये जाते थे। शालाओं को अपना वित्तीय प्रपत्रक सीधे सरकार की मंजूरी के लिए प्रेषित करना आवश्यक था। सन् १८४३ में बम्बई प्रेसीडेन्सी को तीन क्षेत्रों में विभक्त कर प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक-एक अंग्रेज इन्सपेक्टर तथा एक-एक भारतीय सहायक नियुक्त किये गये। इसी प्रकार बंगाल तथा आसाम के लिये भी एक-एक शाला-निरीक्षक की नियुक्ति की गयी। सन् १८४९ में उत्तर प्रदेश में सम्पूर्ण प्रान्त के लिए एक विजिटर जनरल, प्रत्येक जिले के लिए एक-एक विजिटर तथा जिला-विजिटरों की सहायता के लिए सहायक विजिटर नियुक्त किये गये। इन सहायक विजिटरों को परगना-विजिटर कहते थे।

सन् १८५६ तक वुड शिक्षा-महाविधान की सिफारिशों के आधार पर भारत के प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना के प्रयास किये जा चुके थे। प्रारम्भ में केवल

बड़े प्रान्तों में शिक्षा-विभाग बने तथा धीरे-धीरे लगभग १२ वर्षों में सभी प्रान्तों में शिक्षा-विभाग बन गये। इन सभी प्रान्तों में एक-एक प्रमुख शिक्षा-अधिकारी तथा इसकी सहायता के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति की गयी। ये निरीक्षक अपने क्षेत्र की शालाओं तथा महाविद्यालयों के शिक्षण-कार्य, स्थिति आदि के संबंध में प्रतिवेदन, अपने उच्च अधिकारी को भेजते थे। साथ ही साथ शाला-प्रवन्धकों एवं शिक्षकों को महाविद्यालय एवं शाला, व्यवस्थित करने तथा चलाने के लिये आवश्यक परामर्श भी देते थे।

सन् १८८२ के हंटर अयोग ने अपने प्रतिवेदन में तत्कालीन शिक्षा-इन्सपेक्टरों के संबंध में आँकड़े दिये हैं। इनसे, भारत में उस समय के शाला-निरीक्षकों की कुल संख्या ज्ञात होती है। उस समय भारत में कुल ४५ इन्पेक्टर तथा असिस्टेंट इन्सपेक्टर थे। डिप्टी इन्सपेक्टर २३८ तथा सब-डिप्टी इन्सपेक्टर २४१ थे। आयोग ने इनके क्षेत्रीय विभाजन का स्वरूप भी बतलाया है, जिससे ज्ञात होता है कि निरीक्षकों या इन्सपेक्टरों का विभाजन बराबर नहीं था। बंगाल तथा मद्रास में इनकी संख्या अधिक थी एवं मध्य प्रदेश, कुर्ग, आसाम आदि में इनकी संख्या बहुत कम थी। इसका कारण यह था शिक्षा उस समय केन्द्र द्वारा नियंत्रित थी तथा निरीक्षकों की नियुक्तियों के संबंध में केन्द्र की कोई स्पष्ट निर्धारित नीति नहीं थी। इनकी संख्या-वृद्धि के लिए केन्द्र की संस्वीकृति भी आवश्यक रहती थी।

सन् १८९६ में पब्लिक सर्विस कमीशन की सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने शिक्षा-अधिकारियों के तीन स्तर—(१) भारतीय शिक्षा-सेवा, (२) प्रान्तीय शिक्षा-सेवा तथा (३) आश्रित सेवा—निर्मित किये। इसके आधार पर २०वीं सदी के प्रारम्भ तक भारत में इन तीनों शिक्षा-सेवाओं में काफी संख्या में निरीक्षक नियुक्त किये गये तथा सन् १९१९ में आई० ई० एस० में भारत से ही भरती होने लगी तथा ३३ प्रतिशत स्थान प्रान्तीय शिक्षा-सेवा से ही भरे जाने लगे। परन्तु १९२४ में आई० ई० एस० सेवा-आयोग की सिफारिशों के अनुसार आई० ई० एस० सेवाएँ समाप्त कर दी गयीं।

स्वतंत्रता के उपरान्त भारत में शिक्षा-निरीक्षकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९५६ में इनकी संख्या १८६८ हो गयी। सन् १९५६ की तुलना में सन् १९६६ में शाला-निरीक्षकों की संख्या लगभग दुगनी हो गयी। आजकल भारत के प्रत्येक राज्य में निरीक्षकों का संगठन प्रायः एक-सा ही है। प्रत्येक राज्य कुछ क्षेत्रों में विभक्त है तथा प्रत्येक क्षेत्र में कुछ जिले सम्मिलित रहते हैं। जिला, रेंज या खण्डों में विभक्त रहता है। ये रेंज या खण्ड-निरीक्षकों तथा पर्यवेक्षकों की सबसे छोटी इकाई हैं। कुछ राज्यों में शिक्षा-संचालक, महाविद्यालयीन तथा शाला—दोनों स्तरों की शिक्षा-व्यवस्था करता है तथा कुछ राज्यों में शिक्षा-सचिव महाविद्यालयीन तथा शिक्षा-संचालक, शाला-स्तर की शिक्षा का पर्यवेक्षण तथा प्रशासन करते हैं। कहीं-कहीं क्षेत्रीय शिक्षा-अधिकारी माध्यमिक शालाओं की देख-रेख तथा व्यवस्था करते हैं परन्तु कई राज्यों में जिला-शिक्षा-अधिकारी माध्यमिक शालाओं को देखते हैं। निरीक्षक अपनी निरीक्षण-रिपोर्ट या प्रतिवेदन के माध्यम से शाला-व्यवस्था तथा शिक्षण संबंधी निर्देशन शालाओं को देता है।

भारत में शाला या शिक्षा-पर्यवेक्षण संबंधी समस्याएँ

भारत में शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्य माध्यमिक शाला के प्रधानाचार्य या प्राचार्य तथा क्षेत्रीय शिक्षाधिकारी करते हैं। प्राथमिक स्तर पर यह कार्य प्रधानाध्यापक, रेंज या खण्ड शिक्षाधिकारी तथा जिला शिक्षाधिकारी करते हैं। परन्तु इन निरीक्षण-अधिकारियों की संख्या बहुत कम है। एक-एक क्षेत्रीय निरीक्षण-अधिकारी के पास १५० माध्यमिक शालाएँ तक रहती हैं। कार्यालय का कार्य भी बहुत अधिक बढ़ गया है। अतः उन्हें कार्यालय के कार्यों से ही अवकाश नहीं मिल पाता है। अनेक राज्यों में निरीक्षक केवल स्नातक-स्तर तक शिक्षा प्राप्त रहते हैं जिससे वे शिक्षकों का समुचित मार्ग-दर्शन नहीं कर पाते। अनेक निरीक्षकों की व्यावसायिक योग्यताएँ भी कम होती हैं। अतः सामान्यतः निरीक्षक, नियंत्रण तथा प्रशासन पर ही अधिक बल देते हैं तथा पर्यवेक्षण की उपेक्षा होती है। शालाओं के प्राचार्यों की प्रवृत्तियाँ भी, नियंत्रण तथा प्रशासन करने की ओर अधिक रहती हैं। कक्षा-पर्यवेक्षण, विचार-विमर्ष, गोष्ठियाँ आदि आयोजित कर, कक्षा-शिक्षण उन्नत करने की ओर उनका ध्यान कम ही रहता है।

भारत में शिक्षा-प्रशासन तथा पर्यवेक्षण—दोनों उत्तरदायित्व, एक ही शिक्षा अधिकारी वहन करता है। इससे स्वाभाविक है कि प्रशासन तो ठीक चलता है परन्तु पर्यवेक्षण उपेक्षित-सा ही रहता है।

शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने भारत में समुचित शिक्षा-पर्यवेक्षण के न होने के निम्नांकित कारण बतलाये हैं :

(१) शालाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि होना परन्तु निरीक्षकों की संख्या इस अनुपात में न बढ़ना।

(२) एक ही अधिकारी को प्रशासन तथा पर्यवेक्षण दोनों का उत्तरदायित्व सौंपना।

(३) निरीक्षकों का सामुदायिक विकास-खण्डों में शैक्षणिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में संलग्न रहना।

(४) कक्षा-पर्यवेक्षण की रूढ़िगत तथा परम्परागत विधियों का अवलम्बन।

(५) निरीक्षकों की योग्यता कम होना।

शिक्षा-पर्यवेक्षण की समस्याएं कैसे हल की जायें ?

शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने भारतीय शिक्षा-पर्यवेक्षण के दोषों को दूर करने तथा इसे उन्नत बनाने के लिये अनेक सुझाव दिये है जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) प्रशासन तथा पर्यवेक्षण को अलग-अलग करना

शिक्षा-आयोग का सुझाव है कि शिक्षा-प्रशासन का कार्य जिला-बोर्ड करे तथा पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व शिक्षा-अधिकारियों को सौंपा जाये। ये दोनों एक दूसरे के कार्य

में आवश्यक सहायता दें तथा मेल जोल से कार्य करें। इन दोनों के मध्य विवाद उठने पर जिला-शिक्षाधिकारी की ही बात मान्य की जाये। जिला-शिक्षाधिकारी शिक्षकों को परामर्श दें, कक्षा-शिक्षण की उन्नति के लिए विचार-विमर्ष या अन्य गतिविधियाँ अपनायें, सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण की व्यवस्था करें तथा विस्तार-सेवाओं के माध्यम से शालाओं तथा शिक्षकों की आवश्यक सहायता करें।

(२) शालाओं को मान्यता देना

शालाओं को मान्यता स्वाभाविक रूप से अपने आप नहीं मिलनी चाहिये। इसके लिए उचित नियम बनाये जायें तथा उत्तम परम्पराओं का विकास किया जाये। ये नियम शासकीय, अशासकीय सभी शालाओं के लिए लागू हों। शालाओं की मान्यता शिक्षा-विभाग द्वारा दी जाये। इससे शिक्षण का स्तर उच्च होगा।

(३) निरीक्षण अधिक किये जायें

आजकल शालाओं का निरीक्षण प्राय: सरसरी तौर से ही होता है। प्रत्येक शाला का वर्ष में एक बार विस्तार से निरीक्षण अवश्य होना चाहिये। प्राथमिक शालाओं का तीन या पंचवर्षीय निरीक्षण, शिक्षाधिकारी तथा दो या तीन प्रधानाचार्यों या शिक्षकों के पेनल द्वारा किया जाना चाहिये। माध्यमिक शालाओं का यह निरीक्षण, माध्यमिक शिक्षा-परिषद के शिक्षा-अधिकारी तथा चुने हुए कुछ प्राचार्यों की सहायता से किया जाना चाहिये।

(४) योग्य तथा अधिक क्षमतावान शिक्षाधिकारियों की नियुक्ति

यदि शिक्षा-पर्यवेक्षण को उन्नत करना है तो योग्य तथा अच्छी क्षमता वाले शिक्षाधिकारियों की नियुक्ति अति आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा-आयोग ने तीन उपाय, सुझाये हैं—(१) निरीक्षकों की योग्यता-वृद्धि, (२) विशेषज्ञों की नियुक्ति, तथा (३) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण-गतिविधियों की व्यवस्था। ये कार्य राज्य-शिक्षा-संस्थानों तथा राष्ट्रीय शिक्षा-प्रशासकों के स्टाफ द्वारा सम्पन्न किये जाने चाहिये।

(५) पर्यवेक्षण लचीला हो

विभिन्न शालाओं को विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान करना आवश्यक है। कमजोर शालाओं को समुचित निर्देशन तथा बल दिया जाना चाहिये। शालाओं को उन्नति करने के मार्ग बतलाना तथा प्रयोग करने का प्रोत्साहन देना बहुत आवश्यक है। इन गतिविधियों को लगातार चलाना चाहिये। पर्यवेक्षण का यह उत्तरदायित्व होना चाहिये कि शालाओं को उन्नति संबंधी आवश्यक निर्देशन तथा विस्तार-सेवाओं की आवश्यक सहायता उसके माध्यम से सतत् उपलब्ध होती रहे।

(६) शिक्षा की कामन-शाला-विधि को अपनाना

शिक्षा की वर्तमान विधि के स्थान में कामन-स्कूल-विधि का विकास किया जाये। इस विधि के अन्तर्गत सभी शालाएँ एक निम्नतम स्तर की होंगी तथा विशिष्ट शालाएँ क्रमशः समाप्त हो जायेंगी। स्कूल-काम्प्लेक्स (School complex) के माध्यम से शालाएँ समन्वित होकर अपने विकास के कार्य करेंगी।

(७) राष्ट्रीय स्तर पर शाला-विकास-कार्यक्रम विकसित करना

राष्ट्रीय स्तर पर शाला-विकास-कार्यक्रम विकसित करना जिससे (१) शालाओं का शिक्षण एक निश्चित किये गये स्तर का हो, (२) प्रत्येक शाला को अपने अधिकतम विकास के लिए आवश्यक सहायता प्रदान की जा सके तथा (३) अगले १० वर्षों में लगभग १०% शालाएँ अपना अधिकतम विकास कर सकें।

इन उपर्युक्त कार्यक्रमों को अपनाकर पर्यवेक्षण को समुन्नत तथा भारतीय शालाओं का शैक्षणिक स्तर उच्च बनाया जा सकता है।

इंग्लैण्ड में शिक्षा-पर्यवेक्षण

इंग्लैण्ड में शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्य (१) हिज मेजेस्टीज इन्सपेक्टर (एच० एम० आई०) तथा (२) स्थानीय शिक्षा-प्रशासन-इन्सपेक्टर या एल० ई० ए० के शिक्षा-निरीक्षक करते हैं। ये हिज मेजेस्टीज इन्सपेक्टर इसलिए कहलाते हैं कि पहले इन्हें इंग्लैण्ड के राजा या रानी को शिक्षा संबंधी प्रतिवेदन भेजना आवश्यक रहता था। अब ये शिक्षा-मंत्रालय को अपना प्रतिवेदन भेजते हैं। इन्हें शिक्षा-मंत्रालय का "आँख और कान" की संज्ञा दी जाती है। शिक्षा के संबंध में ये जो देखते तथा सुनते हैं, उसका विवरण इनके प्रतिवेदन में होता है।

इंग्लैण्ड में एच० एम० आई० योग्य और अनुभवी शिक्षक होते हैं जिनकी आयु ३० से ५० वर्ष की होती है। इनकी नियुक्ति, राजा या रानी द्वारा नियुक्ति-समिति की सिफारिश पर होती है। इनका चीफ इन्सपेक्टर, सिविल-सर्विस-कमीशन का एक प्रतिनिधि होता है।

इंग्लैण्ड में शिक्षा-निरीक्षक या इंस्पेक्टोरेट का विकास क्रमशः हुआ है। सन् १९४४ के एक्ट की आवश्यकताओं के अनुसार निरीक्षकों की आवश्यकताओं की जाँच के लिए एक समिति नियुक्त की गयी थी। इसकी सिफारिश पर प्राथमिक तथा माध्यमिक विभागों में अन्तर समाप्त किया गया तथा छः विभाग विकसित किये गये। प्रत्येक विभाग एक चीफ इन्सपेक्टर के अन्तर्गत रहता है। सभी चीफ इन्सपेक्टर एक सीनियर चीफ इन्सपेक्टर के अन्तर्गत रहते हैं। इंग्लैण्ड के १० क्षेत्रीय विभाग भी बनाये गये हैं तथा निरीक्षकों की संख्या काफी बढ़ा दी गयी है।

एच० एम० आई०, शिक्षा-मंत्रालय एवं एल० ई० ए० के मध्य एक कड़ी का कार्य करते हैं। सन् १८३९ में इनकी संख्या केवल दो ही थी तथा इनका कार्य सरकार द्वारा शिक्षा के लिए मंजूर किये गये धन के उचित व्यय की देखरेख करना मात्र था। एच० एम० आई० को आज भी यह कार्य करना आवश्यक है। अब ये शिक्षा-पर्यवेक्षण संबंधी निम्नांकित कार्य करते हैं :

(१) शिक्षा-स्तर में सुधार के उपाय करना।

(२) शालाओं में शिक्षण-विधियों का निरीक्षण करना।

(३) शिक्षकों की समस्याओं से परिचित होकर उन्हें हल करने के उपाय करना।

(४) शिक्षा की राष्ट्रीय नीति का क्रियान्वयन करना तथा उसका उचित मूल्यांकन करना।

(५) शिक्षा-मंत्रालय एवं एल० ई० ए० के मध्य अच्छे संबंध विकसित करना तथा इनमें समन्वय स्थापना के प्रयास करना।

(६) शिक्षा की राष्ट्रीय नीति को जनता तथा अन्य अधिकारियों के समक्ष स्पष्ट करना।

(७) शाला-भवनों तथा उनकी व्यवस्था का निरीक्षण करना।

इंग्लैण्ड में एच० एम० आई० विजिटर, एजेंट, सुपरिन्टेन्डेन्ट, आर्गनाइजर, सेक्रेटरी, कमिश्नर, डिमान्स्ट्रेटर, सुपरवाइजर, परीक्षक, सलाहकार आदि विभिन्न प्रकार के १६ कार्य करते हैं। ये शालाओं में व्यवस्थित धार्मिक शिक्षा संबंधी पाठ्यक्रम के शिक्षण का भी निरीक्षण करते हैं। ये मिशनरी भावना से कार्य करते तथा आवश्यकतानुसार आदर्श पाठ भी देते हैं। शिक्षकों की उन्नति के लिए ये विचार-गोष्ठियाँ व्यवस्थित करते तथा इनमें सक्रिय भाग लेते हैं। ये शिक्षकों को नवीन शिक्षा-अभ्यासों से भी परिचित कराते हैं। ये स्थानीय शिक्षा-गतिविधियों से परिचित होते हैं तथा अनुभव के आधार पर रचनात्मक पर्यवेक्षण कर स्थानीय शिक्षाधिकारियों का मार्ग-दर्शन करते हैं। निजी शालाओं में प्राथमिक शालाओं के लिए शाला-मैनेजमेंट एवं माध्यमिक शालाओं के लिए स्कूल-प्रशासन के नियम, इनकी सहायता से बनाये जाते हैं।

इंग्लैण्ड में किसी समय एच० एम० आई० के नाम से शिक्षक, प्राचार्य तथा संचालक बहुत डरते थे परन्तु अब ये मित्र एवं सहायक के रूप में कार्य करते हैं। इनका कार्य, शाला की अच्छाई तथा बुराई दोनों देखकर, उन्हें उन्नत करने की दृष्टि से आवश्यक सहायता देना है। इनका प्रतिवेदन इतना महत्वपूर्ण माना जाता है कि शिक्षा-मंत्रालय इनके प्रतिवेदन के आधार पर शिक्षा के लिए कम या अधिक वित्त निर्धारित करता है।

इंग्लैण्ड में शिक्षण उन्नत करने की दृष्टि से निम्नांकित दो प्रकार के निरीक्षण किये जाते हैं :

(१) पूर्ण निरीक्षण

इसका प्रतिवेदन शिक्षा-मंत्रालय को भेजा जाता है। इस समय एच० एम० आई०, निरीक्षक दल का अध्यक्ष रहता है। निरीक्षण के उपरान्त शाला-मैनेजरों तथा कार्यकारिणी के सदस्यों से भेंट भी की जाती है।

(२) साधारण निरीक्षण

इसका प्रतिवेदन भेजना आवश्यक नहीं होता है। यह एच० एम० आई० स्वयं अकेले करता है।

एल० ई० ए० के शिक्षा-निरीक्षक

इंग्लैण्ड में प्रत्येक एल० ई० ए०, अपने क्षेत्र में शिक्षा विकास करने, शिक्षकों को उन्नत करने, शिक्षा-क्षेत्र में प्रयोग प्रोत्साहित करने तथा शिक्षा-मंत्रालय द्वारा निर्धारित शिक्षा-नीतियों को कार्यान्वित करने के उद्देश्य से शिक्षा-निरीक्षक नियुक्त करता है। ये शिक्षा-निरीक्षक प्रशिक्षित तथा योग्य होते हैं। अधिकांश को किसी न किसी माध्यमिक शाला के प्राचार्य के पद पर कार्य करने का अनुभव रहता है। आजकल विज्ञान, कला, संगीत, उद्योग आदि में विशेष योग्यता वाले विशेषज्ञों को इस पद पर नियुक्त करने की प्रवृत्ति का विकास हो रहा है।

इन शिक्षा-निरीक्षकों का कार्य शिक्षा-मंत्रालय के नियमों तथा कानूनों का सही-सही अर्थ लगाना तथा शिक्षकों की कठिनाइयों एवं समस्याओं को योग्य अधिकारियों तक पहुँचा कर आवश्यक सहायता प्रदान करना है। ये जनता की आवश्यकतानुसार अपने क्षेत्र में शिक्षा-विकास के प्रयास भी करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षा-मंत्रालय एवं एल० ई० ए० की साझेदारी है। अतः इनके कार्यों का महत्व काफी है।

इंग्लैण्ड में इन निरीक्षकों ने राष्ट्रीय स्तर पर अपना संगठन भी स्थापित किया है।

इस प्रकार इंग्लैण्ड में एच० एम० आई० तथा एल० ई० ए० के शिक्षा-निरीक्षक मिल कर शिक्षा-पर्यवेक्षण, शिक्षा-विकास एवं स्तर-सुधार के प्रयास करते हैं।

अमेरिका में शिक्षा-पर्यवेक्षण

अमेरिका में शिक्षा-पर्यवेक्षण से संबंधित अनेक सेवाएँ व्यवस्थित हैं, जिनमें निम्नांकित कर्मचारी कार्यरत रहते हैं :

(१) सुपरिन्टेन्डेन्ट।
(२) शाला-प्राचार्य।
(३) शिक्षण-कार्य देखने वाले सुपरवाइजर।
(४) इमारत तथा अन्य कार्य देखने वाले कर्मचारी।
(५) महाविद्यालयों में विभागों के प्रमुख।
(६) महाविद्यालय या शाला-प्रेसीडेन्ट।

(१) सुपरिन्टेन्डेन्ट

अमेरिका में शालाओं के सुपरिन्टेन्डेन्ट स्थानीय काउन्टी तथा राज्य-स्तर के होते हैं। इनके अतिरिक्त सम्पूर्ण अमेरिका का एक प्रमुख शाला-सुपरिन्टेन्डेन्ट होता है जो "शिक्षा कमिश्नर" कहलाता है। इसकी सहायता के लिए अनेक सहायक अधिकारी होते हैं।

स्थानीय शाला-सुपरिन्टेन्डेन्ट स्कूल-डिस्ट्रिक्ट में शिक्षा-समितियों द्वारा नियुक्त होता है तथा अपने क्षेत्र की शालाओं के शिक्षण-कार्य के अतिरिक्त, कार्यालय तथा इमारत आदि अन्य बातों की देखरेख करता है। अमेरिका में सन् १८३७ के पूर्व शाला-सुपरिन्टेन्डेन्ट नहीं होते थे। उस समय वहाँ समाज का साधारण व्यक्ति ही शाला-सुपरिन्टेन्डेन्ट के स्थान में शाला के कार्य की देखरेख के लिए चुन लिया जाता था। यह बहुधा शिक्षा-समिति का प्रेसी-डेन्ट होता था। परन्तु धीरे-धीरे शिक्षा के विकास तथा शिक्षा-समस्याओं की वृद्धि के कारण शाला-सुपरिन्टेन्डेन्ट का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायित्वपूर्ण बन गया है।

सामान्यतः अमेरिका में स्थानीय शाला सुपरिन्टेन्डेन्ट अपने पद पर औसतन ६ वर्ष रहता है। यह शिक्षकीय कार्य का अनुभवी स्नातकोत्तर शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति होता है। इसका कार्य शाला-शिक्षण को देखने के साथ-साथ इमारत, कार्यालय शिक्षा-उपकरण आदि की देखरेख रखना एवं उनकी उन्नति करने का प्रयास करना है। अमेरिका में स्थानीय शाला सुपरि० के शिक्षा-समिति से संबंध किसी व्यापारी संस्था में मैनेजिंग अधिकारी या डाइरेक्टरों के समान होते हैं। शिक्षा-समिति नीति निर्धारित करती है तथा स्थानीय शाला सुपरि० उसे क्रियान्वित करता है। इनका शिक्षा-समिति से सीधा संबंध रहता है। इन्हें अच्छा वेतन तथा आदर मिलता है। कहीं-कहीं इन्हें कम्युनिटी हाई स्कूल-प्रिन्सिपल या सुपरवाइजिंग प्रिन्सिपल कहते हैं।

काउंटी सुपरिन्टेन्डेन्ट

प्रत्येक काउन्टी में एक काउन्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट रहता है जो सामान्यतः दलों के आधार पर चुना जाता है। फलस्वरूप अच्छे योग्य व्यक्ति चुनाव में नहीं आ पाते। इनका वेतन कम होने के कारण भी योग्य व्यक्ति इसमें रहना पसन्द नहीं करते हैं। अमेरिका में यह पद १८३५ के बाद निर्मित हुआ और २०-२५ वर्षों में यह पद सभी राज्यों में निर्मित हो गया है।

काउन्टी सुपरि० का कार्य प्रमुखतः आँकड़े एकत्रित करना तथा कार्यालय का काम करना है। इसीलिए विशेष शिक्षकीय योग्यता होना इनके लिए आवश्यक नहीं मानी जाती। ये सामान्यतः दो वर्षों के लिए चुने जाते हैं। कुछ राज्यों में इनका चुनाव एक बार और हो सकता है। अमेरिका में कुछ काउन्टियाँ ऐसी भी हैं, जहाँ काउन्टी सुपरि० अधिक लम्बी अवधि के लिए नियुक्त किये जाते हैं। काउन्टी शालाओं को पैसा काउन्टी सुपरि० के माध्यम से मिलता है। उसका कार्य, शाला-नियमों के अर्थ निश्चित करना तथा शिक्षण समितियों को तकनीकी राय देना है। शिक्षकों तथा शिक्षा-समितियों में मतभेद होने पर

यह मध्यस्थता का कार्य करता है। पश्चिमी वर्जीनिया आदि कुछ काउन्टियों में यह काउन्टी शिक्षा-समितियों का प्रमुख अधिकारी भी होता है तथा उसका काम शिक्षण संबंधी विशेष सेवाओं से सम्बन्धित होता है।

राज्य-शिक्षा-सुपरिन्टेन्डेन्ट या शिक्षा-कमिश्नर

राज्य-शिक्षा-कमिश्नर की नियुक्ति के लिए भी चुनाव को आधार बनाया गया है। इसलिए अनेक राज्यों में उस पद के लिए कोई विशेष योग्यता निर्धारित नहीं की गयी है। परन्तु कुछ राज्यों में इस पद के लिए स्नातक होना अनिवार्य है। अमेरिका में कई बार राज्य शिक्षा-समिति का सचिव, राज्य सुपरि० बनाया गया है। सन् १८१२ में न्यूयार्क राज्य में सबसे पहले इस पद का निर्माण हुआ था तथा गृह-युद्ध के पूर्व अमेरिका के सभी राज्यों में इस पद का विकास हो गया था।

राज्य-शिक्षा-कमिश्नर, राज्य-शिक्षा-बोर्ड द्वारा चुना या नियुक्त किया जाता है तथा इसका कार्य राज्य-शिक्षा-बोर्ड की नीतियों के अनुसार कार्य करना है। यह शिक्षा की सामान्य देख-रेख तथा पर्यवेक्षण का कार्य करता है। अमेरिका के विभिन्न राज्यों में इसके विभिन्न नाम हैं तथा इसके कार्यों के सम्बन्ध में बड़ा वैभिन्य है। कुछ राज्यों में यह नाइयों तथा सौंदर्य की दूकानों का पंजीयन भी करता है। सामान्यतः राज्य-शिक्षा-कमिश्नर के निम्नांकित कार्य होते हैं—(१) शिक्षण-संस्थाओं सम्बन्धी आँकड़े एकत्रित करना, (२) शिक्षा-समितियों तथा काउन्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट को परामर्श देना, (३) शिक्षा-कानूनों का अर्थ निश्चित करना, (४) विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना, (५) विभिन्न शिक्षकों को शिक्षक-प्रशिक्षण-प्रमाण-पत्र देना, (६) विभिन्न शिक्षा-सम्मेलनों की बैठकों में भाग लेकर राज्य की शिक्षा-गतिविधियों में समन्वय स्थापित करना, (७) आवश्यकतानुसार काउन्टी सुपरि० की नियुक्ति करना तथा (८) कक्षा-शिक्षण-विधियों को उन्नत बनाने के प्रयास करना। इसकी सहायता के लिए सहायक शिक्षा सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त किये जाते हैं।

प्राचार्य

अमेरिका में माध्यमिक शालाओं के प्राचार्य बहुत योग्य, अनुभवी, स्नातकोत्तर शिक्षा-प्राप्त तथा उन्नत नेतृत्व करने वाले व्यक्ति होते हैं। किसी भी शाला का सम्बन्ध बालक, शाला के कर्मचारी तथा समाज से रहता है। अतः किसी भी शाला के प्राचार्य को बहुत ही योग्य होना आवश्यक है। शाला का प्राचार्य, चाहे वह प्राथमिक या माध्यमिक विद्यालय का हो, कक्षा-शिक्षण का पर्यवेक्षण करता है। समय-समय पर शिक्षकों की बैठकें लेता है तथा विभिन्न विधियों के माध्यम से आवश्यक सहायता देकर उन्हें उन्नत बनाने का प्रयास करता है।

शिक्षण-कार्य के पर्यवेक्षक

अमेरिका में अनेक विद्वान शिक्षण-कार्य का पर्यवेक्षण करते हैं। ये छात्रों के अध्ययन, प्रशिक्षण ले रहे शिक्षकों की सहायता, पाठ्यक्रम संबंधी शोध-कार्य, पाठ-निर्माण में सहायता, शिक्षा में जनता के सहयोगी कार्यक्रमों की वृद्धि, पाठ्य पुस्तकों के निर्माण एवं चुनाव में सहायता देते हैं। अनेक काउन्टी तथा राज्य-शिक्षा-विभाग इन विशेषज्ञों की नियुक्ति करते हैं तथा अपने अन्तर्गत शालाओं को उन्नत बनाने के प्रयास करते हैं।

अन्य प्रशासनीय अधिकारी

(इमारत तथा अन्य कार्य देखने वाले कर्मचारी) अमेरिका एक सम्पन्न देश है जहाँ शाला-इमारतों, खेल के मैदान, कार्यालय आदि पर लाखों-करोड़ों डालरों का व्यय होता है। व्यवस्थानीय शिक्षा सुपरि० हर कार्य की उचित देखरेख नहीं कर सकता है। अतः बड़े स्कूल, डिस्ट्रिक्ट तथा नगरों में. इमारतों की देख-भाल, मरम्मत, खेल-कूद के मैदानों की देख-रेख तथा नवीन भवनों के निर्माण के लिए विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों की नियुक्ति की जाती है।

विभागीय प्रमुख

अमेरिका की अनेक शालाएँ बहुत बड़ी हैं तथा इनमें प्रत्येक विभाग में एक प्रमुख या डीन होता है जो विभागों के आधार पर कार्य करता है। ये निरीक्षण या पर्यवेक्षण जैसे अनेक सहायक कार्य करते हैं। ये विभिन्न भागों के प्रमुख अपने विभागीय सहायकों के स्तर को विकसित करने के प्रयास करते हैं। इन विभागाध्यक्षों के माध्यम से प्राचार्य या कालेज-प्रेसीडेन्ट के माध्यम से अन्य शिक्षक एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। अमेरिका की माध्यमिक शालाओं में इन विभागों के प्रमुख की नियुक्ति सन् १८५८ से प्रारम्भ हुई।

शाला-प्रेसीडेन्ट

अमेरिका में महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय में प्रेसीडेन्ट होते हैं तथा अनेक माध्यमिक शालाओं में शाला-प्रेसीडेन्ट होते हैं। यह पद अच्छे वेतन तथा सम्मान का होता है। अतः इन पदों पर शिक्षा में रुचि लेने वाले योग्य व्यक्ति ही नियुक्त होते हैं। शाला या महाविद्यालय-प्रेसीडेन्ट पर वित्त-व्यवस्था तथा प्रशासन सम्बन्धी जिम्मेदारियाँ रहती हैं। साथ ही इन्हें शिक्षा-नेतृत्व करने के भी अनेक अवसर मिलते हैं।

उपर्युक्त शिक्षा-अधिकारियों के माध्यम से अमेरिका में शिक्षा-पर्यवेक्षण का कार्य किया जाता है तथा शिक्षा-पर्यवेक्षण के माध्यम से शिक्षा-स्तर को विकसित करने के प्रयत्न किये जाते हैं। अमेरिका में अब विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को शिक्षा के

विशेष क्षेत्र में पर्यवेक्षण के अवसर देने की प्रवृत्तियाँ अधिक विकसित हो रही हैं तथा बीसवीं सदी के मध्य-काल तक जो सामान्य निरीक्षक नियुक्त करने की प्रवृत्ति थी उसका ह्रास होता चला जा रहा है। आजकल कक्षा-शिक्षण, पाठ-निर्माण, सेवारत शिक्षक-सेवा, शिक्षक-प्रशिक्षण तथा अन्य विशिष्ट सेवाओं के लिए अलग-अलग विशेषज्ञ नियुक्त करने तथा एक साथ पेनल के रूप में पर्यवेक्षण करने का विकास हो रहा है। इस प्रकार पर्यवेक्षण का कार्य एक समन्वित टीम द्वारा सम्पन्न होता है जिसका प्रमुख स्थानीय शिक्षा-सुपरिन्टेन्डेन्ट तथा उसका सहायक होता है।

अमेरिका में शिक्षा-पर्यवेक्षण का उत्तरदायित्व केवल स्थानीय शिक्षा-संगठनों का ही नहीं है, क्षेत्रीय तथा राज्य-स्तरीय संगठन भी शिक्षा की उन्नति के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयास करते हैं। शिक्षकों की गोष्ठियाँ, विचार-विमर्ष, शिक्षा में किये गये शोध का प्रसार, उत्तम अभ्यासों का समाचार-पत्रों के माध्यम से प्रसार आदि ऐसे अनेक कार्यक्रम हैं जिनके माध्यम से शाला-शिक्षण को उन्नत करने का प्रयास किया जाता है।

अमेरिका में पर्यवेक्षण के संबंध में यह समस्या विशेष रूप से लक्षित हो रही है कि विभिन्न राज्य तथा विभिन्न राष्ट्रीय शिक्षा-संगठनों के माध्यम से कक्षा-शिक्षण के लिए किये जा रहे उपायों में किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जाय। अत: शोध-कार्यों द्वारा पर्यवेक्षण को और उत्तम बनाने के प्रयास भी वहाँ किये जा रहे हैं। पर्यवेक्षण एक रचनात्मक प्रक्रिया है जो उत्तम नेतृत्व के माध्यम से शिक्षण में बहुत अधिक उन्नति ला सकती है। यह शिक्षकों की सुरक्षा-भावना को विकसित करने का ठोस साधन है। अतः अमेरिका में विभिन्न प्रयासों द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष माध्यमों से शिक्षा-पर्यवेक्षण को उन्नत बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं।

रूस में शिक्षा-पर्यवेक्षण

रूस में शिक्षा का कोई केन्द्रीय मंत्रालय नहीं है। फिर भी वहाँ शिक्षा-प्रशासन एवं पर्यवेक्षण में केन्द्रीय सत्ता का बहुत अधिक हाथ है। वहाँ शिक्षा-नीतियों को साम्यवादी दल निश्चित करता है तथा केन्द्रीय शासन की सर्वोच्च सत्ता के माध्यम से ये नीतियाँ कार्य रूप में परिणत की जाती हैं। सोवियत संघ के राज्य, शिक्षा तथा अन्य क्षेत्रों में जो कुछ भी निर्देश केन्द्रीय सत्ता से प्राप्त करते हैं, उसी का पालन करते हैं तथा अपने नीचे के संगठनों को उसी प्रकार का कार्य करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार राज्य में शिक्षा की व्यवस्था स्थानीय संगठनों तथा संस्थाओं के हाथ में रहती है, परन्तु ये स्थानीय संगठन सभी आवश्यक तथा महत्वपूर्ण निर्देश केन्द्रीय सत्ता से प्राप्त करते हैं, जिस पर कि साम्यवादी दल का अत्यधिक प्रभाव रहता है। इस प्रकार रूस में, जो कि एक बहुत बड़ा देश है तथा बहुत बड़े क्षेत्र में फैला है एवं जहाँ विभिन्न संस्कृतियों के लोग बसते हैं, शिक्षा इन सभी विभिन्नताओं के बाद भी प्रायः एक-सी रहती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रूस की शालाओं में स्थानीय विभिन्नताएँ नहीं होती हैं। अनेक शालाओं में मास्को के

आदेशों के अभाव में भी अनेक गतिविधियाँ चलती हैं। पर ये सब स्थानीय विभिन्नताओं के रूप में रहती हैं तथा इन विभिन्नताओं को छोड़कर सम्पूर्ण रूस में शिक्षण-संस्थाओं में एकरूपता ही विद्यमान रहती है।

रूस में शिक्षा के क्षेत्र में केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलने के अनेक कारण हैं। क्रान्ति के बाद वहाँ की साम्यवादी पार्टी, जो कि सत्ता में थी, कम समय में अच्छे परिणामों को लाना चाहती थी। अतः सुनियोजित ढंग से कार्य करने की विधि को प्रोत्साहित किया गया तथा इसमें स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं रखा गया। केन्द्रीकरण से समाज तथा राष्ट्र के सभी साधन जुटाने तथा उन्हें सक्रिय करने में सहायता मिलती है तथा नियंत्रित विकास होता है। साम्यवाद, शिक्षा के माध्यम से अपने सिद्धातों का प्रचार तथा प्रसार समाज में करना आवश्यक मानता है। अतः केन्द्रीकरण के सिवाय और कोई रास्ता इनके पास नहीं था। इस केन्द्रीकरण के कारण राजनीतिक परिवर्तनों के अनुरूप शिक्षा में परिवर्तन करना सरल होता है तथा शिक्षा को सरलता से राज्य-सत्ता से सम्बद्ध किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से रूस में शिक्षा का केन्द्रीकरण रहा। यहाँ तक कि शिक्षक श्याम-पट पर क्या लिखेंगे, कौन-कौन से प्रश्न बच्चों से पूछेंगे, कौन-कौन सी विषय-वस्तु कितनी मात्रा में बतायी जायेगी, किस दिन बच्चों के सामने प्रस्तुत की जायेगी, यह सब पहले से निश्चित होता है तथा इन सभी बातों का अनुमोदन केन्द्र के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार रूस में शिक्षा की प्रत्येक बात केन्द्र से ही प्रसूत एवं उद्भूत होती है। फिर भी वहाँ शिक्षा के लिए कोई केन्द्रीय मंत्रालय नहीं है तथा यूनियन सांस्कृतिक मंत्रालय एवं यूनियन उच्च माध्यमिक शिक्षा-मंत्रालय से ही नीतियाँ निर्धारित की जाती हैं। रूस के प्रत्येक गणतंत्र में शिक्षा-मंत्रालय अवश्य हैं।

रूस में साम्यवादी दल शिक्षा सम्बन्धी नीतियों के सम्बन्ध में निर्णय लेने के पूर्व समाज की राय जानने के लिए वाद-विवाद, व्याख्यान, दलों के लेख आदि प्रकाशित करता है तथा जनता की राय जानने के बाद दल द्वारा लिये गये निर्णयों को सोवियत सुप्रीम के समक्ष प्रस्तुत करता है। सोवियत सुप्रीम इन निर्णयों को कानून का रूप देते हैं तथा इनका पालन सभी गणतंत्र एवं स्थानीय संगठन करते हैं। इस प्रकार रूस की शिक्षा पर साम्यवादी दल का बहुत अधिक प्रभाव रहता है तथा यही दल राष्ट्रों में समन्वय की स्थापना करता है। रूस में शिक्षा के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए पैडागाजिक विज्ञान अकादमी का सहयोग लिया जाता है। शिक्षा सम्बन्धी तकनीकी मामलों में साम्यवादी दल इस अकादमी के विशेषज्ञों से प्रभावित होते हैं। परन्तु इस अकादमी के सदस्य साम्यवादी दल द्वारा निर्धारित नीतियों के दायरे में अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार रूस में शिक्षा-स्तर के सुधार तथा शिक्षण कला के विकास में पैडागाजिक अकादमी का सहयोग भी मिलता है। इस दृष्टि से शिक्षा-पर्यवेक्षण के क्षेत्र में पैडागाजिक विज्ञान अकादमी की गतिविधियाँ एवं स्पष्टीकरण बहुत अधिक महत्व रखते हैं। चूँकि रूस में केन्द्रीकरण अधिक है अतः पैडागाजिक विज्ञान अकादमी द्वारा निर्धारित शिक्षण-विधियाँ, पाठ्यक्रम, पुस्तकें तथा अन्य

सभी बातों को सोवियत सुप्रीम के अनुमोदन के उपरान्त सभी शालाओं में ज्यों का त्यों कार्यरूप में व्यवहृत किया जाता है। यहाँ तक कि रूस में बालक एक-सी ड्रेस पहनते हैं, एक-सा व्यवहार करते हैं, तथा व्यक्तिगत अन्तरों को छोड़कर प्रायः एक-से ही योग्यता के होते हैं। इस प्रकार रूस में स्थानीय विभिन्नताओं के होते हुए भी शिक्षण-नीति, शिक्षण-विधि तथा पाठ्यक्रम एक-से होते हैं। शाला का एक-सा कार्य चलता है। शालाओं में एक-सा उपकरण रहता है। शालाओं में शिक्षकों का एक प्रशिक्षण रहता है। बालकों को जो विषय पढ़ाये जाते हैं, उन्हें वे ही विषय पढ़ने पड़ते हैं। यदि अन्य विषय में रुचि है तो शाला के उपरान्त उन्हें पढ़ने की सुविधाएँ दी जाती हैं। रूस में शहरी तथा देहाती क्षेत्रों में अन्तर अधिक पाया जाता है। शहरी शालाओं में देहातों की अपेक्षा अच्छी इमारतें होती हैं तथा अधिक योग्य शिक्षक रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूस में शिक्षा-पर्यवेक्षण एवं प्रशासन में केन्द्रीकरण अधिक है। परन्तु स्थानीय सुविधाओं के अनुसार थोड़ा बहुत परिवर्तन करने की स्वतंत्रता भी है। वहाँ पर्यवेक्षण की विधियों में एकरूपता भी पायी जाती है। परन्तु केन्द्रीकरण के कारण पर्यवेक्षण की उपलब्धियाँ अधिक उच्च-स्तरीय हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शिक्षा-पर्यवेक्षण में केन्द्रीकरण होना चाहिये। स्वतंत्रता के अभाव में इस व्यवस्था में प्रयोग के अवसर कम रहते हैं।

खण्ड स

शिक्षा-नियोजन तथा वित्त

अध्याय २४

शिक्षा की नियोजना

यह बहुधा कहा जाता है कि आजकल विभिन्न राष्ट्र अपनी सुरक्षा के बाद सर्वाधिक व्यय शिक्षा पर ही करते हैं। यह इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा ही एक ऐसा तत्व है जो किसी राष्ट्र के विकास में तथा राष्ट्र द्वारा मान्य समाज-व्यवस्था के विकास में रचनात्मक रूप से सहायक होता है। शिक्षा के इसी महत्व को दृष्टिगत करते हुए शिक्षा-आयोग ने व्यक्त किया है (देखें सन् १९६४-६६ शिक्षा-आयोग के अध्यक्ष द्वारा शिक्षा-मंत्री को लिखा गया पत्र)—"Education has always been important but, perhaps, never more so in man's history than today. In a science-based world, education and research are crucial to the entire developmental process of a county, its welfare, progress and security."

वास्तव में किसी राष्ट्र के विकास में शिक्षा बहुत अधिक सहायक होती है। एच० जी० वेल्स ने भी इसीलिए कहा है, "मानव-इतिहास आज शिक्षा तथा विपत्ति,इन दो समस्याओं के बीच दौड़ रहा है। इतिहास जो आज से ५० वर्ष बाद लिखा जायेगा, यह निर्णय लिखेगा कि शिक्षा द्वारा मानव ने अपने भविष्य को व्यवस्थित कर लिया है या आपत्ति से विश्व को और अधिक ग्रसित किया है। यदि शिक्षा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में असफल रही तथा केवल सीमित व्यक्तियों तक पहुँच सकी तो समस्या का स्वरूप और भी भयंकर होगा।" वेल्स के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि किसी भी राष्ट्र के लिए यह आवश्यक है कि वह शिक्षा की उचित व्यवस्था करे तथा इसकी नियोजना ऐसी बनाये कि यह सभी को सुविधा से उपलब्ध हो सके। राष्ट्र के विकास के लिए शिक्षा के महत्व को द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त बहुत अधिक सजगता से स्वीकारा गया है। फलस्वरूप संसार के देशों में शिक्षा-नियोजना पर अधिक बल दिया गया है। आज के युग में तो नियोजना हमारी सभ्यता का आधार ही बन गया है। नियोजना के बल पर ही संसार आज इतनी अधिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति कर सका है। प्रारम्भ में संसार के देशों में आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिए नियोजना का विकास हुआ था परन्तु आजकल शिक्षा को राष्ट्र के सामाजिक तथा आर्थिक विकास का आधार माना जाने लगा है। अतः शिक्षा-नियोजना का महत्व दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है। शिक्षा-आयोग १९६४-६६ ने शिक्षा तथा शिक्षा-नियोजना के इसी महत्व के कारण व्यक्त किया है,—"भारत

के भाग्य का निर्माण कक्षाओं में हो रहा है।...विज्ञान तथा टेकनालाजी के संसार में शिक्षा ही व्यक्यियों की सम्पन्नता, कल्याण तथा सुरक्षा निश्चित करती है। शालाओं तथा महाविद्यालयों से निकलने वाले व्यक्तियों के स्तर तथा संख्या पर राष्ट्रीय पुनर्गठन के वृहत कार्यक्रम की सफलता, जिसका प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों के जीवन-स्तर को उच्च करना है, निर्भर है।" इस दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षा का नियोजन उत्तम ढंग से किया जाये तथा शिक्षा-नियोजना के माध्यम से राष्ट्र के वित्तीय तथा अन्य साधनों का समुचित एवं अधिकतम उपयोग करने की स्थितियों का विकास किया जाये।

शिक्षा-नियोजन के विकास का आधार आर्थिक-नियोजन है

मानव की आवश्यकताएँ अनन्त हैं तथा इन अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन सीमित हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि सीमित साधनों को विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में इस प्रकार लगाया जाये कि अधिक से अधिक संतुष्टि मिले। आवश्यकताओं का समुचित अध्ययन, साधनों का निर्धारण तथा इन साधनों को इन आवश्यकताओं पर इस प्रकार व्यय करना कि अधिकतम सन्तोष मिल सके, यही नियोजन है। इसे आर्थिक नियोजना की संज्ञा दी जाती है। आजकल आर्थिक नियोजन पर अधिक बल दिया जाता है। आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत शिक्षा-नियोजन भी आता है तथा इसी से यह विकसित हुआ है। यही कारण है कि शिक्षा-नियोजन की विधियाँ, प्रविधियाँ, मूल्यांकन आदि आर्थिक नियोजन से प्रभावित होते हैं।

शिक्षा-नियोजन, राष्ट्र के आर्थिक साधनों के द्वारा राष्ट्र को शैक्षणिक सुविधाओं तथा अवसरों को प्रदान करने तथा इस दिशा में आर्थिक साधनों का अधिकतम उपयोग करने का, माध्यम है। इससे शिक्षा-स्तर तथा शिक्षा के अवसरों का समुचित विकास होता है। यह कार्य शिक्षा-नियोजन के माध्यम से राष्ट्र के वित्तीय एवं मानवीय साधनों की सीमाओं के भीतर ही किया जाता है। राष्ट्र की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा-नियोजन करते समय राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की मानवीय आवश्यकताओं का हिसाब लगा लिया जाता है तथा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए शिक्षा-विकास के प्रयास किये जाते हैं। फलस्वरूप शिक्षित तथा अशिक्षित मानवीय साधनों का अपव्यय नहीं होता है तथा बेकारी की समस्या भी नहीं रहती है। इससे राष्ट्र के भौतिक तथा आर्थिक साधनों का अपव्यय भी रोका जाता है।

परन्तु यह तो शिक्षा-नियोजना पर केवल आर्थिक दृष्टिकोण से विचार हुआ। यदि आर्थिक दृष्टिकोण के अनुरूप शिक्षा-नियोजना करना हो तब तो इसी प्रकार की व्यवस्था अपनायी जाती है। परन्तु शिक्षा का सांस्कृतिक तथा सामाजिक आधार भी होता है। अतः समाज तथा संस्कृति से संबंधित कर शिक्षा को विकसित करना भी आवश्यक रहता है। शिक्षा का प्रमुख कार्य संस्कृति का संरक्षण करना भी है। इतना ही नहीं, शिक्षा संस्कृति का पुनर्निर्माण भी करती है जिसके फलस्वरूप मानव एवं समाज, और अधिक सुसंस्कृत तथा विकसित होते हैं। अतः केवल व्यावसायिक शिक्षा के आधार पर किसी समाज का

समुचित विकास नहीं किया जा सकता है। उदार शिक्षा का समावेश भी शिक्षा-नियोजन में करना आवश्यक रहता है। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा-नियोजन में व्यावसायिक तथा उदार-शिक्षा का ऐसा समन्वय हो जो समाज की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं व्यावसायिक या तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा इन सभी क्षेत्रों में योग्य नेतृत्व का विकास करने में सहायक हो। इस प्रकार के शिक्षा-नियोजन में समाज की आकांक्षाओं, परम्पराओं, तथा आदर्शों का संरक्षण तो होगा ही, साथ ही साथ समाज में संस्कृति के रूप में जो विद्यमान है, उसका समावेश एवं विकास भी होगा।

भारतीय शिक्षा-नियोजन की विशेषताएँ

भारतीय शिक्षा-नियोजना में निम्नांकित विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं :

(१) **शिक्षा-नियोजन, आर्थिक नियोजन का अंग**—भारतीय राष्ट्रीय नियोजन-आयोग सरकार के द्वारा समाज तथा जनता के अधिकतम विकास तथा कल्याण के लिए नियोजन के अन्तर्गत विभिन्न आर्थिक क्रियाओं का एकीकरण करता है। इस वृहत् क्षेत्र के अन्तर्गत शिक्षा-नियोजन भी आता है। इस प्रकार शिक्षा-नियोजन, राष्ट्रीय नियोजन का एक अंग होता है।

(२) **सामाजिक तथा आर्थिक विकास**—भारतीय शिक्षा-नियोजन में समाज के सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण का ध्यान रखा जाता है। भारतीय समाज भी आवश्यकताओं की पूर्ति तथा मानवीय साधनों के उत्थान के लिए विभिन्न संस्थाओं, जैसे तकनीकी महाविद्यालय, कृषि-महाविद्यालय, विज्ञान-शिक्षा, व्यापार तथा औद्योगिक संस्थाओं आदि का विकास किया जाता है।

(३) **सांस्कृतिक विकास**—भारतीय शिक्षा-नियोजन समाज तथा संस्कृति के संरक्षण के साथ-साथ इनके पुनर्निर्माण का लक्ष्य भी रखता है।

(४) **विभिन्न स्तरों पर प्राथमिकता**—यद्यपि शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर है परन्तु इसके राष्ट्रीय महत्व को दृष्टिगत रखते हुए केन्द्र भी शिक्षा-नियोजन में समुचित रुचि प्रदर्शित करता है। भारत में इसीलिए शिक्षा, राज्य तथा केन्द्र की साझेदारी में विकसित हो रही है। इतना ही नहीं, स्थानीय आवश्यकताओं तथा रुचियों के समुचित विकास में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का भी समुचित योगदान लेने के प्रयास किये जाते हैं। इस प्रकार शिक्षा-नियोजन में केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय शासन, सभी सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं

(५) **दीर्घ एवं अल्पकालीन योजनाएँ**—भारतीय शिक्षा-नियोजन की एक विशेषता यह है कि इसमें शिक्षा के समुचित विकास के लिए दीर्घ एवं अल्पकालीन, दोनों प्रकार की योजनाओं का समावेश किया गया है। अल्पकालीन योजनाएँ वृहत् पंचवर्षीय योजनाओं का अंश होती हैं।

भारतीय शिक्षा-नियोजन के उद्देश्य

भारत में शिक्षा-नियोजन के निम्नांकित उद्देश्य हैं :

(१) सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास में शिक्षा का योगदान निश्चित करना।

(२) वर्तमान शैक्षणिक सुविधाओं द्वारा देश की शैक्षणिक आवश्यकताओं की पूर्ति की क्षमता का निर्धारण करना।

(३) देश की वर्तमान शैक्षणिक सुविधाओं में आवश्यक विकास कर राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयास करना।

(४) शिक्षा-विकास के लिए राष्ट्र के वित्तीय साधनों का मूल्यांकन एवं निर्धारण करना।

(५) शिक्षा-प्रशासन में उपयोगी तथा आवश्यक परिवर्तन कर, उसे उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अधिकतम रूप से प्रभावी बनाना

शिक्षा-नियोजन के सोपान

उपर्युक्त दर्शाये गये उद्देश्यों की उपलब्धि के लिए शिक्षा-नियोजन के निम्नांकित सोपान हैं :

(१) **सांख्यिकी नियोजन**—इसके अन्तर्गत शाला-आयु के व्यक्तियों की जनसंख्या, नामांकन, शिक्षकों, पर्यवेक्षकों तथा प्रशासनीय अधिकारियों की संख्या, उपकरण, भवन, फर्नीचर, प्रयोग-शाला, आदि की गणना की जाती है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि इन तत्वों की कितनी संख्या, देश की शिक्षा-व्यवस्था के लिए आवश्यक होगी।

(२) **गुणात्मक नियोजन**—गुणात्मक-नियोजन में राष्ट्र या क्षेत्र-विशेष के शिक्षा-स्तर के विकास के लिए आवश्यक पाठ्यक्रम, शिक्षक-प्रशिक्षण-संस्थाओं, शोध-कार्य सहायक सामग्री, पाठ्य-पुस्तकों, शिक्षण-विधियों, शिक्षण-उद्देश्यों आदि का विचार किया जाता है। इन तत्वों पर विचार करना इसलिए आवश्यक है कि ये सभी तत्व शिक्षा के गुणात्मक विकास से संबंधित रहते हैं। शिक्षा के संख्यात्मक विकास के साथ-साथ, गुणात्मक विकास संबंधी नियोजन करना, अत्यन्त उपयोगी तथा आवश्यक रहता है।

(३) **प्रशासनीय नियोजन**—इसके अन्तर्गत विभिन्न स्तरों पर शिक्षा के नियंत्रण, निरीक्षण तथा पर्यवेक्षण की व्यवस्था संबंधी बातों पर विचार किया जाता है। प्रशासनीय व्यवस्था में आने वाली कठिनाइयों पर भी विचार करना आवश्यक रहता है।

(४) **वित्त नियोजन**—कोई भी शिक्षा-नियोजना वित्तीय-नियोजन के अभाव में उचित रूप से क्रियान्वित नहीं की जा सकती है। अत: यह विचार करना आवश्यक रहता है कि शिक्षा के लिए आय के साधन तथा खर्च की मदें क्या तथा कैसी होंगी। वित्तीय-नियोजना के अभाव में उत्तम से उत्तम शिक्षा-योजना कोरी कागजों में लिखी ही रह सकती है। अत: शिक्षा-नियोजना में वित्तीय नियोजन बहुत आवश्यक होता है।

शिक्षा-नियोजन के प्रकार

आजकल नियोजन, चाहे वह शिक्षा का हो या अन्य क्षेत्र का, अत्यन्त कठिन तथा जटिल है। अत: स्वाभाविक है कि शिक्षा-नियोजन का स्वरूप परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न हो। इस दृष्टि से शिक्षा-नियोजन के निम्नांकित भेद किये जा सकते हैं :

(१) **उद्देश्य-युक्त नियोजन**—जब किसी शिक्षा-नियोजना के उद्देश्यों को पूर्णत: प्राप्त करने के प्रयास किये जाते हैं तब ऐसे नियोजन को उद्देश्य-युक्त नियोजन की संज्ञा दी जाती है। वैसे कोई भी नियोजन, उद्देश्यहीन तो हो ही नहीं सकता है। परन्तु उद्देश्य-युक्त नियोजन का स्वरूप निश्चित एवं अपरिवर्तनीय होता है। इसमें साधनों, सामर्थ्य तथा सुविधाओं आदि से उद्देश्यों को अधिक महत्व दिया जाता है। साम्यवादी या अधिनायकवादी देशों में ऐसी ही शिक्षा-योजनाएँ अधिक बनायी जाती हैं।

(२) **स्वतंत्र नियोजन**—इसमें पहले योजना की रूपरेखा बनायी जाती है तथा जनता की राय जानने के लिए इसे समुचित रूप से प्रसारित एवं प्रचारित किया जाता है। जनता के सुझाव आने पर इसे संशोधित कर कार्यान्वित किया जाता है।

(३) **गतिशील तथा स्थिर नियोजन**—गतिशील नियोजन में समय तथा स्थितियों के अनुसार परिवर्तन किये जाते हैं। स्थिर नियोजन में योजनाएँ बनाने के बाद कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। स्थिर नियोजन की तुलना में गतिशील नियोजन अधिक अच्छा तथा उपयोगी होता है।

(४) **दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन नियोजन**—अवधि के आधार पर नियोजन को दीर्घ या अल्पकालीन माना जाता है। सामान्यत: १०, १५ या ३० वर्षों के लिए किया गया शिक्षा-नियोजन दीर्घकालीन तथा १ से ५ वर्षों तक के लिए किया शिक्षा-नियोजन अल्पकालीन माना जाता है। दीर्घकालीन नियोजन अधिक चतुराई तथा प्रामाणिकता से किया जाता है। इसके लक्ष्य अधिक ऊँचे तथा दूरगामी होते हैं। अल्पकालीन नियोजन में शीघ्र पूर्ण होने वाले कार्य तथा लक्ष्य रखे जाते हैं। वार्षिक नियोजन भी अल्पकालीन नियोजन का एक भेद ही है। अल्पकालीन नियोजन, दीर्घकालीन नियोजन के अन्तर्गत इसके विभिन्न भागों के रूप में भी, हो सकता है।

(५) **क्षेत्रीय नियोजन**—शिक्षा-नियोजन क्षेत्रीय आधार पर ही किया जाता है। भारत एक वृहत् देश है। इसे अनेक क्षेत्रों में विभक्त कर क्षेत्रीय आधार पर शिक्षा-नियोजन किया जा सकता है। एक क्षेत्र में अनेक राज्य शामिल रहते हैं। टेकनिकल शिक्षा के लिए सम्पूर्ण देश को चार क्षेत्रों में विभक्त किया गया है।

(६) **सर्वांगीण नियोजन**—इसके अन्तर्गत शिक्षा की सभी शाखाओं के विकास के लिए नियोजन किया जाता है। इससे शिक्षा की स्थिति तथा विकास का सम्पूर्ण ज्ञान मिल जाता है। सर्वांगीण नियोजन के लिए शिक्षा की विभिन्न शाखाओं जैसे प्राथमिक, माध्यमिक विश्वविद्यालयीन, टेकनिकल, शिक्षक-प्रशिक्षण, महिला आदि की अलग-अलग

योजनाएँ बना ली जाती हैं तथा बाद में इनका समन्वय कर एक वृहत योजना विकसित की जाती है।

(७) **आवश्यकता पर आधारित नियोजन**—इस प्रकार के नियम में किसी विकसित देश की शिक्षा-योजना को आधार बनाकर उसमें अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर, अपने साधनों के अनुरूप बना लिया जाता है।

(८) **साधन आधारित नियोजन**—राष्ट्र के वित्तीय तथा मानवीय साधनों को आँक कर, शिक्षा-विकास के लिए किये गये नियोजन को साधन-आधारित-नियोजन कहते हैं। इसमें प्राथमिकताएँ निश्चित कर ली जाती हैं तथा उनकी क्रियान्विति यथार्थता के आधार पर की जाती है। इस प्रकार का नियोजन वित्तीय साधनों पर अधिक आधारित रहता है।

(९) **विकसित देश के अनुरूप नियोजन**—इसके अन्तर्गत किसी विकसित देश की शिक्षा-योजनाओं को आधार मानकर अपने देश के शिक्षा-विकास के लिए नियोजन किया जाता है। परन्तु इसमें वित्तीय साधनों की कठिनाई आती है तथा कभी-कभी नियोजन को कार्य-रूप में परिणत करने में भी बहुत कठिनाई आती है। विकसित देश की शिक्षा-योजना को अभाव ग्रस्त तथा अविकसित देश में उसी रूप में कैसे लागू किया जा सकता है! अतः आजकल इस प्रकार के नियोजन का प्रचलन नहीं है।

इन उपर्युक्त दर्शाये गये विभिन्न प्रकार के शिक्षा-नियोजनों के अतिरिक्त, संतुलित वृद्धि करने वाला नियोजन, राज्य तथा जिला-स्तरीय नियोजन, केन्द्र या ऊपर से तथा नीचे या स्थानीय समाज से नियोजन, अनुमानित नियोजन, रचनात्मक नियोजन, आदि अनेक प्रकार के शिक्षा-नियोजन होते हैं।

योजना की कार्यान्विति

शिक्षा-नियोजन किसी भी प्रकार का हो, इसे कार्यान्वित करने के लिए निम्नांकित चार प्रकार की प्रक्रियाएँ आवश्यक रहती हैं :

(१) **नियोजना विकसित या तैयार करना**—नियोजना का विकास साधन, प्राप्त सुविधाओं, समस्याओं तथा भविष्य की आवश्यकताओं के आधार पर किया जाता है। इसकी रूपरेखा लचीली होती है जिससे विचार-विमर्ष के द्वारा इसमें आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(२) **नियोजना को मान्य करना**—नियोजन का प्रारूप तैयार करने के उपरान्त विशेषज्ञों की बैठकों में विचार-विमर्ष किया जाता है। विचार-विमर्ष के उपरान्त आवश्यक-परिवर्तन कर इसे अन्तिम रूप दिया जाता है। इसके उपरान्त विधान सभा या पालिया मेंट की आवश्यक संस्वीकृति के लिए यह प्रस्तुत किया जाता है।

(३) **नियोजना की कार्यान्विति**—आवश्यक परिवर्तनों के बाद अन्तिम रूप मिलने तथा विधान सभा या पालियामेंट की संस्वीकृति मिलने पर, नियोजना कार्यान्वित की जाती

है। कभी-कभी क्रियान्विति के समय भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना आवश्यक होता है। कुछ पाइलट योजनाएँ भी प्रयोग के उद्देश्य से क्रियान्वित की जाती हैं।

(४) **मूल्यांकन**—योजना की क्रियान्विति से प्राप्त अनुभवों का उचित मूल्यांकन कर उन्हें और उन्नत करने के लिए यह प्रक्रिया बहुत महत्व की होती है। इससे हमें यह भी पता चलता है कि योजना कितनी और कैसी विकसित हुई है।

भारतीय शिक्षा-नियोजना के दोष

श्री रामानाथन ने अपनी पुस्तक *Educational Planning and National Integration*[1] में भारतीय शिक्षा-नियोजन के अनेक दोषों की विवेचना की है। इनमें से निम्नांकित दोष प्रमुख हैं :

(१) **निश्चित दीर्घकालीन नियोजन का, जिसमें प्राथमिकता का क्रम हो, अभाव**—रामानाथन महोदय का विचार है कि स्वतंत्रता के उपरान्त भारतीय शिक्षा-नियोजन में निश्चित प्राथमिकता का अभाव रहा है तथा यह दीर्घकालीन भी नहीं रही है। फलस्वरूप १५-२० वर्षों के क्रियान्वयन के उपरान्त भी देश में शैक्षणिक गतिविधियाँ प्राणहीन-सी हैं। निश्चित राष्ट्रीय शिक्षा-नीति का अभाव है। हमारे संविधान में इंगित अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के निर्देशक सिद्धान्त का कब तक पालन होगा, कहा नहीं जा सकता है। १० वर्षों के स्थान में २० वर्ष व्यतीत होने पर भी यह निश्चित नहीं है कि यह लक्ष्य कब तक प्राप्त किया जा सकेगा। शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने २० वर्षों का समय इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए निश्चित किया है। हमारे यहाँ माध्यमिक शालाएँ कैसी होंगी, इनमें ४ वर्षीय पाठ्यक्रम होगा या ३ वर्षीय, प्राथमिक शिक्षा ४ वर्ष की होगी या अधिक अवधि की, प्रथम डिग्री कोर्स ४ वर्षीय होगा या ३ वर्षीय, बुनियादी शिक्षा का क्या होगा ? आदि अनेक बातें, भारतीय शिक्षा-नियोजन में अनिश्चित-सी ही हैं।

(२) **भारतीय-शिक्षा-नियोजन ऊपर से प्रारम्भ हुआ है**—भारतीय शिक्षा-नियोजन ऊपर से अर्थात् विश्वविद्यालयों से प्रारम्भ होता है तथा माध्यमिक एवं प्राथमिक शिक्षा के ढाँचों को इसके अन्तर्गत जमाने के प्रयास किये जाते हैं। यह प्रक्रिया का दोष है। शिक्षा-नियोजन प्राथमिक शिक्षा से प्रारम्भ होकर क्रमशः विश्वविद्यालय की ओर विकसित होना चाहिये।

(३) **शिक्षा-नियोजन इस प्रकार किया गया है कि उसके क्रियान्वयन के लिए दो ऐजेन्सियाँ हैं जिनमें आपसी समन्वय नहीं है**—भारत में प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व शासन तथा समाज का है परन्तु विश्वविद्यालयीन शिक्षा विश्वविद्यालयों के नियंत्रण में है। परन्तु इन दोनों ऐजेन्सियों में कोई समन्वय नहीं है। दोनों ऐजेन्सियाँ स्वतंत्र रूप से योजना बनाती तथा क्रियान्वित करती हैं। माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा है, परन्तु टेकनिकल संस्थाओं में अभी भी अंग्रेजी ही शिक्षा क

[1] Ramanathan, G., *Educational Planning and National Integration*, Asia Publishing House, Bombay, 1965, pp. 132-150.

माध्यम है। माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा अभी भी बहुत निम्न स्तरीय है। फलस्वरूप विश्व-विद्यालयीन शिक्षा भी निम्न स्तरीय होती जा रही है। अनेक विश्वविद्यालय आजकल अपने प्रमुख उत्तरदायित्व—ज्ञान की सीमाओं का विस्तार, का समुचित निर्वाह नहीं कर पा रहे हैं।

(४) **उचित मूल्यांकन तथा शोध का अभाव**—शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) का विचार है कि भारतीय शिक्षा-नियोजन की यह कमजोरी है कि इसमें योजनाओं के उचित मूल्यांकन की समुचित व्यवस्था नहीं है तथा योजनाओं को उन्नत बनाने के लिए आवश्यक शोध-कार्य भी नहीं किया जा रहा है। उचित मूल्यांकन तथा शोध के द्वारा शिक्षा-योजनाओं का व्यय कम किया जा सकता है तथा इनके प्रभाव मे भी वृद्धि की जा सकती है।

(५) **शिक्षा-नियोजन शक्तिहीन तथा कमजोर है**—शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) का विचार है कि भारतीय शिक्षा-नियोजन कमजोर है क्योंकि इसके लिए समुचित संख्या में विशेषज्ञ नियुक्त नहीं किये जाते हैं। शिक्षा-संचालक के कार्यालयों में भी नियोजन से संबंधित कर्मचारी अपर्याप्त हैं। इनके कार्य, प्रधानतः प्रशासनीय तथा वित्तीय हैं। ये केवल आँकड़े एकत्रित करने में संलग्न रहते हैं।

(६) **शिक्षा से संबंधित संगठनों तथा एजेन्सियों के कार्य एवं उत्तरदायित्व में परिवर्तन आवश्यक है**—देश में केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय स्वशासन, शिक्षा के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं। आजकल इन एजेन्सियों द्वारा शिक्षा संबंधी जो भी उत्तरदायित्व वहन किये जा रहे हैं वे नियोजना तथा शोध के आधार पर स्थिर नहीं किये गये हैं। अतः यह आवश्यक है कि इनके उत्तरदायित्वों में आवश्यक परिवर्तन कर शिक्षा-नियोजन को अधिक प्रभावी तथा उपयोगी बनाया जाये।

(७) **दर्ज संख्या-वृद्धि तथा व्यय करने पर अधिक बल**—शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) का मत है कि भारत में शिक्षा-नियोजन दर्ज संख्या-वृद्धि तथा व्यय अधिक करने पर अधिक बल देता रहा है। यह संख्यात्मक विकास आवश्यक अवश्य था परन्तु इस पक्ष पर अधिक बल देने से गुणात्मक विकास की उपेक्षा हुई है। इसी प्रकार व्यय करने पर बल देने से प्राथमिक-ताओं के स्थिर करने में अपव्यय को प्रोत्साहन मिला है। व्यय को महत्व देने से शिक्षा-नियोजन में ऐसे मदों को महत्व तथा प्राथमिकता मिली जिसमें शीघ्रता तथा सरलता से अधिक व्यय किया जा सकता था। साथ ही साथ सभी प्रकार के कार्यों को करने की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। परन्तु साधनों की कमी के कारण ये कार्य ठीक से सम्पन्न नहीं किये जा सके तथा अपव्यय अधिक हुआ।

भारतीय शिक्षा-नियोजन को सुधारने के उपाय

भारतीय शिक्षा-नियोजन के दोषों को दूर करने के लिए शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने अनेक सुझाव दिये हैं। इन पर यहाँ विचार करना उपयोगी होगा :

(१) **शिक्षा-विकास के लिए समग्र दृष्टि रखना**—अभी तक भारतीय शिक्षा-नियोजन में संख्यात्मक वृद्धि तथा अधिक व्यय करने पर अधिक ध्यान दिया गया है। परन्तु इसमें गुणात्मक वृद्धि की ओर ध्यान देना आवश्यक है। शिक्षा-विकास के लिए समग्र दृष्टि अपेक्षित है। उद्देश्य तथा लक्ष्य विशेषतः गुणात्मक उन्नति करने की दिशा में, और अधिक विस्तृत रखना उपयोगी होगा।

(२) **प्रयासों का केन्द्रीकरण तथा चुनाव-प्रक्रिया को अपनाना**—अभी तक शिक्षा-नियोजन में शिक्षा के सभी पक्षों में कुछ न कुछ करने की प्रवृत्ति पिछली तीनों योजनाओं में रही है। फलस्वरूप देश के सीमित साधनों को बहुत अधिक क्षेत्रों मे फैलाना आवश्यक रहा है। इससे अपव्यय अधिक हुआ है। अतः अब कुछ चुने हुए क्षेत्रों पर अधिक व्यय किया जाना उपयोगी होगा जिससे राष्ट्र की महत्वपूर्ण शिक्षा-समस्याओं को समुचित रूप से हल किया जा सके। शिक्षा-आयोग ने शिक्षक-प्रशिक्षण, कृषि-शिक्षा, सभी बच्चों को उत्तम प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धि, माध्यमिक शिक्षा का औद्योगीकरण, अज्ञानता-उन्मूलन, प्रमुख विश्वविद्यालयों की उन्नति एवं स्थापना, छात्रवृत्तियों की संख्या-वृद्धि, आदि सभी स्तरों पर १० प्रतिशत संस्थाओं का समुचित तथा अधिकतम विकास आदि बातों को प्राथमिकता देने का सुझाव दिया है।

(३) **परिश्रम तथा योग्यता विकसित करने वाले कार्यक्रमों को प्राथमिकता देना**—अभी तक शिक्षा-नियोजन में अधिक खर्चीले कार्यक्रमों जैसे, भवन-निर्माण या दर्ज संख्या-वृद्धि पर अधिक बल दिया गया है। परन्तु अनेक कार्यक्रम ऐसे रह गये हैं जिनमें योग्यता तथा परिश्रम आवश्यक हैं जैसे उत्तम साहित्य-निर्माण, शिक्षा-शोध, परीक्षा-सुधार, सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण, पर्यवेक्षण में सुधार, शिक्षक-पालक-सहयोग-विकास, विशेष योग्यता वाले छात्रों की उन्नत शिक्षा, आदि। चूंकि देश में वित्तीय साधन सीमित हैं, अतः शिक्षा-नियोजना में उपर्युक्त दर्शाये गये परिश्रम तथा योग्यता-विकास के क्षेत्रों पर व्यय अधिक किया जाना चाहिये।

(४) **मूल्यांकन तथा शोध का अभाव दूर करना**—नियोजन में मूल्यांकन तथा शोध बहुत अधिक महत्व रखते हैं। इन्ही के आधार पर सुधार तथा विकास किया जा सकता है। परन्तु इस दिशा में भारतीय शिक्षा-नियोजन बहुत ही कमजोर रहा है। अतः शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय को कम करते हुए उसे अधिक प्रभावी बनाने के लिए मूल्यांकन एवं शोध पर अधिक बल देना आवश्यक है। इन कार्यों में विश्वविद्यालय, प्रशिक्षण-संस्थाएँ तथा व्यावसायिक संगठन अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

(५) **शिक्षा-नियोजन मशीनरी को सबल बनाना**—भारत में अभी शिक्षा-नियोजन से संबंधित कर्मचारी तथा अधिकारीगण बहुत कम संख्या में हैं तथा वे अपने सामान्य कार्य जैसे, जानकारी एकत्रित करना, प्रतिवेदन तैयार करना, आँकड़ों को एकत्रित कर उन्हें सारित करना, आदि में ही लगे रहते हैं। फलस्वरूप जिला तथा अन्य स्तरों पर शिक्षा-

नियोजन का यथार्थ कार्य हो ही नहीं पाता है। अतः शिक्षा-नियोजन के लिए उत्तम तथा योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति करना तथा इनकी पर्याप्त संख्या रहना अति आवश्यक है।

(६) **शिक्षा-नियोजन की विधियों तथा संगठन में सुधार**—भारतीय शिक्षा-नियोजन को सबल बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-नियोजन-संगठन तथा विधियों को सबल तथा उन्नत बनाया जाये। इसके लिए जिला, राज्य तथा केन्द्र-स्तरों पर शिक्षा-नियोजन से संबंधित कर्मचारियों को उचित प्रशिक्षण, एशियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशनल प्लानिंग की सहायता से दिया जाना चाहिये। विभिन्न राज्यों में शिक्षा-नियोजन संबंधी अध्ययन कराया जाना चाहिये। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग को भी इस दिशा में ठोस कदम उठाना चाहिये।

(७) **शिक्षा-नियोजन को केन्द्रीकृत करते हुए भी पर्याप्त रूप से विकेन्द्रीकृत किया जाना आवश्यक**—शिक्षा राज्य का विषय है परन्तु इसके राष्ट्रीय महत्व को ध्यान में रखते हुए केन्द्र को समुचित रूप से आगे आकर इसमें अपना योगदान देना आवश्यक है। शिक्षा में सभी पालक तथा नागरिक रुचि रखते हैं तथा इसे सभी को उपलब्ध भी कराना है। अतः शिक्षा-नियोजन का केन्द्रीकरण ऐसा हो कि केन्द्र तथा राज्य एक सहयोगी के रूप में कार्य कर सकें। परन्तु इसका विकेन्द्रीकरण विशेषतः प्रशासन के क्षेत्र में इतना हो कि समाज का समुचित सहयोग, शिक्षा-विकास के कार्यों में उपलब्ध हो सके। इसके लिए विकेन्द्रीकरण को राष्ट्रीय ढाँचे में ढालना बहुत ही उपयोगी होगा।

(८) **शिक्षा व्यवस्थित करने वाली एजेन्सियों के उत्तरदायित्वों का पुनर्संगठन करना**—शिक्षा से तीन ऐजेन्सियाँ संबंधित रहती हैं—(१) केन्द्र, (२) राज्य, तथा (३) स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ। शिक्षा-नियोजन में अभी इन तीनों के उत्तरदायित्व निश्चित नहीं हैं। इनके उत्तरदायित्वों को पुनर्गठित कर इन्हें और अधिक प्रभावी बनाना आवश्यक है। इस दृष्टि से शिक्षा-आयोग ने उच्च शिक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्र सरकार, विश्वविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग को वहन करने का सुझाव दिया है। शाला-शिक्षा का उत्तरदायित्व प्रमुखतः राज्य सरकारों का होना चाहिए, जिसे स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की सहायता से पूर्ण किया जाना अधिक उपयोगी होगा। शिक्षा-आयोग का विचार है कि यदि इस प्रकार से उत्तरदायित्वों का विभाजन किया जाये तो केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण, दोनों का उचित समन्वय, हमारे शिक्षा-नियोजन में हो सकता है।

(९) **शिक्षा-विभाग को सशक्त बनाना**—शिक्षा-आयोग का यह विचार है कि सभी राज्यों में शिक्षा-विभागों को सशक्त बनाना आवश्यक है। कार्यक्रमों के बढ़ने पर अपने स्टाफ की वृद्धि होनी चाहिये। प्रत्येक राज्य में विभिन्न कार्यक्रमों के लिए स्टाफ संबंधी स्तर निश्चित होना चाहिये तथा इनके अनुसार नियुक्तियाँ की जानी चाहिये। शिक्षा-आयोग का सुझाव है कि बड़े अधिकारियों की संख्या कम होनी चाहिये तथा निचले स्तर के अधिकारियों की तनख्वाह अच्छी होनी चाहिये। प्रशासन तथा पर्यवेक्षण की नवीन विधियों का उपयोग कर कर्मचारियों की क्षमताओं में वृद्धि की जानी चाहिये।

(१०) **शिक्षा-प्रशासन-कार्य-विधि में परिवर्तन**—आजकल शिक्षा के क्षेत्र में प्रशासन एकरूपता तथा स्थिरता को अधिक महत्व देता है। शालाएँ विभागीय आदेशों पर निर्भर रहती हैं। फलस्वरूप स्वतंत्रता तथा पहल को अवसर ही नहीं मिल पाते। इससे शिक्षा-प्रशासन में लोच तथा गतिशीलता विकसित की जानी आवश्यक है। इसके लिए शिक्षा-प्रशासन को अपनी वृत्तियों में परिवर्तन करना चाहिये। उसे नवीन ज्ञान तथा शिक्षण-अभ्यासों के प्रति सजग रहना चाहिये तथा खुले मस्तिष्क से काम करने की प्रवृत्ति का विकास करना चाहिये। उसे नियम से बँधे रहकर कार्य करने की आदत को त्यागना चाहिये। इसके साथ-साथ समय-समय पर किये गये कार्यों पर पुनर्विचार करना भी आवश्यक है। इसके लिए वार्षिक, तीन वर्षीय या पंच वर्षीय पुनर्निरीक्षण उपयोगी होगा। अन्तर्राज्य संबंध विकसित करना तथा तुलनात्मक अध्ययनों को प्रोत्साहित करना भी आवश्यक है। योजना-निर्माण-कौशलों का विकास कर प्रशासनीय कार्य-विधि को उन्नत बनाया जाना भी उपयोगी होगा। योजना-निर्माण में पर्याप्त तैयारी, स्थितियों का विधिवत अध्ययन, तथ्यों का विश्लेषण आदि प्रक्रियाएँ बहुत महत्व रखती हैं। आजकल शिक्षा-जगत में किसी भी योजना पर थोड़ा सा विचार कर, वित्तीय आवश्यकताएँ निर्धारित कर दी जाती हैं तथा कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है। यह उचित नहीं है। योजना का विस्तार से निर्माण तथा उसका उचित मूल्यांकन करना बहुत आवश्यक है। अतः राज्य-शिक्षा-संस्थानों तथा शिक्षा-प्रशासकों के राष्ट्रीय महाविद्यालय को, शिक्षा-कर्मचारियों के योजना-निर्माण में कौशल-विकास के उत्तरदायित्व को, वहन करना चाहिये।

आजकल शिक्षा-प्रशासन के क्षेत्र में अधिकारियों की संख्या कम तथा लिपिक एवं अन्य सहायकों की संख्या अधिक रहती है। जो भी कार्य किया जाता है वह सहायकों एवं लिपिकों के द्वारा ही अधिक होता है। फलस्वरूप कार्य का स्तर निम्न होता है। इस कार्य विधि को बदलना तथा अधिकारियों में, अपने स्तर पर ही स्वयं कार्य करने की प्रवृत्तियों का विकास करना आवश्यक है। इसके लिए अधिकारियों की संख्या बढ़ाकर लिपिकों तथा सहायकों की संखया कम करना आवश्यक है।

(११) **शिक्षा-कानून**—शिक्षा-कानून संबंधी स्थिति भारत में अच्छी नहीं है। अनेक राज्यों में कुछ कानूनों का निर्माण अवश्य किया गया है परन्तु ये समुचित नहीं हैं तथा ये केवल विभागीय अदेशों के रूप में हैं। अतः केन्द्रीय सरकार को अपनी राष्ट्रीय शिक्षा-नीति घोषित करनी चाहिये, जिसकी पृष्ठभूमि में राज्य अपने क्षेत्र के लिए शिक्षा-कानूनों का निर्माण कर सकें। राष्ट्रीय-शिक्षा-कानून-निर्माण की सम्भावनाओं पर भी विचार करना उपयोगी होगा।

अध्याय २५

शाला-सुधार-नियोजन

शाला-सुधार-नियोजन क्यों आवश्यक है ?

वर्तमान जगत गतिशील तथा शीघ्रता से परिवर्तित होने वाला है। विज्ञान तथा तकनीकी विकास बहुत अधिक गतिपूर्ण हो रहा है। जब विज्ञान तथा तकनीकी विकास इतना अधिक तथा गतिपूर्ण नहीं था एवं व्यक्ति परम्परागत जीवन जीता था, शिक्षा की रूढ़िवादिता से समाज को सम्भावनाएँ बहुत कम रहती थीं। परन्तु आजकल शिक्षा को प्रभावी तथा उपयोगी होने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा, संसार में हो रहे गतिपूर्ण परिवर्तनों तथा विकास के अनुरूप, विकसित तथा परिवर्तित हो। शिक्षा आयोग (१९६४-६६) ने भी इसीलिए व्यक्त किया है, "An educational system which does not continually renovate itself, becomes out of date and hampers progress because it tends to create a lag between its operative purposes and standards and the new imperatives of development, both in quality and quantity."[1]

इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि समाज के विकास तथा पुनर्गठन के साथ-साथ शिक्षा भी पुनर्गठित एवं विकसित होती रहे। शिक्षा तभी समुचित रूप से पुनर्गठित तथा विकसित हो सकती है, जब प्रत्येक शाला अपना विकास सतत् करती रहे। भारतीय शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने शिक्षा-पुनर्गठन के लिए निम्नांकित तीन बातों पर बल दिया है :

(१) शिक्षा-विधि का आन्तरिक परिवर्तन, जिससे वह राष्ट्र के जीवन, आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं से संबंधित हो।

(२) शिक्षा का गुणात्मक विकास, जिससे उपलब्धियाँ उच्च स्तरीय तथा समुचित हों, इनमें सतत् उन्नति होती रहे, तथा कुछ क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनुरूप हो।

(३) राष्ट्र की मानवीय शक्ति की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा का संख्यात्मक विकास, जिससे सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध हों।

शिक्षा-विकास से संबंधित उपर्युक्त तीनों बातों का शिक्षा-नियोजन से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में यदि भविष्य में शिक्षा, समाज का समुचित विकास करने में असफल

---

[1] The Report of the Education Commission, 1964-66, Ministry of Education, Govt. of India, New Delhi, 1966, p. 18.

रही तथा अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह उचित ढंग से न कर सकी तो संसार विपत्तियों से घिरा होगा। अतः यह आवश्यक है कि शिक्षा सभी को सुलभ रूप से उपलब्ध हो, समुचित स्तर की हो तथा समाज की समस्याओं का उचित रूप से हल करने वाली हो। इस दृष्टि से यदि शिक्षा पर विचार किया जाये तो शिक्षा का उद्देश्य, सार्वजनिक कल्याण होना चाहिये। शिक्षा जाति, धर्म, समुदाय, रंग, योनि आदि की सीमाओं से बँधी हुई न रहे। इसी उद्देश्य से संसार के विकसित तथा विकसित हो रहे राष्ट्रों में सभी या अधिकांश व्यक्तियों को शिक्षा दिलाने की व्यवस्था की जा रही है। भारतीय शिक्षा, जैसा कि भारतीय शिक्षा-आयोग ने व्यक्त किया है, जीवन से अधिकांशतः संबंधित है तथा इसकी पाठ्यवस्तु एवं उद्देश्यों और राष्ट्रीय विकास के तत्वों में बहुत गहरी खाई है।[1] अतः यह आवश्यक है कि भारत में ठोस, उत्तम, समन्वित तथा प्रभावी शिक्षा का विकास किया जाये जिससे भारतीय जनता की विकसित हो रही आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तथा चुनौती देने वाली आकांक्षाओं के अनुरूप वह व्यवस्थित की जा सके। भारतीय शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) का कथन है कि यदि ऐसा न हुआ तो भारत देश की जनता को इतिहास की तेज धाराओं में बहना पड़ेगा[2] तथा देश के उज्जवल नाम पर हमेशा के लिए एक पर्दा पड़ जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा की उन्नति और भारत की उन्नति का अत्यधिक घनिष्ठ संबंध है। शिक्षा की उन्नति, प्रत्येक शाला की उन्नति पर अवलम्बित है। शालाओं की उन्नति के लिए शाला-सुधार-नियोजना आवश्यक है।

शाला-सुधार-नियोजना में ध्यान देने योग्य बातें

शाला-सुधार-नियोजना के निर्माण में निम्नांकित बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) शाला को समाज-विकास का आधार बनाया जाये।

(२) शाला को समाज के रीति-रिवाज, विचार-धाराओं तथा मान्यताओं के अनुसार किया जाये।

(३) शाला, समाज के प्रौढ़ों को शिक्षित करने, तथा अन्य उपयोगी ज्ञान देने का उत्तरदायित्व वहन करे।

(४) शाला में शिक्षकों को उनकी योग्यताओं एवं रुचियों के अनुरूप कार्य तथा उत्तरदायित्व सौपे जायें।

(५) शाला-विकास-कार्यक्रम की उचित अर्थ-व्यवस्था रहे।

(६) शाला-सुधार या विकास तथा समाज-विकास की योजनाओं में समुचित समन्वय रहे।

---

[1] The Report of the Education Commission, 1964-66, Ministry of Education, Govt. of India, New Delhi, 1966, p. 5.

[2] The Report of the Education Commission, 1964-66, Ministry of Education, Govt. of India, New Delhi, 1966, p. 488.

(७) शाला-सुधार के लिए समाज के साधनों का समुचित उपयोग किया जाये।

(८) शाला-सुधार-कार्यक्रम शिक्षक, बालक, समाज तथा प्रशासकों के सहयोग से विकसित किये जायें।

(९) शिक्षा-विकास-कार्यक्रमों के माध्यम से ऐसी शिक्षा विकसित करने के प्रयास किये जायें जो व्यक्ति में ऐसे कौशलों का विकास करे जिससे वह अपनी तथा समाज की समस्याओं को समझे तथा उनके हल के लिए प्रयत्नशील हो।

(१०) शाला-सुधार-कार्यक्रम बच्चों में राष्ट्रीय चेतना विकसित करने वाला हो। साथ ही साथ विश्व-बन्धुत्व के आधार को भी वे समझ सकें।

(११) शाला-सुधार-कार्यक्रम में सभी के सहयोग के प्रयास किये जायें। इसमें जाति धर्म, आर्थिक स्तर या दूसरी बातों को महत्व न दिया जाये।

(१२) शाला-सुधार-कार्यक्रम, शालाओं को स्वयं अपने मूल्यांकन करने की प्रेरणा देने वाला हो। इस प्रकार स्वयं-मूल्यांकन के द्वारा शालाएँ अपना विकास कर, समाज के आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास का, महत्वपूर्ण एवं सशक्त साधन बन सकेंगी।

(१३) शाला-सुधार-नियोजन में शालाओं की कमियों को गिनाने मात्र से आवश्यक परिवर्तन तथा विकास की अपेक्षाएँ नहीं की जा सकती हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि शालाएँ अपने संबंध में कुछ प्रश्न स्वयं करें तथा उनके उत्तर व्यक्तिगत रूप से दें। इससे उन्हें अपने स्तर का ज्ञान होगा तथा वे अपने सुधार एवं विकास के लिए अलग-अलग योजनाएँ बनायेंगी।

(१४) स्वयं-अध्ययन के लिए शालाओं में "नियोजना या मूल्यांकन" इकाई का विकास किया जाये। यह इकाई शाला के अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन विकास की योजनाएँ बनाये।

(१५) "स्वयं अध्ययन या मूल्यांकन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है" इसकी प्रतीति सभी को करायी जाये। स्वयं-अध्ययन के लिए उपर्युक्त तैयारी, संकल्प, नियोजना आदि सभी की आवश्यकता समझी जाये।

(१६) संस्था के अधिपाठक या प्राचार्य का यह उत्तरदायित्व होगा कि स्वयं-अध्ययन या मूल्यांकन की भूमि को आवश्यक रूप से उर्वरा बनाये। शाला से संबंधित शिक्षकों, प्रबन्धकों तथा अन्य लोगों की बौद्धिक तथा सैद्धान्तिक भूमि को उर्वरा बनाना भी अधिपाठक या प्राचार्य का आवश्यक कार्य है।

(१७) शाला-सुधार-नियोजना-समूह छोटा होना चाहिये। शाला का अधिपाठक या प्राचार्य, इस समूह का अध्यक्ष हो। उसे यह भी अधिकार रहे कि वह विशेष कार्यों की नियोजना के लिए उपर्युक्त सदस्यों का अलग से नियोजना-समूह बनाकर योजनाएँ विकसित करा सकें।

(१८) शाला-सुधार-नियोजना-समूह का सचिव योग्य हो तथा उसे बैठकों, गोष्ठियों आदि के कार्यों की व्यवस्था का ज्ञान हो। सचिव का कार्य नियोजना संबंधी बैठकों की व्यवस्था करना, प्रतिवेदन तैयार करना, रिकार्ड रखना आदि हो।

(१९) शाला-सुधार-नियोजना-समूह बहुत छोटा भी नहीं होना चाहिये। प्रभावी नियोजना के लिए समुचित विस्तृत आधार होना चाहिये। इससे समुचित रूप से विचारों का आदान-प्रदान सम्भव रहता है। अतः इस समूह में छात्रों तथा समाज के कुछ प्रतिनिधियों को भी सदस्य के रूप में सम्मिलित करना चाहिये। इस प्रकार यह ऐसा बन जायेगा जो एक दूसरे के सहयोग से कार्य करेगा, एक दूसरे से सीखेगा तथा उन्नति के लिए योजनाएँ बनाकर कार्यान्वित करेगा।

(२०) स्वयं-अध्ययन के आधार पर शाला-सुधार-नियोजन के लिए, वस्तुनिष्ठ जानकारी आवश्यक है। स्वयं अध्ययन द्वारा शाला-सुधार-नियोजना का प्रमुख उद्देश्य शाला की शैक्षणिक प्रभावोत्पादकता की वृद्धि करना है। साथ ही साथ इसका उद्देश्य शाला को, अपने उद्देश्यों को समय-समय पर आँकने में, सहायता प्रदान करना है। अतः यह आवश्यक है कि स्वयं-अध्ययन वास्तविक तथ्यों के आधार पर किया जाये। इसके लिए यह उचित होगा कि आवश्यक तथ्य एवं जानकारी वस्तुनिष्ठ, विश्वसनीय तथा समुचित हो। इन तथ्यों तथा जानकारी को व्यवस्थित तथा समन्वित करना भी आवश्यक होगा। तदुपरान्त इनके आधार पर आवश्यक निष्कर्ष निकाले जायें।

(२१) शिक्षण-उद्देश्य, शैक्षणिक कार्यक्रम, शाला के साधन तथा आर्थिक स्थिति, शिक्षक, ग्रंथालय, छात्र, शाला-भवन, खेल-कूद का मैदान, प्रयोग शालाएँ, शाला-समाज-सम्पर्क, शाला-प्रशासक संबंध, परीक्षा, शाला-स्वास्थ्य सेवाएँ आदि के क्षेत्रों में शाला-सुधार-नियोजन आवश्यक रहता है।

शाला-सुधार-नियोजना से संबंधित शिक्षा-प्रशासन की समस्याएँ

शाला-सुधार-नियोजन से संबंधित शिक्षा-प्रशासन की अनेक समस्याएँ रहती हैं। इनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं जिन पर विस्तृत विचार करना आवश्यक है :

(१) **शाला-सुधार के लिए कार्यक्रम कैसे विकसित किये जायें ?** शाला-सुधार के लिए कार्य करना, प्रत्येक शिक्षक तथा शाला से संबंधित प्रत्येक व्यक्ति का उत्तरदायित्व है। परन्तु इसकी योजना बनाना शिक्षा-प्रशासक की जिम्मेदारी है। सुधार-कार्यक्रम के उद्देश्य, कार्यक्रम आदि निश्चित करने का कार्य, सामान्य शिक्षक नहीं कर सकते हैं। भारत जैसे विकसित हो रहे देश में जहाँ अधिकांशतः शिक्षक अप्रशिक्षित तथा अल्प-प्रशिक्षित ही हैं, शिक्षकों से शाला-सुधार-नियोजना के उद्देश्यों, कार्यक्रमों, स्वयं-मूल्यांकन आदि के विकास की अपेक्षाएँ करना उचित नहीं है।

भारत में शिक्षा-प्रशासक शासकीय सेवाओं में रहते हैं। इनके तबादले आदि से इनके द्वारा प्रारम्भ की गयी योजनाओं के विकास तथा उनके सम्पन्न होने में बड़ी कठि-

नाइयाँ आती हैं। इसके साथ-साथ शिक्षा-प्रशासकों के पास कार्यालय के कार्य इतने अधिक रहते हैं कि शालाओं के शैक्षणिक कार्यों की ओर वे ध्यान ही नहीं दे पाते हैं। फलस्वरूप शाला-सुधार-नियोजना का सूत्रपात ही नहीं हो पाता है।

(२) **शिक्षकों को शाला-सुधार-नियोजना की दिशा में प्रेरित कैसे किया जाये ?** किसी भी व्यक्ति का अपने कार्य से सन्तोष, न केवल प्राप्त वेतन पर निर्भर रहता है, वरन् कार्य के प्रति प्रवृत्ति, कार्य करने की दिशा में किये गये प्रयास, साथी कार्य-कर्त्ताओं का रुख, अधिकारियों का रुख आदि अनेक बातों पर निर्भर रहता है। रोपर महोदय का विचार है कि कोई भी कार्यकर्त्ता अपने कार्य से निम्नांकित चार बातों की अपेक्षा करता है :

(१) नौकरी की सुरक्षा।
(२) उन्नति या तरक्की के अवसरों की प्राप्ति।
(३) उत्तम व्यवहार।
(४) उत्तरदायित्व तथा आदर की भावना।

इन उपर्युक्त दर्शायी गयी चार बातों में से अन्तिम तीन अर्थात् (१) उन्नति के अवसर, (२) उत्तम व्यवहार, (३) आदर तथा उत्तरदायित्व की भावना, प्रशासक पर निर्भर रहती है। नौकरी के स्थायित्व में भी प्रशासक का बहुत अधिक हाथ रहता है।

भारत में शिक्षकों को नौकरी की सुरक्षा तो है परन्तु उन्नति के अवसर तथा आदर, जितना मिलना चाहिये, नहीं मिलते हैं। अनेक शिक्षक ऐसे अविकसित स्थानों में कार्य करते हैं जहाँ समुचित उत्तेजक बौद्धिक वातावरण नहीं रहता है। रहने की सामान्य सुविधाओं के उपलब्ध न होने के कारण शिक्षक अपने परिवार से दूर अकेले रहते हैं। शिक्षकों के साथ, बालक तथा समाज, उत्तम व्यवहार नहीं करते हैं। ऐसी स्थितियों में शिक्षा-प्रशासकों के समक्ष हमेशा यह समस्या बनी रहती है कि शाला-सुधार-नियोजन की दिशा में शिक्षकों को समुचित प्रेरणा कैसे दें ?

शाला-सुधार-नियोजन के लिए स्वयं अध्ययन-प्रपत्र

शाला-सुधार-नियोजन के लिए शालाओं को स्वयं-अध्ययन के आधार पर अपना मूल्यांकन करना चाहिए। इसके लिए नीचे दर्शाये खानों में दिये गये प्रश्नों के उत्तरों के रूप में तथ्य एकत्रित किये जायें। इन तथ्यों के आधार पर मूल्यांकन उत्कृष्ट, सन्तोषप्रद, (असन्तोषप्रद के रूप में) व्यक्त किया जाये। इन्हें अंकों में परिवर्तित करने के लिए उत्कृष्ट के लिए दो अंक, सन्तोषप्रद के लिए एक तथा असन्तोषप्रद के लिए शून्य अंक दिये जायें। इस विधि से अंकों के वितरण के बाद कुल ५० प्रतिशत अंक मिलने पर शाला-क्षेत्र को सन्तोषप्रद, इससे अधिक अंक मिलने पर उत्कृष्ट तथा ५० प्रतिशत से कम अंक मिलने पर असन्तोषप्रद माना जाये। अंक-निर्धारण के पश्चात् शिक्षकों, बालकों, समाज के प्रतिनिधियों आदि की सभा में यह निश्चित किया जाये कि किन-किन क्षेत्रों में विकास करना आवश्यक है। इस प्रकार विकास तथा सुधार के क्षेत्र निश्चित कर सुधार तथा विकास-योजना विकसित की जाये। प्रत्येक शाला अपने सुधार के लिए निश्चित, क्रमबद्ध प्रयास करे।

शाला-स्वयं-मूल्यांकन-प्रपत्र

शाला-सुधार के लिए निर्धारित किये गये क्षेत्रों में निम्नांकित प्रश्नों के उत्तरों के आधार पर उपर्युक्त विधि के द्वारा अंकों का निर्धारण किया जाये :

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(१) क्या शाला के उद्देश्य अधिकारी-वर्ग, शिक्षक तथा प्राचार्य मिलकर निर्धारित करते हैं ?		
(२) क्या शाला के उद्देश्यों को शिक्षक हमेशा ध्यान में रखते हैं ?		
(३) क्या परिस्थितियों के अनुसार शाला-उद्देश्यों में आवश्यक परिवर्तन किया जाता है ?		
(४) क्या शाला के उद्देश्यों की पूर्ति संबंधी मूल्यांकन किया जाता है ?		
(५) क्या शाला के उद्देश्यों की पूर्ति हुई है ?		
शाला के शैक्षणिक कार्यक्रमों का संगठन		
(६) क्या शाला के शैक्षणिक कार्यक्रमों के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है ?		
(७) क्या शाला के शैक्षणिक कार्यक्रमों के लिए योग्य प्रशिक्षित शिक्षक पर्याप्त संख्या में हैं ?		
(८) क्या शाला के शैक्षणिक कार्यों के लिए पर्याप्त सहायक सामग्री उपलब्ध है ?		
(९) क्या शैक्षणिक कार्यों को करते समय बालकों का सहयोग लिया जाता है ?		
(१०) क्या शैक्षणिक कार्यों की व्यवस्था की योजना बनाते समय शिक्षक, बालक, पालक प्रशासक, व्यवस्थापक सभी का सहयोग लिया जाता है ?		
(११) क्या शैक्षणिक कार्यों के लिए क्रियात्मक एवं गतिशील विधियों का उपयोग किया जाता है ?		
(१२) क्या शैक्षणिक कार्यों को करते समय समस्यात्मक विधि का उपयोग किया जाता है ?		
(१३) क्या गृह-कार्य व्यवस्थित रहता तथा नियमित रूप से जाँचा जाता है ?		
(१४) क्या विज्ञान आदि के शिक्षण में प्रयोग शाला का समुचित उपयोग किया जाता है ?		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(१५) क्या शैक्षणिक कार्यों के संबंध में व्यक्तिगत एवं सामूहिक कार्यों की समुचित व्यवस्था रहती है ?		
(१६) क्या शाला में प्राचार्य या हेडमास्टर द्वारा शैक्षणिक कार्यों का नियमित पर्यवेक्षण किया जाता है ?		
(१७) क्या प्राचार्य या हेडमास्टर या निरीक्षक, शैक्षणिक कार्यों में शिक्षकों का नियमित तथा व्यवस्थित मार्ग-दर्शन करते हैं ?		
(१८) क्या समय-विभाग-चक्र समय पर तैयार किये जाते हैं ? क्या इन्हें तैयार करने में शिक्षकों की सलाह ली जाती है ?		
(१९) क्या शाला में विषयवार तथा शिक्षकवार समय-विभाग-चक्र तैयार किये जाते हैं ?		
(२०) क्या समय-विभाग-चक्र में कठिन विषय पहले तथा सरल विषय बाद में रखे जाते हैं ?		
(२१) क्या विज्ञान के प्रायोगिक कार्यों के लिए पर्याप्त समय दिया जाता है ?		
(२२) क्या शाला में शैक्षणिक समस्याओं पर विचार करने के लिए शिक्षक-सभाएँ होती हैं ?		
शाला के साधन तथा आर्थिक स्थिति		
(२३) शाला की आर्थिक स्थिति कैसी है ?		
(२४) क्या शाला को शासकीय अनुदान या बजट-प्रावधान समय पर उपलब्ध होता है ?		
(२५) क्या शाला शासकीय अनुदान तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त वित्त से अपना कार्य व्यवस्थित रूप से चला पाती है ?		
(२६) क्या शाला में निम्नांकित अभिलेख व्यवस्थित रूप से भरे जाते हैं ?		
१) फीस-अभिलेख ।		
२) उपस्थिति-अभिलेख ।		
३) आय-रजिस्टर ।		
४) खर्च या व्यय-अभिलेख ।		
५) छात्रवृत्ति-अभिलेख ।		
६) वित्त (कैश)-अभिलेख ।		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
७) कंटिन्जेन्ट-अभिलेख ।		
८) स्टाक-अभिलेख ।		
९) प्रावीडेन्ट फण्ड-अभिलेख ।		
१०) फीस-सुविधा-अभिलेख ।		
११) वित्त तथा अर्थ संबंधी अन्य अभिलेख ।		
(२७) क्या अर्थ तथा वित्त संबंधी अभिलेखों की आन्तरिक जाँच प्रति माह नियमित रूप से की जाती है ?		
(२८) क्या अधिकारियों को अर्थ संबंधी प्रतिवेदन समय पर तथा यथोचित रूप से भेजे जाते हैं ?		
(२९) क्या स्टाक की जाँच प्रति वर्ष नियमित रूप से होती है ? क्या स्टाक-अभिलेख नियमित तथा यथोचित रूप से भरा जाता है ?		
(३०) क्या रकम व्यय करने में विभाग द्वारा निर्धारित विधि का पालन किया जाता है ?		
(३१) क्या आडिट-आक्षेपों को यथा समय निबटाया जाता है ?		
(३२) क्या वेतन, तरक्की आदि समय पर दिये जाते हैं ?		
(३३) क्या पेन्शन, प्रावीडेन्ट फंड के कार्य यथा समय सम्पन्न किये जाते हैं ?		
शाला के शिक्षक		
(३४) क्या शाला में शिक्षकों की नियुक्ति विधिवत् तथा समय पर होती है ?		
(३५) क्या शाला के सभी शिक्षक प्रशिक्षित हैं ?		
(३६) क्या शिक्षक एवं अधिकारी विभागीय नियमों के अनुसार अनुबंध में बँधे हैं ?		
(३७) क्या शाला-शिक्षकों को निम्नांकित सुविधाएँ उपलब्ध हैं ?		
(अ) वेतन तथा वेतन संबंधी तरक्की ।		
(ब) पेंशन, प्रावीडेन्ट फण्ड ।		
(स) अवकाश ।		
(द) तरक्की ।		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(३८) क्या शाला में शिक्षकों के शैक्षणिक विकास के लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हैं, जैसे ग्रीष्मकालीन शिविर, अध्ययन-गोष्ठी, आदि ।		
(३९) क्या शाला के शिक्षक निर्धारित संख्या से अधिक ट्यूशनें लेने को तत्पर रहते हैं अथवा लेते हैं ?		

शाला-ग्रंथालय

(४०) क्या शाला-ग्रंथालय में शिक्षकों के व्यवसाय-विषयक पुस्तकें पर्याप्त संख्या में हैं ?

(४१) क्या ग्रंथालय में पुस्तकों का यथोचित वर्गीकरण किया गया है ?

(४२) क्या ग्रंथालय में पठन-कक्ष अलग से व्यवस्थित है ?

(४३) क्या ग्रंथालय में पर्याप्त संख्या में बालोपयोगी तथा शिक्षकोपयोगी पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती हैं ?

(४४) क्या ग्रंथालय की सन्दर्भ-पुस्तकों से शिक्षकों का कार्य सन्तोषजनक रूप से चल जाता है ?

(४५) क्या बालक ग्रंथालय का समुचित उपयोग करते हैं ?

(४६) क्या ग्रंथालय में पुस्तकें संख्या एवं गुण दोनों दृष्टियों से समुचित हैं ?

(४७) क्या ग्रंथालय में पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाओं के रखने आदि की समुचित व्यवस्था है ?

(४८) क्या शाला में ग्रंथपाल ग्रंथालय में पुस्तकें लेता है ?

(४९) क्या शाला में पुस्तकें खरीदने के लिए शिक्षकों, बालकों आदि की एक समिति बनायी गयी है ?

(५०) क्या ग्रंथालय के स्टाक की जाँच नियमित रूप से होती है ?

(५१) क्या ग्रंथालय समुचित समय तक खुला रहता है ?

(५२) क्या ग्रंथालय में पुराने पत्र-पत्रिकाओं को रखने, बेचने आदि की समुचित व्यवस्था है ?

(५३) क्या शाला में इस बात की देख-रेख रखी जाती है कि जो पुस्तकें बालकों को दी जाती हैं, उन्हें ठीक-ठीक पढ़ा गया है ?

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक

शाला-छात्र

(५४) क्या शाला में छात्रों की डाक्टरी जाँच की उचित व्यवस्था है ?
(५५) क्या शाला के छात्रों को मार्ग-दर्शन की सुविधाएँ उपलब्ध हैं ?
(५६) क्या शाला में छात्र समय पर उपस्थित होते हैं ?
(५७) क्या शाला में छात्रों के अनुशासनात्मक अपराधों पर विचार करने के लिए बाल-समिति है ?
(५८) क्या छात्र शाला-कार्यक्रमों में समुचित रूप से भाग लेते हैं ?
(५९) क्या शाला में बालकों के अवकाश के समय के सदुपयोग के लिए समुचित व्यवस्था है ?
(६०) क्या छात्र नियमित रूप से गृह-कार्य करते हैं ?
(६१) क्या छात्रों के पीने के लिए शुद्ध पानी की समुचित व्यवस्था है ?
(६२) क्या शाला में छात्रों के दोपहर के भोजन की व्यवस्था है ?
(६३) क्या शाला में छात्रों के लिए खेलकूद की समुचित व्यवस्था है ?

शाला-भवन

(६४) क्या शाला-भवन में बालकों के बैठने की समुचित व्यवस्था है ?
(६५) क्या शाला में खेल के मैदान पर्याप्त संख्या में हैं ?
(६६) क्या शाला में अच्छा बागीचा है ?
(६७) क्या शाला के आस-पास सफाई रहती है ?
(६८) क्या शाला-अहाते के भीतर की सफाई नियमित रूप से यथोचित होती है ?
(६९) क्या शाला-भवन में प्राचार्य, शिक्षक, कार्यालय प्रयोग-कक्ष, ग्रंथालय, संग्रहालय के लिए पर्याप्त स्थान है ?
(७०) क्या शाला-भवन का अहाता है ?
(७१) क्या शाला-भवन की पुताई आदि यथा समय होती है ?

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(७२) क्या शाला-भवन में भविष्य में विकास के लिए पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं ?		
(७३) क्या शाला-भवन शाला की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है ?		
(७४) क्या शाला-भवन के सभी कमरों में पर्याप्त रोशनी रहती है ?		
(७५) क्या शाला-भवन में बालकों के लिए पीने के पानी की पर्याप्त व्यवस्था है ?		
(७६) क्या शाला में शौचालय एव मूत्रालय की समुचित व्यवस्था है ?		
(७७) क्या शाला में बालकों, शिक्षकों तथा अन्य कार्यों के उपयोग के लिए पर्याप्त फर्नीचर है ?		
(७८) क्या शाला में पर्याप्त संख्या में श्यामपट तथा अन्य उपकरण हैं ?		
(७९) क्या शाला के फर्नीचर की मरम्मत की उचित व्यवस्था है ?		
(८०) क्या शाला में छात्रावास है ? तथा क्या वह स्वस्थ वातावरण में है ?		
(८१) क्या शाला से छात्रावास की दूरी कम है (या अधिक) ?		
(८२) क्या छात्रावास में फर्नीचर आदि समान समुचित संख्या में हैं ?		
(८३) क्या छात्रावास की इमारत साफ-सुथरी तथा अच्छी दशा में है ?		
(८४) क्या छात्रावास के भोजनालय की उचित व्यवस्था है ?		
(८५) क्या छात्रावास के खर्च आदि के अभिलेख उचित ढंग से रखे तथा भरे जाते हैं ?		
(८६) क्या छात्रावास का निरीक्षण समुचित रूप से किया जाता है ?		
शाला-खेल-कूद मैदान		
(८७) क्या शाला में खेल-कूद के लिए पर्याप्त मैदान हैं ?		
(८८) क्या शाला में नियमित रूप से खेल-कूदों की व्यवस्था रहती है ?		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(८९) क्या शाला के सभी बालक-बालिकाओं के लिए खेलों की सुविधाएँ उपलब्ध हैं ?		
(९०) क्या समय-विभाग-चक्र में खेल-कूद के लिए पर्याप्त समय रखा जाता है ?		
(९१) क्या शाला की क्रिया-कलाप-निधि से खेल-कूद पर समुचित धन व्यय किया जाता है ?		
(९२) क्या शाला में बालक, शिक्षक के निर्देशन में खेल-कूद करते हैं ?		
(९३) क्या शाला में खेल-कूद प्रतियोगिताएँ नियमित रूप से व्यवस्थित की जाती हैं ?		
(९४) क्या शाला के बालक अन्य स्थानों में हो रही खेल-कूद प्रतियोगिताओं में भाग लेते हैं ?		
शाला-प्रयोग-कक्ष		
(९५) क्या शाला में समुचित संख्या में प्रयोग-कक्ष हैं ?		
(९६) क्या शाला में विज्ञान के प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग प्रयोग-कक्ष हैं ?		
(९७) क्या प्रयोग-कक्षों में समुचित तथा यथोचित मात्रा में उपकरण, फर्नीचर, रासायनिक पदार्थ आदि हैं ?		
(९८) क्या प्रयोगशालाओं में प्रयोग के लिए आवश्यक सभी सुविधाएँ उपलब्ध हैं ?		
(९९) क्या प्रयोग-कक्षों में पर्याप्त स्थान है ?		
(१००) क्या समय-विभाग-चक्र में प्रयोग-कक्षों के उपयोग के लिए अलग से समय निर्धारित किया गया है ?		
शाला-समाज सम्पर्क		
(१०१) क्या शाला-समाज-सम्पर्क से लिए शिक्षक-पालक गोष्ठियाँ, व्यवस्थित उत्सव तथा अन्य आयोजन किये जाते हैं ? क्या पालकों को निमंत्रण आदि भेजे जाते हैं ?		
(१०२) क्या शाला के कार्यों में समाज का सहयोग लिया जाता है ?		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(१०३) क्या शाला, समाज-शिक्षा संबंधी कार्यों में कोई योगदान देती है ?		
(१०४) क्या शाला की प्रगति के लिए शिक्षक-पालक संघ का विकास किया गया है ?		
(१०५) क्या कक्षा-शिक्षण के विकास के लिए समाज के विद्वानों का उपयोग किया जाता है ?		
(१०६) क्या बालकों के व्यावसायिक या अन्य मार्ग-दर्शन के लिए समाज में उपलब्ध साधनों का उपयोग किया जाता है ?		
(१०७) क्या शाला-सफाई, मरम्मत, पुताई या अन्य कार्यों में समाज सहायता देता है ?		
(१०८) क्या शाला में पुराने छात्रों का संघ या संगठन है ?		
(१०९) क्या उपयोगी, वैज्ञानिक, तथा अन्य ज्ञान का समाज में प्रसार करने के लिए शाला, गतिविधियाँ आयोजित करती है ?		
शाला तथा अधिकारी वर्ग से सम्पर्क		
(११०) क्या शाला में शिक्षा-अधिकारी शैक्षणिक मार्ग-दर्शन के लिए भेंट देते हैं ? या बैठकें लेते हैं ?		
(१११) क्या इस प्रकार की बैठकों या भेंट से कोई लाभ हुआ है ?		
(११२) क्या शाला-अधिकारियों के सुझावों का पालन पूर्णतः किया जाता है ?		
(११३) क्या शाला-अधिकारीगण शिक्षकों के साथ बैठकर समस्याओं पर विचार करते हैं ?		
(११४) क्या प्राचार्य द्वारा शाला-अधिकारियों से संबंध बढ़ाने के लिए शिक्षकों को प्रोत्साहित किया जाता है ?		
शाला तथा परीक्षा		
(११५) क्या इस वर्ष शाला का परीक्षाफल सन्तोषजनक रहा है ?		
(११६) क्या शिक्षकों ने परीक्षण के लिए नवीन परीक्षण विधियों का भी उपयोग किया है ?		

शाला के उद्देश्य	संक्षिप्त विवरण	अंक
(११७) क्या अन्तिम परीक्षा-फल में आंतरिक मूल्यांकन को स्थान दिया जाता है ?		
(११८) क्या वर्ष में दो तीन बार परीक्षा ली जाती है ?		
(११९) क्या परीक्षा-फल पालकों को यथा समय नियमित रूप से भेजा जाता है ?		
(१२०) क्या परीक्षा-फल बनने पर शिक्षक तथा प्राचार्य सभी मिलकर परीक्षण को और प्रभावी एवं उन्नत बनाने की दिशा में विचार-विमर्ष करते हैं ?		
शाला-स्वास्थ्य तथा डाक्टरी जाँच		
(१२१) क्या शाला के बालक-बालिकाओं की डाक्टरी जाँच नियमित रूप से होती है ?		
(१२२) क्या बालक-बालिकाओं की जाँच के बाद, रोगी या अशक्त बच्चों के विकास के लिए शाला द्वारा प्रभावी कार्य किये जाते हैं ?		
(१२३) क्या बच्चों की स्वास्थ्य-वृद्धि के लिए समय-समय पर शिक्षकों तथा प्राचार्य के द्वारा बच्चों के नाखून, कपड़े, शरीर आदि की सफाई का अवलोकन किया जाता है ?		
(१२४) क्या शाला में स्वास्थ्य संबंधी सामान्य नियमों का प्रसारण छात्र-छात्राओं में करने के उपाय अपनाये जाते हैं ?		
(१२५) क्या शाला के विद्यार्थी सामान्य रूप से स्वस्थ रहते हैं ?		

अध्याय २६

शिक्षा-वित्त

महत्व

शिक्षा से व्यक्ति समाज में हो रहे विकास तथा परिवर्तनों को अधिक सरलता एवं योग्यता से ग्रहण करने योग्य बनता है। इससे मशीनों का समुचित उपयोग होता है तथा श्रम का उचित विभाजन करने में सहायता मिलती है। शिक्षा से मानवीय साधन उन्नत होते हैं। फलस्वरूप ये उन्नत मानवीय साधन अनुन्नत साधनों की अपेक्षा उत्पादन वृद्धि में अधिक सहायक होते हैं। शिक्षा से मानवीय साधनों के उन्नत होने के कारण तकनीकी खोज अधिक तीव्र गति से की जा सकती है तथा इन खोजों की क्रियान्विति भी जल्दी की जा सकती है। शिक्षा न केवल स्थानीय स्तर पर परन्तु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी श्रम में अत्यधिक गतिशीलता लाती है। शिक्षा इस बात की गारंटी देती है कि जो व्यक्ति तकनीकी, आर्थिक तथा राजनीतिक निर्णय ले रहे हैं, वे अधिक योग्य, विस्तृत दृष्टिकोण वाले, नैतिक तथा ज्ञानवान हैं, जिनसे समाज में हानिकारक गलतियाँ कम से कम होंगी या होंगी ही नहीं। ये सभी परिणाम, अधिक अच्छी शिक्षा की व्यवस्था करने तथा व्यक्तियों को उत्तम प्रशिक्षण देने से ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यह सत्य है कि शिक्षा के परिणाम दीर्घकाल में दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु शिक्षा, खतरों को कम करती है तथा शिक्षा से प्राप्त परिणाम शिक्षा-व्यय से अधिक मूल्यवान होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा से बाह्य एवं आन्तरिक मितव्ययिता विकसित होती है।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानव ही विकास प्रारम्भ करता है तथा सभी प्रकार के विकास के लिए यही उत्तरदायी रहता है। चाहे वह गृह का विकास हो या राष्ट्र का, शिक्षा के द्वारा मानवीय साधनों का विकास करना अत्यन्त आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है।

जीवन में उत्पादन के अन्य साधनों जैसे, भूमि तथा धन आदि में भी विकास किया जा सकता है। इनको विकसित कर समाज के उत्पादन में समुचित वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इनके विकास की सीमाएँ रहती हैं। इन सीमाओं के बाद इन्हें कितनी ही अधिक मात्रा में उत्पादन में लगाया जाये, उत्पादन नहीं बढ़ेगा। परन्तु वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास के फलस्वरूप, ये ही साधन उत्पादन को बहुत बढ़ा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मानवीय तथा तकनीकी विकास, इनके उत्पादन में समुचित वृद्धि करते हैं। चन्द्र-विजय तथा अणु-शक्ति के उपयोग ने इस धारणा तथा निष्कर्ष की समुचित

पुष्टि की है परन्तु यह सब उन्नत तथा उत्तम शिक्षा के फलस्वरूप ही होता है। उन्नत शिक्षा से ही मानवीय साधनों का विकास होता है, जो समाज के विकास में सहायक होता है।

इसलिए यह आवश्यक है कि अविकसित, विकसित हो रहे तथा विकसित, सभी देशों में उन्नत एवं अच्छी शिक्षा की व्यवस्था की जाये। शुल्ज़ ने *Reflection on Investment in Man* में कहा है कि मानव की आर्थिक क्षमताएँ, उत्पादन का ऐसा माध्यम हैं जो उत्पादित तथा विकसित किये जाते हैं तथा केवल कुछ शुद्ध उपलब्धियों के, जो किसी विशेष नस्ल के होने के कारण उन्हें मिलती हैं, मानव की अधिकांश उपलब्धियाँ उनकी शिक्षा में अधिक निवेश (इन्वेस्टमेंट) के फलस्वरूप ही सम्भव हो सकी हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि मानव की आय, उसके शालेय जीवन में उसकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर किये गये व्यय या निवेश (investment) पर निर्भर रहती है। जिन व्यक्तियों की शिक्षा तथा स्वास्थ्य पर पहले अधिक व्यय किया जाता है, वे भविष्य में अधिक कमाने योग्य रहते हैं। इससे एक निष्कर्ष और निकाला जा सकता है कि मानवीय साधनों के विकास में लगाया गया धन मानव की व्यक्तिगत आमदनी के वितरण में समानता लाने में सहायक होता है।

आज हम अत्यन्त जटिल तथा गतिशील संसार में निवास कर रहे हैं। विलर्ड (Willard) ने इस संसार को "a world of quickly achieved knowledge and skill, of racial and class tension, of international frictions, of battered traditions of huge debts and of inevitable changes"[1] का संसार कहा है। आज की दुनिया में सतत् चुनाव करना बहुत आवश्यक है। आज विश्व में प्रतिक्षण उद्देश्यों, मूल्यों तथा विधियों में विकास तथा परिवर्तन हो रहे हैं। इनमें से सही मूल्यों, विधियों तथा उद्देश्यों का चुनाव, हमें प्रतिक्षण करना होता है। उचित चुनाव करने पर ही हमारी शान्ति तथा सुख निर्भर करते हैं। आजकल नवीन खोजें, आविष्कार, मशीनें तकनीकी विकास तथा कार्यविधियाँ बहुत अधिक विकसित हो रही हैं। ये सभी, हमारे जीवन, जीने के ढंग, हमारी आदतों, रुचियों आदि में परिवर्तन लाते रहते हैं। इस परिवर्तन को ग्रहण करने तथा इससे समंजित होने के लिए विवेकपूर्ण चुनाव करना हमारे लिए आवश्यक है। आजकल हर ओर भ्रम का साम्राज्य है। डर तथा शंकाएँ भी प्रेस की खबरों से ज्ञात होती हैं। युद्ध के उपयोग के लिए अनेक सामानों के निर्माण की खबरें भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। चन्द्र-अभियान में व्यक्तियों का चन्द्रमा पर उतरना तथा घूमना महान् उपलब्धियाँ हैं। इतना ही नहीं, अभी अपोलो १३ में कुछ खराबी आने पर चन्द्रमा की ओर जा रहे तीनों चन्द्र-यात्रियों को वापस पुनः पृथ्वी पर निर्दिष्ट स्थान पर उतारना महान कार्य है। इनके समाचार भी हमें

---

[1] Willard E. Givens, in *Federal Aid to Education*, p. 436. Quoted by Briggs, Leonard, Justman, *Secondary Education*, Macmillan & Co., New York, p. 64.

रेडियो तथा समाचार-पत्रों में मिलते हैं। अकाल, हड़ताल, कीमतों, बैंकों आदि के नियंत्रण तथा राष्ट्रीयकरण संबंधी बातों, राजनीतिज्ञों के प्रणों तथा शपथों आदि सभी के संबंध में हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों, रेडियो या टेलीविजन से देखते-सुनते रहते हैं। ये सभी बातें संबंधित व्यक्तियों को तथा कभी-कभी हमें भी तत्काल निर्णय लेने को बाध्य करती हैं। परन्तु निर्णय लेने तथा प्रसार एवं प्रचार के मध्य सत्य को देखने की समुचित क्षमता के लिए, उत्तम शिक्षा बहुत आवश्यक है। ब्रिग्ज तथा अन्य विद्वानों ने कहा है "The changed and still changing moves of our people, appreciation of the importance of the emotions, the attitudes, and the prejudices in social living, myriads of inventions that have brought conveniences and luxuries and abundance of production......the extended infancy of youth and the enlarged leisure time emphasize that many new elements are demanded in the new curriculum."[1] पाठ्यक्रम में इन सभी तथा अन्य तत्वों का समावेश शिक्षा पर और अधिक व्यय करने से ही हो सकता है।

आज जनसंख्या का विकास भी द्रुतगति से हो रहा है। जनसंख्या-वृद्धि रोकने के प्रयास भी किये जा रहे हैं। परन्तु फिर भी ऐसी आशा है कि बीसवीं सदी के अंत तक संसार की जनसंख्या दुगनी हो जायेगी। इस जनसंख्या-वृद्धि के कारण भी शिक्षा पर अधिक व्यय करना आवश्यक रहता है।

तकनीकी विकास से समाज का उत्पादन बढ़ता है। इस विकास के फलस्वरूप समाज सम्पन्न होता है। फलस्वरूप शिक्षा की माँग अधिक बढ़ती है। समाज में होने वाले अन्य अनेक विकासों के कारण, उन क्षेत्रों की शिक्षा की माँग अधिक हो जाती है। समाज में फैशन, फर्नीचर, काँच-उद्योग तथा अन्य उद्योगों की वृद्धि के फलस्वरूप इनकी शिक्षा-व्यवस्था की माँग बढ़ जाती है। विकसित हो रहे समाज में विकसित समाज की अपेक्षा यह माँग अधिक होती है। विकसित समाजों में प्राथमिक शालाओं तथा माध्यमिक शालाओं में समाज के अधिकतम बच्चे रहते हैं। अतः इन समाजों में केवल उच्च शिक्षा के विकास की सम्भावनाएँ ही अधिक रहती हैं। परन्तु अविकसित तथा विकसित हो रहे समाजों में सभी प्रकार की शिक्षा की माँग विकास के साथ-साथ बढ़ती जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अधिक तथा उत्तम शिक्षा-व्यवस्था की माँग दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही है। इस कारण शिक्षा-वित्त दिन-प्रतिदिन अधिक महत्वपूर्ण होता जा रहा है। अतः यहाँ यह विचार करना उपयोगी होगा कि शिक्षा के लिए शिक्षा-वित्त किस प्रकार जुटाया जा सकता है? इसका व्यय किस प्रकार शिक्षा के लिए किया जाना उपयुक्त होगा? शिक्षा-वित्त की क्या समस्याएँ हैं? तथा इन समस्याओं को किस प्रकार हल किया जा सकता है?

---

[1] Briggs, Leonard & Justman, *Secondary Education*, Revised edition, Macmillan & Co., New York, 1950, p. 459.

शिक्षा के साधन

शिक्षा के साधनों को सामान्यत: दो वर्गो में विभक्त करते हैं (१) सार्वजनिक (public) तथा (२) निजी। सार्वजनिक साधनों से प्राप्त धन को सार्वजनिक शिक्षा-वित्त कहते हैं तथा निजी स्रोतों से प्राप्त धन को निजी शिक्षा-वित्त कहते हैं।

सार्वजनिक शिक्षा-वित्त

सार्वजनिक शिक्षा-वित्त के अन्तर्गत केन्द्र-सरकार, राज्य-सरकार, विश्वविद्यालय-आयोग, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं तथा विदेशी सहायता से प्राप्त धन सम्मिलित किया जाता है। केन्द्र-सरकार अपने शासित क्षेत्रों में शिक्षा के लिए सीधे व्यय करती है। केन्द्र द्वारा चलायी जा रही संस्थाओं पर व्यय के साथ-साथ, शिक्षा के राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए केन्द्र-सरकार, राज्य-सरकारों को शिक्षा के लिए अनुदान देती है। केन्द्र-सरकार शिक्षा की कुछ मदों के लिए सीधे राज्य-सरकारों को अनुदान देती है परन्तु विश्वविद्यालयीन शिक्षा के लिए विश्वविद्यालय-आयोग के द्वारा अनुदान दिया जाता है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण-परिषद, माध्यमिक शिक्षा-स्तर के विकास तथा शिक्षण-प्रशिक्षण के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी है। अत: माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा से विकास, स्तर-सुधार या अन्य परिवर्तनों के लिए केन्द्र-सरकार इस परिषद के माध्यम से अनुदान देती है।

राज्य-सरकारें शासन की शालाएँ तथा प्रशिक्षण-संस्थाएँ भी चलाती हैं। इनमें सीधे शासन के खजाने से व्यय होता है। परन्तु राज्य-सरकारें, विभिन्न स्तरों पर शिक्षा-व्यवस्था के लिए निजी संस्थाओं, विश्वविद्यालयों, शिक्षा-परिषदों तथा स्वायत्त शासन-संस्थाओं को अनुदान देकर वित्तीय सहायता भी देती हैं।

स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के शिक्षा-फण्ड के अन्तर्गत इस प्रकार की संस्थाओं जैसे, नगर-निगम, नगर-पालिका, जिला-बोर्ड, जनपद, ग्राम-पंचायत आदि के द्वारा अपने सामान्य फण्ड से शिक्षा के लिए निर्धारित धन या शिक्षा-कर से प्राप्त रकम आती है। भारत में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का विकास १९वीं सदी में जनता को स्व-शासन में प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से किया गया था। ये स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए फण्ड एकत्रित करती हैं तथा अपने अधिकार राज्य-सरकारों से प्राप्त करती हैं। इनकी आय के साधन, स्थानीय कर तथा राज्य-सरकारों से प्राप्त अनुदान होते हैं। इन्हें राज्य-सरकारों के करों से प्राप्त आमदनी का कुछ अंश भी मिलता है। इन साधनों से प्राप्त आमदनी का एक अंश ये शिक्षा पर भी व्यय करती हैं। कभी-कभी शिक्षा पर अलग से कर भी लगाया जाता है तथा इसे पूर्णत: शिक्षा पर ही व्यय किया जाता है। शिक्षा-कर, ग्रामीण क्षेत्रों में लगान पर प्रतिशत के रूप में तथा शहरी क्षेत्रों में सम्पत्ति-कर या गृह-कर के रूप में रहता है। सन् १८५१ में भारत के पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ग्रामीण क्षेत्रों में हल्काबन्दी-कर इसी प्रकार का था। इसी के बाद भारत के अन्य प्रान्तों (बंगाल को छोड़कर क्योंकि वहाँ मुस्तकिल जमाबन्दी

थी) में भी इस प्रकार के कर लगाने में रुचि बढ़ी। आजकल मद्रास में ३६ पाई प्रति रुपया भूमि-लगान पर यह कर लगाया जाता है। साथ ही वहाँ के नगरीय क्षेत्रों में सम्पत्ति-कर का ५ प्रतिशत शिक्षा-कर के रूप में लिया जाता है। जम्मू-काश्मीर में १२ आना प्रति सौ रुपया भूमि-लगान पर कर के रूप में लिया जाता है तथा प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाता है। पश्चिमी बंगाल में खदानों के वार्षिक लाभ के प्रत्येक रुपये पर ३।। पाई तथा ५ पाई प्रति रुपया वार्षिक भूमि-लगान पर शिक्षा-कर के रूप में वसूल किया जाता है।

विदेशी सहायता केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के माध्यम से ही आती है। अतः इसे सार्वजनिक साधन मानना ही उचित होगा। यह अनुदान के रूप में केन्द्र या राज्य-सरकारों से प्राप्त होती हैं। यह अनेक रूपों में दी जाती है। पाठ्य पुस्तकों के लिए कागज, मध्यान्ह-भोजन के लिए दूध, मक्खन, पनीर या दवाइयों के रूप में, शिक्षकों के आदान-प्रदान, बच्चों की यात्रा-भ्रमण के लिए सहायता, शालाओं में उपकरणों की व्यवस्था, पुस्तकों के सस्ते संस्करणों के प्रकाशन आदि के रूप में होती है। कभी-कभी विदेशी विशेषज्ञ भारतीय शिक्षा-समस्याओं के अध्ययन के लिए आते हैं। यह भी विदेशी सहायता का एक रूप है।

निजी-साधन

निजी साधनों के अन्तर्गत (१) शाला-फीस, (२) एन्डोमेन्ट्स (endowments) तथा (३) अन्य साधन जैसे चन्दा, जुर्माना, बैंक आदि से प्राप्त व्याज, इमारतों से किराया, कर्ज आदि आते हैं।

(१) फीस या शुल्क––शालाओं में बालकों से उन्हें शिक्षा देने के बदले फीसली जाती है। यह राज्य-सरकारों के द्वारा शिक्षा-विभाग के माध्यम से निर्धारित की जाती है। शालाओं में सामान्यतः शिक्षा-शुल्क, प्रयोग शुल्क, परीक्षा शुल्क, मैगजीन या पत्रिका-शुल्क, खेल-शुल्क, इमारत-शुल्क आदि लिए जाते हैं। शुल्क के अन्तर्गत वह रकम भी आती है जो सरकार द्वारा (निःशुल्क शिक्षा की दृष्टि से) माफ की जाती है। माध्यमिक शिक्षा परिषद् या विश्वविद्यालयों को दी जाने वाली फीस या शुल्क, पंजीयन-शुल्क आदि शाला या महाविद्यालय-शुल्क के अन्तर्गत नहीं माने जाते हैं। शाला या महाविद्यालय के कुछ छात्रों से विशेष सेवा, जैसे, यातायात, मध्यान्ह-भोजन तथा काशन-मनी के लिए किया गया शुल्क इस साधन के अन्तर्गत नहीं माना जाता है।

भारतीय शालाओं में पहले निःशुल्क-शिक्षा दी जाती थी। परन्तु शालाओं में दर्ज-संख्या कम ही रहती थी। इसीलिए १८४४ में बंगाल सरकार ने थोड़ा शुल्क लेना प्रारम्भ किया। सन् १८५४ में वुड शिक्षा-महाविधान में भी यही व्यक्त किया गया है कि निःशुल्क शिक्षा से शुल्क सहित शिक्षा अधिक अच्छी होती है तथा इससे हाजिरी अच्छी होती है। बच्चे भी शुल्क सहित शिक्षा में अधिक परिश्रम करते हैं। अतः कालान्तर में ऐसी भारतीय

शालाओं को ही अनुदान दिया जाता था जो कुछ न कुछ शुल्क लेती थीं। परन्तु माध्यमिक तथा विश्वविद्यालय-स्तरों पर फीस शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन है। अनेक शिक्षण-संस्थाएँ तो इसी के बल पर चल रही हैं। राज्य सरकारों के अनुदान के बाद इन्हीं का स्थान है।

(२) **एन्डोमेन्ट्स**—एन्डोमेन्ट से तात्पर्य ऐसे वित्त या धन से है जिसका मूल सदा सुरक्षित रहता है तथा केवल ब्याज या उससे होने वाली अन्य आमदनी का उपयोग, शिक्षा के लिए किया जाता है। भारत में अनेक संस्थाएँ संलग्न जमीन, इमारत, धन आदि की आमदनी से चलती हैं। प्राचीन काल में इसका आम चलन था। परन्तु अभी ३ प्रतिशत से १० प्रतिशत के लगभग आय विद्यालयों को इसी साधन से होती है। अनेक सामाजिक तथा धार्मिक सेवाओं के निमित्त एन्डोमेन्ट्स विकसित किये जाते हैं तथा इनकी कुछ आमदनी शिक्षा के निमित्त भी व्यय की जाती है।

(३) **अन्य साधन**—शासकीय अनुदान, शुल्क तथा एन्डोमेन्ट्स के अतिरिक्त शिक्षा के जो भी अन्य साधन हैं वे इसके अन्तर्गत आते हैं। चंदा, ब्याज, दान, लाभ, किराया, कर्ज आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। इन सभी मदों से प्राप्त आय अन्य साधन के अन्तर्गत रखी जाती है। स्वतंत्रता के पूर्व एन्डोमेन्ट्स भी इसके अन्तर्गत रखे जाते थे, परन्तु अब इन्हें अलग रखा जाता है। भारत में अन्य साधनों के अन्तर्गत बहुत कम आय होती है। परन्तु अमेरिका, इंलैण्ड आदि विकसित देशों में इस साधन के अन्तर्गत समुचित आय होती है।

शिक्षा पर व्यय

शिक्षा-व्यय से तात्पर्य ऐसे व्यय से है जो शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षा-व्यवस्था के निमित्त मानवीय साधनों तथा भौतिक साधनों की पूर्ति के लिए करती हैं। इसका लेखा प्रति वर्ष के हिसाब से रखा जाता है। शालाएँ बजट बनाते समय अपने आय के साधनों तथा व्यय का ध्यान रखती हैं। सामान्यतः बजट में आय एवं व्यय में सन्तुलन रहता है। शिक्षा-व्यय को तीन भागों में विभक्त करते हैं (१) वर्तमान या आवर्त्तक व्यय, (२) अनावर्त्तक व्यय तथा (३) कर्ज या इस पर ब्याज आदि।

(१) **आवर्त्तक व्यय**—आवर्त्तक व्यय प्रतिवर्ष करना पड़ता है। इसमें शिक्षकों का वेतन, शाला, सफाई, साधारण मरम्मत, ग्रंथालय, शिक्षण-सहायक सामग्री आदि पर किये गये व्यय सम्मिलित होते हैं। शिक्षा पर किया गया आवर्त्तक व्यय अन्य प्रकार के व्ययों से सदैव अधिक होता है।

(२) **अनावर्तक व्यय**—अनावर्त्तक व्यय के अन्तर्गत शाला-भवन-निर्माण, खेल-कूद-मैदान-निर्माण, उपकरण, जमीन खरीदने आदि के लिए किया गया व्यय आता है। इस तरह का व्यय प्रतिवर्ष नहीं किया जाता है। एक बार व्यय करने के उपरान्त इन मदों पर व्यय करना बहुत समय तक आवश्यक नहीं रहता है।

(३) **कर्ज आदि**—शिक्षा के लिए कभी-कभी कर्ज लेना आवश्यक होता है। अनेक देशों में इमारतों, उपकरण आदि की व्यवस्था जनता से कर्ज लेकर की जाती है। इस कर्ज

को चुकाना तथा इस पर ब्याज देना इस मद के अन्तर्गत आता है। भारत में सामान्यत: कर्ज के दो भेद ही किये जाते हैं। कर्ज आदि की प्रथा यहाँ नहीं है। यदि कहीं है भी तो इसे आवर्त्तक व्यय के अन्तर्गत लिखा जाता है।

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष व्यय

भारत में शिक्षा-व्यय को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष-व्यय के रूप में भी माना जाता है।

प्रत्यक्ष व्यय—प्रत्यक्ष-व्यय, वह व्यय है जो किसी शिक्षण-संस्था को चलाने के लिए किया जाता है। इसके अन्तर्गत वेतन, मँहगाई, कन्टेन्जेन्सी, यात्रा-भत्ता, सामान्य खर्च, नौकरों की पोशाकें, सह-पाठ्यक्रम-गामी क्रियाओं के लिए किया गया व्यय, शाला-मरम्मत आदि मदें आती हैं। फर्नीचर, उपकरण, प्रयोग-कक्ष तथा ग्रंथालय पर किया गया आवर्त्तक व्यय भी इसके अन्तर्गत आता है। भारत में पहले विश्वविद्यालय केवल परीक्षाएँ लेते थे। अत: इन पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष-व्यय नहीं माना जाता था परन्तु अब इन पर किया गया व्यय प्रत्यक्ष-व्यय माना जाता है। भारत में प्रत्यक्ष-व्यय के अन्तर्गत शिक्षकों के वेतन तथा मँहगाई आदि पर सम्पूर्ण व्यय का, लगभग ७० से ८५ प्रतिशत तक व्यय होता है।

अप्रत्यक्ष-व्यय—अप्रत्यक्ष-व्यय के अन्तर्गत प्रशासन, पर्यवेक्षण, छात्रवृत्ति, इमारत, उपकरण, फर्नीचर, छात्रावास आदि पर किया गया व्यय आता है। इस व्यय के अन्तर्गत समय-समय पर मदों में परिवर्तन होता रहता है। १६ वीं सदी में निजी संस्थाओं तथा छात्रावास, जिन्हें मान्यता प्राप्त नहीं थी, आदि पर किये जाने वाले व्यय को इसके अन्तर्गत माना जाता था परन्तु बाद में ग्रंथालय, परीक्षा आदि पर किये जाने वाले व्यय को भी इसके अन्तर्गत माना जाने लगा। स्वतंत्रता के उपरान्त छात्रावास के व्यय को अलग से दर्शाया जाने लगा है तथा स्टेशनरी, तार तथा चिठ्ठी-व्यय, साइकिल की मरम्मत, बिजली, पानी, समाचार-पत्र, श्रेणी ४ के कर्मचारी आदि इसके अन्तर्गत आ गये हैं।

अनुदान

अनुदान, शिक्षण-संस्थाओं की आय का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। अत: इस साधन की विवेचना विस्तार से करना उपयोगी होगा। *Encyclopedia of Social Sciences* में अनुदान के संबंध में कहा गया है कि "यह ऐसा धन है जो उच्च सरकार द्वारा अधीनस्थ सरकारी सत्ता को या तो खजाने से या अन्य वित्तीय साधनों से विशेष रूप से दिया जाता है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट होता है कि अनुदान, उच्च सरकारी सत्ता के द्वारा अधीनस्थ संगठनों या सत्ता को, कुछ शर्तों के साथ दिया गया धन है। अनुदान की यह परिभाषा बहुत विस्तृत है तथा इसके उद्देश्यों पर प्रकाश नहीं डालती है। शिक्षण-संस्थाओं को दिया गया अनुदान उद्देश्य बतलाने वाला अवश्य होना चाहिये। एम० आर० परांजपे ने अनुदान को ऐसी सहायता माना है "जो शिक्षा-संचालक द्वारा अशासकीय शिक्षण-संस्थाओं को प्रदान की जाती है।" सौराष्ट्र की अनुदान-कोड में दी गयी परिभाषा कुछ

उन्नत है तथा इससे अनुदान के उद्देश्यों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार अनुदान, "ऐसा धन है जो राज्य के खजाने से निजी प्रयासों को, शैक्षणिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा अन्य संबंधित कल्याणकारी गतिविधियों के विकास तथा उन्हें उन्नत बनाने के लिए दिया जाता है।" मध्य प्रदेश के अनुदान-नियमों में अनुदान की दी गयी परिभाषा भी विस्तृत तथा अनुदान के उद्देश्यों तथा कार्यों पर समुचित प्रकाश डालने वाली है। इसमें अनुदान की शर्तों का भी उल्लेख है। इन नियमों के अनुसार "शिक्षा के विकास, प्रसार तथा उसे उन्नत करने की दृष्टि से, राज्य के खजाने से धन की राशि प्रतिवर्ष अलग रख ली जाती है जो अनुदान के रूप में अशासकीय प्रबंध में चलने वाली शालाओं तथा अन्य शैक्षणिक संस्थाओं को वितरित की जाती है।" इसके बाद अनुदान की शर्तों का उल्लेख है तथा यह भी स्पष्ट किया गया है कि कोई भी शैक्षणिक संस्था अनुदान को अधिकार के रूप में माँग नहीं सकती है। अनुदान प्राप्त करने वाली संस्था माँग करने के एक वर्ष पूर्व से कार्यरत रहनी चाहिये एवं शिक्षा-विभाग तथा माध्यमिक शिक्षा-परिषद से मान्य होनी चाहिये। अनुदान, निरपेक्ष तथा ठोस-शिक्षा देने वाली अशासकीय शिक्षण-संस्थाओं को दी गयी शर्तों के अनुसार ही दिया जा सकता है। अनुदान देते समय शासकीय वित्तीय साधनों तथा शिक्षण-संस्थाओं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

अनुदान के आधारभूत सिद्धान्त

अनुदान के निम्नांकित आधारभूत सिद्धान्त हैं:

(१) **शिक्षा के अवसरों की समानता**—भारत एक लोकतंत्रीय देश है तथा लोकतंत्र में सभी को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध करना अति आवश्यक है। मोर्ट, स्ट्रेयर तथा हेग ने न्यू यार्क राज्य के शिक्षा-वित्त के संबंध में विस्तृत अध्ययन किया है। अपने अध्ययन के आधार पर इन्होंने निम्नांकित निष्कर्ष निकाले हैं:

(१) राज्य के सभी क्षेत्रों में शिक्षा के समान अवसर बालकों को उपलब्ध कराना राज्य का कर्तव्य है।

(२) स्थानीय तथा राज्य के साधनों द्वारा सभी की शिक्षा के लिए धन इस प्रकार एकत्रित करना कि सभी क्षेत्रों के लोगों पर, उनकी कर देने की क्षमता के आधार पर उत्तरदायित्व पड़े।

(३) राज्य-शिक्षा-विभाग द्वारा सभी शालाओं के समुचित एवं पर्याप्त पर्यवेक्षण तथा नियंत्रण की व्यवस्था करना।

इस अध्ययन के आधार पर अमेरिका में एक निम्नतम शिक्षा-कार्यक्रम निश्चित कर, उसे सभी क्षेत्रों में उपलब्ध कराने के प्रयास किये गये। परन्तु इसमें राज्य का सभी शालाओं पर पूर्ण नियंत्रण न होकर, स्थानीय संगठनों को पूर्ण स्वतंत्रता थी तथा राज्य का कार्य केवल यह देखना था कि शालाओं में निम्नतम निश्चित कार्यक्रम अवश्य ही व्यवस्थित किये जायें। बर्क ने इसीलिए कहा है कि "This equalisation became a lever for

releasing local initiative that had been bottled up by traditional policies and practices."[1] अमेरिका में अब पहले से भी अधिक उन्नत एवं सुविधाजनक विधियाँ, समानता की स्थापना के उद्देश्य से उपयोग में लायी जा रही हैं। भारत में प्रायः सभी राज्यों में ७५ प्रतिशत या इससे कम, जो भी आवश्यक व्यय हो, उसकी पूर्ति राज्य-शिक्षा-विभाग द्वारा अनुदान के रूप में की जाती है। इसके फलस्वरूप सभी प्रकार की शालाओं में विभाग द्वारा निश्चित शिक्षा-कार्यक्रम चलाने के प्रयास किये जाते हैं। समानता की स्थापना के लिए निम्नलिखित तत्वों का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

(१) स्थानीय पहल तथा उत्साह का विकास।

(२) समुचितता या पर्याप्तता।

(३) लचीलापन।

भारतीय अनुदान-प्रणाली में इन तीनों तत्वों का समावेश किया जाता है। क्योंकि उन्हीं शालाओं को अनुदान दिया जाता है जो कुछ समय से स्थानीय समाज या प्रयासों द्वारा चलायी जा रही हों, तथा जो २५ प्रतिशत या अधिक व्यय स्थानीय या अन्य साधनों से जुटाती हों। इस प्रकार इन शर्तों पर जिस शाला को जितनी रकम आवश्यक होती है वह अनुदान के रूप में दी जाती है।

(२) स्थानीय प्रयासों को प्रोत्साहन—अनुदान, स्थानीय या निजी प्रयासों का दान नहीं है। यह तो राज्य द्वारा निर्धारित निम्नतम शिक्षा-स्तर विकसित करने के लिए प्रोत्साहन है। केन्द्र तथा राज्य को शिक्षा में पर्याप्त रुचि तो लेना ही चाहिये परन्तु स्थानीय साधनों को भी इस दिशा में अधिकतम रूप से सक्रिय करना बहुत आवश्यक है। भारत में अनुदान-प्रणाली १८५४ के वुड शिक्षा-महाविधान के सुझावों पर प्रारम्भ हुई। इस शिक्षा-महाविधान में भी यह अपेक्षा की गयी थी कि स्थानीय प्रयासों को और अधिक सक्रिय किया जाना उपयोगी होगा। सौराष्ट्र के अनुदान-कोड में भी इस बात पर बल दिया गया है कि जो शिक्षा के विकास में सहायक होना चाहें, उन संगठनों को उत्साहित करने के लिए अनुदान दिया जायेगा। मध्य प्रदेश के अनुदान-नियमों में भी इस बात पर बल दिया गया है कि शिक्षा-विकास के लिए स्थानीय तथा निजी प्रयास अवश्य ही किये जायें। आजकल केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय साधनों का समुचित सहयोग, शिक्षा-विकास के लिए आवश्यक माना जाता है। केवल राज्य या केन्द्र कितना कार्य कर सकते हैं। बर्क ने इसीलिए कहा है कि "The chief advantage of an equalisation programme combining central and local support is the attainment of a relatively high level of equalisation support without placing an undue burden upon the State revenue system."[2] इस प्रकार अनुदान या आर्थिक सहायता का एक प्रमुख सिद्धान्त, स्थानीय उत्साह,

[1] Burke, A. J., *Financing Public Schools in the United States*, Harper & Brothers, New York, 1951, p. 301.

[2] *Ibid*, p. 361.

सहयोग तथा शिक्षा-कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने की स्वतंत्रता है। भारत में अभी स्थानीय साधनों का समुचित उपयोग शिक्षा के लिए नहीं किया जा रहा है। अतः इस ओर और अधिक सक्रिय प्रयासों की आवश्यकता है।

(३) **शिक्षा-स्तर एवं कुशलता विकसित करना**—अनुदान का एक सिद्धान्त गुणात्मक उन्नति करना भी है। लार्ड कर्जन ने भारत में इस दृष्टिकोण से अनेक उपाय ऐसे अपनाये थे जो शिक्षा-स्तर-विकास को पुष्ट करते थे। भारत में अंग्रेजी शिक्षा इस ओर सर्वाधिक ध्यान देती रही है। आजकल भी उपकरणों तथा विशेष कार्यों के लिए अनुदान देने का उद्देश्य यही रहता है। इससे शिक्षण उन्नत होता है।

(४) **उपेक्षित क्षेत्रों को प्रोत्साहित तथा उत्प्रेरित करना**—आवश्यक वित्त के अभाव में स्थानीय प्रयासों से चलने वाली अनेक शालाओं में अनेक महत्वपूर्ण गतिविधियाँ तथा विषय विकसित नहीं हो पाते हैं। राज्य-शासन द्वारा संचालित अनेक शालाओं में भी टेक्नीकल तथा ललित-कला के अनेक विषय, वित्त के अभाव के कारण विकसित नहीं हो पाते। अनेक ऐसे उपेक्षित क्षेत्र हैं, जहाँ शिक्षा का पर्याप्त विकास नहीं हो सका है। केन्द्र तथा राज्य-सरकारें इस ओर दृष्टि डाल रही हैं तथा ऐसे उपेक्षित क्षेत्रों में शिक्षा-विकास के लिए शत-प्रतिशत या सामान्य से अधिक अनुदान भी देती हैं।

(५) **शाला-भार समान करना**—यह सिद्धान्त, शिक्षा के समान अवसर तथा निजी प्रयासों को प्रोत्साहन, सिद्धान्तों से ही उद्भूत होता है। निजी तथा स्थानीय प्रयासों द्वारा शिक्षा के लिए धन जुटाना, समाज में उपलब्ध धन, रुचि तथा अन्य तत्वों पर निर्भर रहता है। लोकतंत्र में बहुत उच्च स्तरीय शिक्षा की अपेक्षा की जाती है। इसके लिए बहुत अधिक धन तथा वित्तीय साधन जुटाना आवश्यक होता है। स्थानीय प्रयासों के पास शक्ति तथा साधन इतने यथेष्ट नहीं होते कि वे उच्च स्तरीय सभी प्रकार की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर सकें। अतः केन्द्र तथा राज्य-सरकारें इनके भार को कम करने के लिए आवश्यक सहायता प्रदान करती हैं। संसार के कुछ राष्ट्रों में भवन तथा अन्य अनावर्त्तक व्यय केन्द्र-सरकार देती है, वेतन राज्य-सरकार देती है तथा अन्य व्यय स्थानीय प्रयासों को जुटाना पड़ता है। भारत में आवर्त्तक तथा अनावर्त्तक दोनों प्रकार के व्यय में केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय प्रयास निश्चित अनुपात में सहायता देते हैं। जैसे मध्य प्रदेश में भवन-निर्माण के लिए $\frac{1}{3}$ व्यय तथा उपकरण आदि के निमित्त ५० प्रतिशत व्यय, राज्य-सरकार अनुदान के रूप में देती है। भारत के अन्य राज्यों में यह अनुपात भिन्न-भिन्न है। परन्तु यह अनुपात सामान्यतः ५० प्रतिशत ही है।

अच्छी अनुदान-प्रणाली के गुण

किसी भी उत्तम अनुदान-प्रणाली में सरलता, पर्याप्तता, लचीलापन तथा अनुचित उपयोग से सुरक्षा, अवश्य होना चाहिये।

(१) **सरलता**—अनुदान निश्चित करने तथा अनुदान देने की विधि में सरलता होनी चाहिये। यदि यह तत्व इन दोनों प्रक्रियाओं में है, तब यह सुविधा से ग्राह्य होगी। इसमें रूढ़िवादिता तथा क्लिष्टता कम से कम होनी आवश्यक है। यदि अनुदान निश्चित करने तथा प्राप्त करने में बहुत कठिनाइयों तथा कार्य-विधियों का पालन करना होगा तब अनुदान देने में देर होगी तथा शालाओं को अनावश्यक कठिनाइयाँ होंगी। अनुदान की रकम निश्चित करने में अनेक रीतियों का उपयोग किया जाता है परन्तु क्लिष्टता तब आती है, जब अनुदान विभिन्न मदों तथा उद्देश्यों के लिए अलग-अलग निश्चित दिया जाता है। सरलता विकसित करने के लिए अनुदान समग्र नियम के आधार पर निश्चित करना चाहिये।

(२) **पर्याप्तता**—अनुदान, शाला को उसकी वित्तीय कठिनाइयों को दूर करने के लिए दिया जाता है। इस बाह्य सहायता के अभाव में शालाएँ निम्नतम स्तर विकसित करने में असमर्थ रहती हैं। अतः यह आवश्यक है कि अनुदान की रकम पर्याप्त होनी चाहिये। उत्तम शिक्षक, उत्तम उपकरण, उत्तम विशेष सेवाओं आदि के आधार पर, अनुदान की पर्याप्त रकम निश्चित की जा सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुदान की रकम, इन सभी तत्वों के समुचित कौशल-विकास में सहायक होनी चाहिये। आजकल भारत में सामान्यतः सभी स्थानों में अनुदान की रकम में वृद्धि के लिए नारे लगाये जाते हैं। अतः आवश्यक यह है कि राष्ट्र के लोकतंत्र तथा संस्कृति के विकास के लिए पर्याप्त रकम, अनुदान के रूप में दी जाये।

(३) **लचीलापन**—बर्क आदि विद्वानों का कथन है कि शालाओं के लिए सहायता का आधार, उन्हें विकास के लिए प्रेरणा देना होना चाहिये। इस दृष्टि से यदि अनुदान पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट होगा कि शालाओं की आवश्यकताओं तथा साधनों के अनुरूप अनुदान देना चाहिये। रिचे महोदय का कथन है—"Every good system of grant-in-aid must in the first place be sufficiently elastic to allow for variations in the amount of grant to suit local conditions and the size and character of the institution aided."[1] इस दृष्टि से अनुदान लचीला होना चाहिये, जिससे शालाओं की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अनुदान स्थिर न हो। स्थिरता से शालाओं को यह विश्वास होगा कि एक निश्चित रकम उन्हें मिलेगी जिससे वे विकास के लिए प्रेरित होंगी। अतः अनुदान को स्थिर रखते हुए भी उसमें पर्याप्त लचीलापन लाने का प्रयास किया जाना चाहिये। इसके लिए यह आवश्यक है कि अनुदान मंजूर करने वाली सत्ता की साक्षेपता का प्रभाव कम से कम हो।

(४) **अनुचित उपयोग से सुरक्षा**—किसी भी अनुदान का उचित उपयोग होना चाहिये। यदि अनुदान की रकम का उचित उपयोग न हुआ तो अनुदान देने के उद्देश्य ही विफल हो जायेंगे। अतः अनुदान का उपयोग शाला के स्तर तथा कौशल के विकास के लिए

[1] Richey, J. A., Occasional Reports—Report No. 12 (1923), p. 7.

ही किया जाना चाहिये । अतः अनुदान-विधि में ऐसी कार्यविधियों तथा रीतियों का उपयोग किया जाना चाहिये जिससे अनुदान की रकम का सदुपयोग सुनिश्चित हो सके । अनेक शालाओं में, समय पर वेतन नहीं दिया जाता, लेखा जोखा ठीक से तथा सचाई से नहीं रखा जाता, धन का उपयोग अशैक्षिक कार्यों में किया जाता है तथा झूठे वेतन दिये जाते हैं। इन सभी पर रोक होनी चाहिये तथा इनकी गुंजाइश कम से कम हो, यह गारंटी अनुदान-विधि से मिलनी चाहिये । परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनुदान प्राप्त करने वाली शालाओं को पर्याप्त स्वतंत्रता न रहे। बंधन आवश्यक हैं, परन्तु रूढ़िवादिता, कठोरता तथा अधिक नियंत्रण, स्थानीय उत्साह को कम करते हैं जबकि अनुदान का उद्देश्य इसे प्रोत्साहन देना है ।

अनुदान के प्रकार

अनुदान सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—(१) आवर्त्तक तथा (२) अनावर्त्तक ।

आवर्त्तक अनुदान—आवर्तक अनुदान मासिक, त्रैमासिक, छःमाही या वार्षिक दिया जाता है । इसके अन्तर्गत वेतन, मँहगाई, कन्टेन्जेन्सी, किराया, टैक्स, स्टेशनरी, भवन की मरम्मत, फर्नीचर, सफाई, बिजली, पोशाक, फार्मों की छपाई, डाक्टरी जाँच, प्रयोग-कक्ष, उद्योग-कक्ष, सहायक-सामग्री, प्रशिक्षण के लिए भेजे जाने वाले शिक्षक आदि का व्यय शामिल रहता है । इन्हें मेन्टेनेन्स ग्रांट भी कहते हैं । ये सामान्य शालाओं तथा विशिष्ट शालाओं जैसे, बालक-मंदिर, संगीत-विद्यालय, कला-विद्यालय, संस्कृत शाला आदि को भी दी जाती है। मेन्टेनेन्स अनुदान, वह आवर्त्तक अनुदान है जो शिक्षण-संस्था को चलाने के लिए दिया जाता है। यह शिक्षण-संस्थाओं के प्रतिदिन के व्यय या वर्तमान व्यय में आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से दिया जाता है ।

आवर्त्तक या मेन्टेनेन्स ग्रांट भारत के विभिन्न राज्यों में मान्य व्यय के विभिन्न प्रतिशत के रूप में दी जाती है । मध्य प्रदेश से यह मान्य व्यय के ७५ प्रतिशत या पूर्ण, जो भी कम हो, की पूर्ति के रूप में दी जाती है । आसाम में यह कमी-पूर्ति के रूप में दी जाती है। इसमें मिडिल शालाओं की फीस का ५० प्रतिशत तथा अंग्रेजी शालाओं की फीस का ६० प्रतिशत तथा शिक्षकों का वेतन, महँगाई आदि मान्य खर्च के अन्तर्गत लेखे जाते हैं। यदि मान्य आय, मान्य व्यय से कम होती है, तब बचा हुआ सम्पूर्ण व्यय अनुदान के रूप में दिया जाता है।

केरल में फीस सीधे सरकारी खजाने में जमा होती है तथा शिक्षकों को सरकार की ओर से वेतन दिया जाता है। अन्य व्यय के लिए आवर्त्तक अनुदान अधिक से अधिक ३०० रु०, भवन मरम्मत या ५ पैसे प्रति वर्ग फुट फर्श तथा १२ पैसे प्रति वर्ग फुट छप्पर की मरम्मत का दिया जाता है । प्रयोगशाला के उपकरण के लिए प्रति कक्षा १२० रु० तथा अधिक से अधिक प्रति शाला १२००रु० दिया जाता है । इसके अतिरिक्त स्टेशनरी, पानी, बिजली, ग्रंथालय की पुस्तकों की खरीद आदि का व्यय भी दिया जाता है। महाराष्ट्र में मान्य व्यय का ४५ प्रतिशत शहरी शालाओं तथा ५० प्रतिशत ग्रामीण शालाओं को अनुदान दिया जाता है । मैसूर में मान्य व्यय का $\frac{2}{3}$ व्यय दिया जाता है। उड़ीसा में मान्य व्यय के घाटे

का $\frac{2}{3}$ दिया जाता है। पंजाब में इसके अन्तर्गत उपकरण तथा मँहगाई अनुदान को भी सम्मिलित किया गया है। राजस्थान में मान्य व्यय का ५० प्रतिशत से ७५ प्रतिशत तक आवर्त्तक अनुदान के रूप में दिया जाता है। बंगाल में संपूर्ण घाटा पूरा किया जाता है परन्तु इसको निश्चित करने के लिए प्रशिक्षित शिक्षकों के कुल वेतन का ५० प्रतिशत, अप्रशिक्षित शिक्षकों के कुल वेतन का $\frac{1}{3}$ तथा अन्य कर्मचारियों के वेतन का $\frac{1}{3}$ आवर्त्तक अनुदान के रूप में दिया जाता है। मनीपुर में मान्य व्यय तथा मान्य आय के अन्तर के घाटे की पूर्ति की जाती है परन्तु यह ६० प्रतिशत से अधिक नहीं होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में आवर्त्तक अनुदान की रकम विभिन्न राज्यों में विभिन्न होती है तथा सामान्यतः अब घाटे की पूर्ति के रूप में ही दी जाती है। इसकी रकम निश्चित करने के लिए शिक्षक तथा अन्य कर्मचारियों का वेतन, महँगाई, आदि सभी राज्यों में मान्य व्यय के अन्तर्गत माना जाता है। परन्तु विभिन्न राज्यों में मान्य व्यय का ३० प्रतिशत से ६० प्रतिशत तक ही आवर्त्तक अनुदान के रूप में दिया जाता है। मैसूर, गुजरात, आन्ध्र तथा महाराष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रों में भी यह रकम विभिन्न रहती है। सामान्यतः बालक-शालाओं के लिए, बालिका-शालाओं की अपेक्षा रकम कम होती है। इसी प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों की शालाओं को अधिक आवर्त्तक अनुदान मिलता है। यह प्रायः भारत के प्रत्येक राज्य में पाया जाता है।

अनावर्त्तक अनुदान—अनावर्त्तक अनुदान शालाओं की कुशलता तथा स्तर-विकास के लिए दिया जाता है। इसे तीन भागों में विभक्त किया जाता है—(१) भवन या इमारत-अनुदान, (२) उपकरण अनुदान, तथा (३) विशेष अनुदान।

(१) **भवन या इमारत-अनुदान**—यह शाला-भवन तथा छात्रावास बनवाने, भूमि खरीदने या वर्तमान भवन का विस्तार करने के लिए दिया जाता है। यह सामान्यतः कुल व्यय का $\frac{1}{3}$ होता है। अनेक राज्यों में बालिका-शाला तथा ग्रामीण और अविकसित क्षेत्रों की शालाओं के भवन-निर्माण के लिए कुल व्यय का ५० प्रतिशत भी दिया जाता है। इसे सामान्यतः इमारत पूर्ण होने पर दिया जाता है। परन्तु सरकार की विशेष अनुमति से क्रमशः या बनने के पूर्व भी दिया जा सकता है। मद्रास में अधिक से अधिक ३५,००० रु० या पूर्ण व्यय का ५० प्रतिशत जो भी कम हो, भवन-अनुदान के रूप में दिया जाता है। आसाम में शाला की मरम्मत, वृद्धि या निर्माण के लिए भी कर्ज दिया जाता है। महाराष्ट्र में कुल मान्य व्यय का ३० प्रतिशत, उड़ीसा में बालक-शालाओं के मान्य व्यय का ५० प्रतिशत तथा बालिका-शालाओं के मान्य व्यय का $\frac{2}{3}$, राजस्थान में ५० प्रतिशत, भवन-निर्माण-अनुदान के रूप में दिया जाता है।

इस प्रकार भारत के विभिन्न राज्यों में भवन-निर्माण के लिए अनावर्त्तक अनुदान दिया जाता है जो मान्य व्यय का २५ प्रतिशत से ६६ प्रतिशत तक होता है। यह बालक शालाओं की तुलना में बालिका-शालाओं को भवन-निर्माण के लिए अधिक दिया जाता है। इस अनुदान के साथ कुछ शर्तें होती हैं जैसे शाला-भवन का अशैक्षणिक कार्यों के लिए उपयोग में न लाना,

निश्चित अवधि में भवन-निर्माण पूर्ण करना, अनुदान के अतिरिक्त जो व्यय लगना हो उसे पहले लगा देना, भूमि जहाँ इमारत निर्मित की जा रही है वह ठीक होना आदि। बिहार, मद्रास तथा मैसूर में कुछ मान्य मामलों में भवन-निर्माण के लिए कर्ज भी दिये जाते हैं।

(२) **उपकरण-अनुदान**—उपकरण-अनुदान, मान्य शैक्षणिक संस्थाओं को फर्नीचर, विज्ञान उपकरण, पुस्तकें, चार्ट, नक्शे तथा दृश्य-श्रव्य-सामग्री खरीदने के लिए दिया जाता है। यह सामान्यतः मान्य व्यय का ५० प्रतिशत के रूप में मध्य प्रदेश, आन्ध्र, राजस्थान आदि राज्यों में दिया जाता है। पंजाब में इसकी कोई सीमा निश्चित नहीं की गयी है। उत्तर प्रदेश में संस्था द्वारा व्यय की गयी रकम के बराबर धन, उपकरण-अनुदान के रूप में दिया जाता है। महाराष्ट्र में कुल मान्य व्यय का २५ प्रतिशत ही उपकरण के लिए दिया जाता है। उपकरण-अनुदान में सामान्यतः भवन-अनुदान के समान ही शर्तें रहती हैं तथा भारत के विभिन्न राज्यों में यह विभिन्न अनुपात में, सामान्यतः कुल व्यय का २५ से ७५ प्रतिशत के रूप में दिया जाता है।

(३) **विशेष अनुदान**—विशेष अनुदान, शिक्षा के विशिष्ट मदों के लिए ही दिया जाता है जैसे, टूर्नामेंट, प्रदर्शनी, मध्यान्ह भोजन आदि। अभी तक इन विशेष अनुदानों का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया है। पंजाब में बालिका-शालाओं, पिछड़े या बधिर या मूक बालकों की शालाओं को दिया जाने वाला अनुदान, विशेष अनुदान के अन्तर्गत मान्य किया जाता है। बिहार में परीक्षा, हाजिरी, दर्ज संख्या या कुशलता के आधार पर दिया गया अनुदान, इस प्रकार के अनुदान के अन्तर्गत आता है। वहाँ कृषि, संगीत, उद्योग आदि की शिक्षा के लिए भी विशेष अनुदान दिये जाते हैं। मध्य प्रदेश में संगीत, कला, बालक-मंदिर आदि शिक्षण-संस्थाओं को विशेष अनुदान दिया जाता है। राजस्थान में पुस्तकें, उपकरण तथा फर्नीचर खरीदने के लिए दिया गया अनुदान विशेष अनुदान कहलाता है। अनेक राज्यों में १४ वर्ष तक की आयु के छात्र-छात्राओं से ली गयी फीस वापिस दी जाती है। यह भी विशेष अनुदान का ही एक रूप है।

विशेष अनुदान कभी-कभी तथा कम ही, दिया जाना चाहिये। सामान्य अनुदान देने की प्रथा को आजकल अधिक मान्य किया जाता है। विशेष अनुदान केवल शाला-अभ्यासों के नवीन प्रयोग तथा शोध के लिए ही दिया जाना चाहिये।

भारतीय शिक्षा-वित्त की समस्याएँ

भारतीय शिक्षा-वित्त की अनेक समस्याएँ हैं। इनमें से निम्नांकित प्रमुख हैं :

(१) व्यय किये गये वित्त का समुचित लाभ न मिल पाना

शिक्षा पर किया गया व्यय एक महत्वपूर्ण तथा लाभ का व्यय होता है। इससे राष्ट्र तथा व्यक्ति की सम्पत्ति तो बढ़नी ही चाहिये, व्यक्ति में अनेक प्रकार के गुणों का विकास भी होना चाहिये। आजकल सामान्यतः सभी ओर से यह आवाज आती है कि शिक्षा से जो

विकास होना चाहिये वह नहीं हो पा रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शिक्षा पर किये गये व्यय का जो लाभ देश को मिलना चाहिये वह नहीं मिल पा रहा है।

(२) शिक्षा के लिए समुचित वित्त-व्यवस्था न हो पाना

भारत में स्वतंत्रता के उपरान्त, शिक्षा की माँग बहुत अधिक बढ़ी है। जनसंख्या-वृद्धि, लोकतंत्र के विकास, तथा पंचवर्षीय योजनाओं के कारण हुई आर्थिक प्रगति के कारण, शिक्षा की माँग में अत्यधिक वृद्धि हुई है। शिक्षा के विकास के कारण भी शिक्षा की माँग में वृद्धि हुई है। परन्तु राष्ट्र के पास, शिक्षा की इतनी बड़ी माँग की समुचित पूर्ति करने के लिए वित्त-व्यवस्था नहीं है। भारत आज अपने राष्ट्रीय बजट का १० प्रतिशत से भी अधिक, शिक्षा पर व्यय कर रहा है तथा राज्य-सरकारें अपने बजट का २० से २५ प्रतिशत तक, शिक्षा पर व्यय कर रही हैं फिर भी देश के विभिन्न क्षेत्रों में शिक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं की जा पा रही है। शिक्षा-वित्त के अभाव में अनेक शैक्षणिक गतिविधियाँ जैसी व्यवस्थित होनी चाहिये, नहीं हो पा रही हैं। शिक्षा-सुविधाओं में एक एकता है अर्थात् यदि प्राथमिक शिक्षा का विकास किया जाता है, जैसा कि भारत में प्राथमिकता के आधार पर किया जा रहा है, तब कुछ समय बाद, माध्यमिक तथा अन्य उच्च स्तरीय शिक्षा का विकास भी क्रमशः करना अनिवार्य हो जाता है। अतः शिक्षा पर व्यय बढ़ता ही जाता है। शिक्षा की माँग पूरक भी होती है अर्थात् यदि भवन-निर्माण किया जाता है, तब दर्ज-संख्या की वृद्धि भी होनी चाहिये। यदि शिक्षक अधिक संख्या में नियुक्त किये जाते हैं, तब उपकरण तथा भौतिक सुविधाएँ भी उतनी ही अधिक या एक निश्चित अनुपात में विकसित होनी चाहिये। फिर वर्तमान शिक्षा, केवल जमीन पर बैठा कर व्याख्यान के रूप में नहीं दी जा सकती। पुस्तकें, उपकरण, प्रयोग-कक्ष तथा दृश्य-श्रव्य सामग्री, सभी पर्याप्त संख्या में इसके लिए आवश्यक हैं। आजकल भारतीय शालाओं में बालकों को छोड़ कर अन्य सभी चीजों का अभाव है। ऐसी स्थिति में शिक्षा-वित्त की अधिक से अधिक व्यवस्था करना बहुत आवश्यक है।

देश में औद्योगिक तथा अन्य विकास के कार्यक्रम भी चल रहे हैं। इनके लिए भी पर्याप्त वित्त-व्यवस्था आवश्यक है। परन्तु इन अन्य मदों की तुलना में, शिक्षा को प्राथमिकता नहीं मिल पाती है क्योंकि शिक्षा से प्राप्ति, बहुत समय बाद होती है, जबकि उद्योगों तथा अन्य कार्यों की उपलब्धि तत्काल दिखायी देती है।

संसार के शिक्षा-वित्त तथा व्यय पर यदि विचार किया जाये तो ज्ञात होता है कि जिन राष्ट्रों ने शिक्षा की माँग के अनुसार शिक्षा उपलब्ध नहीं करायी है तथा शिक्षा की माँग की पूर्ति देर से की है, वहाँ शिक्षा पर होने वाले व्यय में वृद्धि, राष्ट्रीय आय-वृद्धि की गति से अधिक तेज होती है। अतः यदि ऐसे देश शिक्षा की माँग की पूर्ति तीव्रगति से करना चाहते हैं तो उन्हें राष्ट्रीय आय-वृद्धि की गति की अपेक्षा अधिक तेज गति से शिक्षा-व्यय में वृद्धि करनी होगी। भारत में भी यही स्थिति है। यहाँ यदि शिक्षा की समुचित माँग की पूर्ति करना है तो

राष्ट्रीय आय-वृद्धि की गति की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से शिक्षा-व्यय को बढ़ाना आवश्यक होगा। इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं।

(३) भविष्य की शिक्षा संबंधी माँग की पूर्ति करना

देश के विकास की गति को देखते हुए यह निश्चित किया जा सकता है कि भारत में अगले २० या ३० वर्षों में शिक्षा की, किस स्तर पर, क्या माँग होगी। शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने अगले २० वर्षों के लिए शिक्षा की माँग तथा व्यवस्था का उत्तम नक्शा देश के समक्ष प्रस्तुत किया है। इससे यह पता चलता है कि अगले २० वर्षों में भारत को शिक्षा की माँग की पूर्ति के लिए कितना वित्त जुटाना होगा। परन्तु प्रश्न है कि क्या देश, भविष्य में इतना अधिक वित्त शिक्षा के लिए प्रस्तुत कर सकेगा ? यदि नहीं, तो शिक्षा की भावी माँग की पूर्ति कैसे होगी ?

(४) कीमतों की सतत् वृद्धि से शिक्षा-व्यय-भार बढ़ता ही जाता है

भारत में वस्तुओं की कीमतें बढ़ती ही जा रही हैं। फलस्वरूप शिक्षा पर भी कुल व्यय बढ़ता ही जा रहा है। अभी तक देश में ऐसा कोई प्रयास नहीं किया गया जिससे कि शिक्षा व्यय को स्थिर कीमतों के आधार पर दर्शाया जा सके ताकि शिक्षा-नियोजना में सरलता हो। अतः शिक्षा-आयोग ने यह उत्तरदायित्व विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग को सौंपा है।

(५) शिक्षा-वित्त के अपव्यय को रोकना

भारत में शिक्षा पर व्यय किये गये प्रत्येक रुपये का उचित तथा पर्याप्त उपयोग नहीं हो पा रहा है। इसीलिए शिक्षा-आयोग ने कहा है कि "It is impossible to create an educational system which would meet the individual and national needs if conventional techniques, existing practices of under-utilization and wastage were to continue."[1] अतः शिक्षा-व्यय में मितव्ययिता तथा रुपये के समुचित उपयोग का प्रबंध किया जाना चाहिये। भारत में, शिक्षा-व्यय में अपव्यय अनेक क्षेत्रों में होता है जैसे, शाला-इमारत का उचित उपयोग न होना, उपकरणों का समुचित उपयोग न होना, शाला-दिन छोटा तथा वर्ष में कम दिन शिक्षण होना, कुशाग्र बुद्धि के छात्रों की शिक्षा की उचित शिक्षा-व्यवस्था न होना, शिक्षा-नियोजना का देश की मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप न होना जिससे बेकारी की वृद्धि होना, शिक्षा-प्रशासन के अस्थिर होने से शिक्षा-वित्त का अपव्यय होना, आदि। इन सभी क्षेत्रों में हो रहे अपव्यय को रोकना बहुत आवश्यक है।

---

[1] Report of the Education Commission, 1964-66, Ministry of Education, Govt. of India, Delhi, 1966, p. 486.

(६) शिक्षा के लिए स्थानीय साधनों को सक्रिय करना

भारतीय शिक्षा-वित्त पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि यहाँ शिक्षा पर स्थानीय साधनों के द्वारा बहुत कम व्यय किया जाता है। इस कारण शिक्षा-विकास के प्रयास करने का उत्तरदायित्व केन्द्र तथा राज्य शासन पर ही रहता है। इस कारण जैसा विकास होना चाहिये, नहीं हो पा रहा है। आर्थिक फीस तथा शासकीय अनुदान ही भारत में शिक्षा के प्रमुख साधन हैं। निजी प्रयासों को संगठित करने के लिए इंगलैण्ड की ऐच्छिक सोसाइटी तथा अमेरिका के फाउण्डेशन आदि के समान, संगठन या व्यवस्था भारत में अभी तक विकसित नहीं की गयी है। अतः आवश्यक यह है कि भारत में निजी प्रयासों को शिक्षा-विकास के क्षेत्र में प्रोत्साहित किया जाये।

भारतीय शिक्षा-वित्त समस्याएँ हल करने के लिए सुझाव

भारतीय शिक्षा-वित्त समस्याओं के उचित हल के लिए निम्नांकित उपाय अपनाये जा सकते हैं :

(१) शिक्षा की निरंतर बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिए केन्द्र, राज्य तथा स्थानीय प्रयासों को सहयोग से कार्य करना चाहिये। शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) ने सुझाव दिया है कि शिक्षा का प्रमुख उत्तरदायित्व, राज्य का ही होना चाहिये। केन्द्र तथा स्थानीय प्रयासों के सहयोग के बाद जो भी आवश्यक हो वह सभी व्यय राज्य को ही करना चाहिये। स्थानीय प्रयासों के विकास के लिए राज्य को बराबरी (Equalisation) के सिद्धान्त पर आर्थिक सहायता देनी चाहिये। शिक्षा-आयोग का विचार है कि अमेरिका में यह सिद्धान्त बहुत समय से सफलता से लागू किया जा चुका है तथा इसे यहाँ भी प्रारम्भ करना चाहिये इस सिद्धान्त के अनुसार स्थानीय प्रयासों को प्रति बालक एक निश्चित स्तर तक व्यय करना आवश्यक होता है। शिक्षा-अयोग का सुझाव है कि स्थानीय स्वशासन सम्पत्ति कर का २ प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करें तथा प्रति बालक ५० रु० वार्षिक व्यय आवश्यक रहे। मान लो एक नगरपालिका में सम्पत्ति कर के २ प्रतिशत से १० रु० आमदनी होती है तथा दूसरी नगरपालिका में इससे ३० रु० आमदनी है, तब राज्य-शासन को पहली नगरपालिका को ४० रु० तथा दूसरी को २० रु० अनुदान के रूप में देना चाहिये। इस प्रकार के परिवर्तन अनुदान नियमों में किये जायें।

(२) केन्द्र तथा राज्य दोनों को मिलकर शिक्षा पर और अधिक व्यय करना आवश्यक है। शिक्षा-आयोग का विचार है कि अभी केन्द्र तथा राज्य मिलकर कुल शिक्षा-व्यय का ७१ प्रतिशत व्यय करते हैं। इसे बढ़ाकर ९० प्रतिशत करना आवश्यक है। बचे १० प्रतिशत में फीस से ३ प्रतिशत, स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं से ४ प्रतिशत तथा चन्दा से ३ प्रतिशत व्यय होना चाहिये। केन्द्र राज्यों की शिक्षा पर व्यय करने की क्षमता का मूल्यांकन, समय-समय पर करे तथा इनकी क्षमता के आधार पर सहायता दे। राज्य को दी गयी वित्तीय सहायता के उचित उपयोग की समुचित जाँच आवश्यक है।

(३) केन्द्र सरकार को राष्ट्रीय छात्रवृत्ति, पिछड़ी जाति के बच्चों को छात्रवृत्ति विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग (स्नातकोत्तर तथा शोध-शिक्षा, विश्वविद्यालयों के विकास, केन्द्रीय मूल्यांकन यूनिट की स्थापना,) आयुर्विज्ञान, कृषि, टेक्नीकल शिक्षा के विकास, शिक्षा-शोध आदि के विकास के लिए और अधिक वित्त व्यय करना चाहिये।

(४) भारत में धार्मिक संस्थाओं के पास बहुत धन एकत्रित हैं। उद्योग भी शिक्षा के लिए समुचित व्यय कर सकता है। अतः इन्हें प्रोत्साहित कर शिक्षा पर इनके धन का उपयोग अधिक से अधिक किये जाने के प्रयास किये जाने चाहिये।

(५) प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व स्थानीय स्वशासन पर, माध्यमिक तथा विश्वविद्यालयीन शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर तथा टेक्नीकल, विश्वविद्यालयीन विज्ञान तथा शोध-शिक्षा का उत्तरदायित्व केन्द्र पर होना चाहिये।

(६) महिलाओं, विकलागों तथा अपंग बच्चों आदि की शिक्षा पर और अधिक ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

(७) प्रत्येक राज्य में केवल एक शिक्षा-प्रमण्डल हो तथा इसके पास स्वयं का प्रेस हो जिसमें पुस्तकें तथा स्टेशनरी प्रकाशित की जायें। इसी की आमदनी से इसका कार्य चलना चाहिये। राज्य या केन्द्र सरकार को इसे कोई सहायता देना आवश्यक न हो। इसी प्रकार विश्वविद्यालयों के पास भी प्रेस हों तथा इससे इन्हें समुचित आय हो।

(८) देश में शालाओं के भवनों तथा उपकरणों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए सरल, सस्ती इमारतों के निर्माण एवं सस्ते उपकरणों के विकास के लिए शोध किया जाना चाहिये।

(९) शाला-इमारतों के निर्माण तथा उपकरणों की व्यवस्था का अधिक भार स्थानीय साधनों पर रहे। राज्य इसमें ५० प्रतिशत के आधार पर सहायता दे।

(१०) प्रत्येक राज्य में राज्य-शिक्षा-सलाहकार समिति का विकास किया जाये। यह समिति, विभिन्न प्रकार की शिक्षा के लिए बनायी गयी शिक्षा-समिति के ऊपर हो तथा इसका कार्य सभी प्रकार की शिक्षा समितियों के कार्यों, गतिविधियों का समन्वय कर, उन्हें आवश्यक नेतृत्व प्रदान करना हो।

(११) अनेक उन्नत, विकसित तथा विकसित हो रहे राष्ट्रों में शिक्षा-वित्त-समस्या के हल के लिए शिक्षा-कर, कर्ज या बाण्ड के रूप में उधारी, आदि साधनों का समुचित उपयोग किया जाता है। जापान में शिक्षा के लिए कर्ज का उपयोग अधिक होता है। कनाडा नार्वे, स्पेन आदि देशों में करों की वृद्धि की गयी है। मिस्र तथा अमेरिका में कर्ज के द्वारा शाला-भवन निर्माण के लिए वित्त जुटाया जाता है। भारत में भी इन साधनों को जुटाया तथा उपायों को अपनाया जा सकता है। शिक्षा के लिए लाटरी का उपयोग भी किया जा सकता है।

(१२) जनसंख्या की वृद्धि तथा साक्षरों का निरक्षर होना रोकना, बहुत आवश्यक है। इससे शिक्षा-वित्त की समस्या काफी सुलझ सकती है।

(१३) शिक्षा-वित्त के अपव्यय को रोकना बहुत आवश्यक है । शिक्षा-आयोग (१९६४-६६) का विचार है कि भारत में शिक्षा-वित्त का अपव्यय काफी है। अतः उसने सुझाव दिया है कि शिक्षा पर व्यय किये गये प्रत्येक रुपये का समुचित उपयोग किया जाना चाहिये । इसके लिए शाला-भवनों तथा उपकरणों का अधिकतम उपयोग, शाला-दिन की वृद्धि, शाला लगने के दिनों में वृद्धि, राष्ट्र की मानवीय आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षा-नियोजना करना, शिक्षा-प्रशासन में गतिशीलता विकसित करना, पाठ्यक्रम तथा मूल्यांकन-सुधार, आदि उपायों को अपनाना बहुत आवश्यक है।

अभ्यास प्रश्न

अध्याय १

(१) लोकतंत्र में शिक्षा-प्रशासन अच्छा होना क्यों आवश्यक है ?

(२) लोकतंत्र में उत्तम-सुदृढ़ शिक्षा-प्रशासन की आवश्यकता तथा महत्व बतलाइये।

(३) शिक्षा-प्रशासन से आप क्या समझते हैं ?

(४) "शाला प्रशासन का उत्तरदायित्व है कि वह जीवन के मौलिक प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर कार्य करे। शिक्षा-प्रशासन का कार्य दार्शनिकों के चिन्तन तथा सामान्य प्रगति के बीच सेतु बनने का है।" मोर्ट के इस कथन की विवेचना कीजिये।

(५) "शिक्षा-प्रशासन सेवा करने वाली ऐसी गतिविधि है जिसके माध्यम से शैक्षणिक प्रक्रिया को प्रभावी ढंग से उपलब्ध किया जाता है।" फाक्स, विश तथा रफनर के इस कथन की विवेचना कीजिये।

(६) शिक्षा-प्रशासन अन्य क्षेत्र के प्रशासन से क्यों भिन्न है ? स्पष्ट करते हुए शिक्षा-प्रशासन का अर्थ स्पष्ट कीजिये।

अध्याय २

(१) शिक्षा-प्रशासन का क्षेत्र क्या रहता है ? शिक्षा-प्रशासन, कला और विज्ञान क्यों माना जाता है ?

(२) शिक्षा-प्रशासन के कार्य तथा उद्देश्य क्या होने चाहिये ?

(३) POSDCORB से तुम क्या समझते हो ? इसके विश्लेषण से शिक्षा-प्रशासन के किन कार्यों का ज्ञान होता है ? संक्षेप में लिखिये।

अध्याय ३

(१) "शिक्षा-प्रशासन का, देश-विदेश की सामाजिक संस्कृति, इतिहास, राजनीतिक संगठन आदि से बड़ा घनिष्ठ संबंध रहता है।" इस कथन की विवेचना कीजिये।

(२) शिक्षा-प्रशासन के सिद्धान्तों की विवेचना संक्षेप में कीजिये।

(३) "उत्तम शिक्षा-प्रशासन अनिवार्यतः उत्तम-मधुर मानवीय संबंधों पर आधारित रहता है।" विवेचना कीजिये।

(४) किसी भी शिक्षा-प्रशासक को शिक्षा-प्रशासन के किन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिये ? सकारण बताइये।

अध्याय ४

(१) शिक्षा-प्रशासन की प्रक्रिया क्या है ? संक्षेप में समझाइये ।

(२) शिक्षा-प्रशासन-प्रक्रिया की क्रियाएँ कौन-कौन सी हैं ? संक्षेप में समझाइये ।

(३) "शिक्षा-प्रशासन-प्रक्रिया, कार्य के आधार पर विकसित होती है, प्रशासन के आधार पर नहीं" इस कथन की विवेचना कीजिये ।

अध्याय ५

(१) शैक्षणिक गतिविधियों संबंधी विभिन्न मत क्या हैं ? संक्षेप में बताइये ।

(२) शिक्षा में परिवर्तन करने की आवश्यकता पुष्ट करने वाले कौन-कौन से कारण हैं ?

(३) शिक्षा-प्रशासन, शैक्षणिक कार्यक्रमों को किस प्रकार प्रभावी, उपयोगी तथा व्यवस्थित, बना सकता है ?

(४) सेवा-रत शिक्षकों के विकास के लिए शिक्षा-प्रशासन क्या कर सकता है ?

(५) शिक्षा-प्रशासन की शैक्षणिक गतिविधियों संबंधी, कौन-कौन सी समस्याएँ हैं ? संक्षेप में बताइये ।

अध्याय ६

(१) छात्र-समुदाय के प्रशासन संबंधी क्षेत्र कौन-कौन से हैं ? प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(२) कक्षा-उन्नति किस प्रकार प्रभावी बनायी जा सकती है ?

(३) आप कुशाग्रबुद्धि के छात्रों का व्यवस्थापन किस प्रकार करेंगे ?

(४) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

(अ) बालकों को प्रगति-पत्रक भेजना ।

(ब) छात्र-अभिलेख ।

(स) छात्र-सेवाएँ

(द) छात्र-नियंत्रण ।

(५) छात्र-समुदाय संबंधी शिक्षा-प्रशासनीय समस्याएँ कौन-कौन सी हैं ?

अध्याय ७

(१) शिक्षा-वित्त-अभिलेख तथा लेखा-जोखा का क्या महत्व है ?

(२) शिक्षा-प्रशासन में वित्त-अभिलेख तथा लेखा-जोखा संबंधी कौन-कौन से कार्य किये जाते हैं ?

(३) शिक्षा-वित्त-अभिलेख तथा लेखा-जोखा-व्यवस्था एवं प्रशासन के सिद्धान्तों की विवेचना संक्षेप में करिये ?

(४) वित्तीय लेखा-जोखा किस प्रकार का होना चाहिये ? इसके कौन से कार्य हैं ?

(५) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

(अ) शिक्षा-अभिलेख।

(ब) आडिट।

(६) शिक्षा-वित्त-अभिलेख तथा लेखा-जोखा संबंधी प्रशासनीय समस्याएँ कौन-कौन सी हैं ? संक्षेप में विवेचना करिये।

अध्याय ८

(१) "शाला-भवन-प्रशासन, शिक्षा-प्रशासकों का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।" विवेचना करिये।

(२) शाला-भवन-निर्माण-योजना बनाने के समय किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

(३) शाला-भवन में शिक्षण के अतिरिक्त और किन-किन बातों की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक रहता है ? संक्षेप में विवरण दीजिये।

(४) शाला-भवन संबंधी प्रशासनीय समस्याएँ कौन-कौन सी हैं ? संक्षेप में विवेचना करिये।

अध्याय ९

(१) शाला-समाज-संबंधों से सम्बद्ध कौन-कौन से विचार, प्रशासन-व्यवस्था से संबंधित हैं ?

(२) "शाला-समाज-संबंध त्रिकोणात्मक है।" विवेचना कीजिये।

(३) शाला या शिक्षा-प्रशासक को, समाज से संबंधित किन-किन तत्वों का ज्ञान होना आवश्यक है ? संक्षेप में लिखिये।

(४) "समाज तथा शाला-संबंध का महत्वपूर्ण संबंध छात्रों के गृहों से है, गृह तथा शाला के सहयोग को विशेष रूप से महत्व देना चाहिये।" रिवलिन के इस कथन की विवेचना करते हुए शाला और समाज के सहयोग पर अपने विचार लिखिये।

(५) आपकी राय में शाला तथा समाज के सहयोगी कार्यक्रम का क्या स्वरूप होना चाहिये।

(६) आप शाला-समाज-संबंधों के विकास का मूल्यांकन किस प्रकार करेंगे ?

(७) शाला-समाज-संबंधों से सम्बद्ध प्रशासनीय समस्याएँ कौन-कौन सी हो सकती हैं ?

अध्याय १०

(१) "शाला-स्वास्थ्य का संबंध शाला के सम्पूर्ण जीवन से रहता है।" कथन की विवेचना कीजिये।

(२) शाला-इमारत छात्रों के स्वास्थ्य को किस प्रकार प्रभावित करती है ?

(३) शाला-प्रशासक शालाओं में स्वास्थ्य की देख-रेख के लिए क्या-क्या कर सकते हैं ?

(४) शाला-स्वास्थ्य संबंधी प्रशासनीय समस्याएँ क्या हैं ? संक्षेप में विवेचना करिये ।

अध्याय ११

(१) शिक्षा के केन्द्रीय प्रशासन से क्या-क्या लाभ-हानियाँ हैं ?

(२) केन्द्रीय शिक्षा-प्रशासन संबंधी समस्याएँ कौन-कौन सी हैं ?

(३) शिक्षा के राज्य-स्तरीय प्रशासन तथा नियंत्रण से, क्या-क्या लाभ तथा हानियाँ हैं ?

(४) राज्य-स्तरीय शिक्षा-प्रशासन की समस्याओं की संक्षिप्त विवेचना करिये ।

(५) शिक्षा के स्थानीय प्रशासन तथा नियंत्रण से क्या लाभ तथा हानियाँ हैं ?

(६) स्थानीय शिक्षा-प्रशासन की समस्याओं की संक्षिप्त विवेचना करिये ।

(७) भारत में केन्द्र, राज्य, तथा स्थानीय सरकारें शिक्षा संबंधी किन-किन उत्तर-दायित्वों का निर्वाह करती हैं ?

अध्याय १२

(१) प्रशासकीय निर्देशन से आप क्या समझते हैं ? इसके आधारों की विवेचना कीजिये ?

(२) "वर्तमान समय में जीवन में जटिलताओं तथा संघर्षों की वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप यह आवश्यक है कि प्रशासकीय निर्देशन-गतिविधियाँ विधिवत तथा अधिक प्रभावी ढंग से व्यवस्थित की जायें।" उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए प्रशासकीय निर्देशन-विधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(३) शिक्षा-नेतृत्व क्या है ? शिक्षा-प्रशासनीय कार्य कौन से हैं ?

(४) शैक्षणिक प्रशासन संबंधी प्रक्रिया का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(५) शिक्षा-प्रशासनीय निर्देशन तथा नेतृत्व संबंधी समस्याओं की संक्षिप्त विवेचना करिये ।

अध्याय १३

(१) शिक्षा-प्रशासन संबंधी नवीन प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(२) आजकल शिक्षा-निर्देशन, शिक्षा-विकास तथा उन्नति में क्यों आवश्यक माना जाता है ?

(३) शिक्षा-विकास तथा उन्नति में मूल्यांकन किस प्रकार सहायक हो सकता है ?

(४) वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रशासन में क्या दोष हैं ? इन्हें किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

(५) भारतीय शिक्षा-प्रशासन को उन्नत एवं प्रभावी बनाने के लिए आप क्या करेंगे ?

अध्याय १४

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण की आवश्यकता क्यों है ?

(२) शिक्षा-पर्यवेक्षण के महत्व पर अपने विचार व्यक्त करिये।

(३) "कक्षा-शिक्षण की बढ़ी हुई समस्याओं तथा जटिलताओं का समुचित हल निकालने के लिए शिक्षा-पर्यवेक्षण अति आवश्यक है।" कथन की विवेचना करते हुए शिक्षा-पर्यवेक्षण की आवश्यकता प्रतिपादित कीजिये।

(४) विभिन्न विद्वानों की परिभाषा देते हुए शिक्षा-पर्यवेक्षण का अर्थ स्पष्ट करिये।

(५) "उचित पर्यवेक्षण ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनमें काम करने वाले सभी व्यक्ति, स्वतंत्रता से सामान्य समस्याओं को हल कर, अपने कार्य को पूर्ण और उन्नत बनाते हैं।" उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए शिक्षा-पर्यवेक्षण के अर्थ को स्पष्ट करिये।

(६) शिक्षा-पर्यवेक्षण के परम्परागत तथा आधुनिक अर्थों को स्पष्ट करिये।

अध्याय १५

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

(२) शिक्षा-पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों के चयन के समय किन-किन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है ?

(३) शिक्षा-पर्यवेक्षण-सिद्धान्तों के क्रियान्वयन में कौन-कौन सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं ? शिक्षा-पर्यवेक्षक को सिद्धान्तों के उचित निर्वाह के लिए क्या करना चाहिये ?

(४) आजकल सिद्धान्तों की महत्ता क्यों बढ़ रही है ? शिक्षा-पर्यवेक्षण के सिद्धान्तों का उल्लेख संक्षेप में करिये।

अध्याय १६

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन क्यों आवश्यक है ?

(२) शिक्षा-पर्यवेक्षण कैसा होना चाहिये ?

(३) शिक्षा-पर्यवेक्षण-नियोजन के चरणों का संक्षिप्त विवेचन करिये।

(४) शिक्षा-पर्यवेक्षण नियोजन से क्या-क्या लाभ मिल सकते हैं ?

अध्याय १७

(१) आधिकारिक तथा लोकतंत्रीय शिक्षा-पर्यवेक्षण में अन्तर स्पष्ट करिये।

(२) रचनात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के स्वरूप तथा गुण-दोषों का उल्लेख करिये।

(३) शिक्षा-पर्यवेक्षण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए नेतृत्व-शिक्षा-पर्यवेक्षण का स्वरूप तथा गुण-दोष स्पष्ट करिये ।

(४) स्वतंत्र, संकेतात्मक तथा सुधारात्मक शिक्षा-पर्यवेक्षण के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इनके गुण-दोषों को बताइये ।

(५) वैज्ञानिक शिक्षा-पर्यवेक्षण क्या है ? इसके गुण-दोषों की संक्षिप्त विवेचना करिये ।

अध्याय १८

(१) कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के उद्देश्यों की विवेचना करिये ।

(२) कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त करते हुए इसकी विधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(३) "यदि शिक्षण के स्तर में उन्नति करना है, तो यह आवश्यक है कि पर्यवेक्षक काफी समय ऐसे स्थानों में व्यय करे, जहाँ छात्र सीख रहे हैं ।" उपर्युक्त कथन की विवेचना करते हुए कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण के स्वरूप को स्पष्ट करिये ।

अध्याय १९

(१) शिक्षक के शिक्षण को उन्नत करने वाली व्यक्तिगत विधियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये ।

(२) शिक्षक के व्यक्तिगत शिक्षण-स्तर-सुधार में कक्षा-प्रयोग, प्रदर्शन-शिक्षण तथा व्यावसायिक साहित्य-अध्ययन-विधियाँ, किस प्रकार सहायक हो सकती हैं ?

(३) शिक्षकों की नियुक्ति, कक्षा-शिक्षण-पर्यवेक्षण तथा व्यक्तिगत गोष्ठियाँ, शिक्षक के व्यक्तिगत शिक्षण-स्तर को उन्नत बनाने में किस प्रकार सहायक होती हैं ?

(४) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

(अ) व्यावसायिक संगठनों की गोष्ठियाँ ।

(ब) पर्यवेक्षण संबंधी बुलेटिन ।

(स) अविधिक सम्पर्क ।

अध्याय २०

(१) शिक्षण-स्तर-सुधार के लिए उपयोगी समूह-प्रविधियों का उल्लेख करते हुए वर्कशाप-विधि का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।

(२) सेवारत शिक्षक-प्रशिक्षण तथा क्रियात्मक अनुसंधान का संक्षिप्त विवरण देते हुए यह बताइये कि ये शिक्षण-स्तर को सुधारने में किस प्रकार सहायक होते हैं ?

(३) संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।

(अ) बड़ी सामूहिक सभाएँ ।

(ब) शाला-सर्वेक्षण।

(स) ग्रीष्म-कालीन विस्तार योजना।

(४) सामूहिक परामर्श तथा अध्ययन गोष्ठियाँ, शिक्षण-स्तर-सुधार में किस प्रकार सहायक होते हैं ?

अध्याय २१

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण की समस्याओं पर अपने विचार संक्षेप में लिखिये।

(२) भारत में शिक्षण-स्तर निम्न क्यों है ? शिक्षा-पर्यवेक्षक की विभिन्न समस्याओं का हल किस प्रकार हो सकता है ?

(३) शिक्षा-पर्यवेक्षक शिक्षकों के व्यावसायिक कौशल की वृद्धि कैसे कर सकता है ?

अध्याय २२

(१) शिक्षा-पर्यवेक्षण के मूल्यांकन-सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये।

(२) शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन के कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(३) शिक्षा-पर्यवेक्षण मूल्यांकन की विभिन्न विधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(४) शिक्षण-कार्य के मूल्यांकन की विधियाँ कौन-कौन सी हैं ?

(५) शिक्षा-पर्यवेक्षकों का मूल्यांकन किन-किन विधियों द्वारा किया जा सकता है।

(६) शिक्षा-पर्यवेक्षण-मूल्यांकन संबंधी विभिन्न परीक्षणों तथा उनके द्वारा प्राप्त परिणामों का उल्लेख करिये।

अध्याय २३

(१) भारत में शिक्षा-पर्यवेक्षण का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(२) भारत में शिक्षा-पर्यवेक्षण की क्या-क्या समस्याएँ हैं ? इन्हें हल करने के उपाय सुझाइये।

(३) इंग्लैण्ड में शिक्षा-पर्यवेक्षण संबंधी गतिविधियों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(४) अमेरिका में शिक्षा-पर्यवेक्षण किस प्रकार किया जाता है ?

(५) रूस में शिक्षा-पर्यवेक्षण की व्यवस्था का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

अध्याय २४

(१) शिक्षा-नियोजन से आप क्या समझते हैं ?

(२) भारतीय शिक्षा-नियोजन के उद्देश्य बतलाते हुए इसकी विशेषताओं की विवेचना करिये।

(३) शिक्षा-नियोजन कितने प्रकार से किया जा सकता है ? इसके सोपानों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(४) भारतीय शिक्षा-नियोजन के प्रमुख दोषों का विवरण दीजिये।

(५) भारतीय शिक्षा-नियोजन के दोषों को किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

अध्याय २५

(१) शाला-सुधार-नियोजन क्यों आवश्यक है ?

(२) शाला-सुधार-नियोजन के समय आप किन-किन बातों की ओर ध्यान देंगे ?

(३) शाला-सुधार-नियोजन से संबंधित शिक्षा-प्रशासन की समस्याओं का संक्षिप्त विवेचन करिये।

(४) शाला-सुधार-नियोजन के लिए एक स्वयं-अध्ययन प्रपत्र तैयार करिये।

अध्याय २६

(१) शिक्षा-वित्त का महत्व बतलाते हुए विवेचन करिये कि आजकल शिक्षा की माँग क्यों अधिक हो रही है ?

(२) शिक्षा के साधनों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(३) अनुदान से आप क्या समझते हैं ? अनुदान के आधार-भूत सिद्धान्त कौन-कौन से हैं ?

(४) अनुदान के प्रकारों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(५) अच्छे अनुदान के गुणों की विवेचना करते हुए भारतीय शिक्षा-अनुदान-नियमों में सुधार सुझाइये।

(६) शिक्षा-व्यय की मदों का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

(७) भारतीय शिक्षा-वित्त की समस्याओं का संक्षिप्त विवरण देते हुए, सुधार के उपाय बताइये।

संदर्भ ग्रन्थ

(REFERENCE BOOKS)

Adams & Dickey, *Basic Principles of Supervision*, American Eook Co., New York, 1953

Alberty, H. B. & Thayer, V. T., *Supervision in the Secondary Schools*, Heath and Company, Boston, 1931

Allen, Hollis P., *The Federal Government and Education*, McGraw Hill Book Co. Inc., New York, 1950

American Association of School Administrators, "The Superintendent as Instructional Leader", Thirty-fifth Year Pook, NEA, Washington, 1957

American Association of School Administrators, "Public relations for America's schools", *Thirtieth Year Book*, Washington D. C., 1950

American Association of School Administrators, "Health in the schools", *Twentieth Year Book*, NEA, Washington D. C., 1950

American Council on Education, *Source book on Federal State Relations in Education*, American Council on Education, Washington D. C., 1945

Association for Supervision and Curriculum Development, "Leadership for improving instruction", 1960 *Year Book*, NEA, Washington D. C.

Ayer, Fred C., *Practical Child Accounting*, The Steck Co., Austin Texas, 1949

Ayer, Fred C., *Fundamentals of Instructional Supervision*, Harper and Brothers, New York, 1954

Ayer, Fred C. and Dorothy Reed Pekham, *Check List for Planning and Appraising Supervision*, The Steck Company, Austin Texas, 1948

Bail, P.M., "Do teachers receive the kind of supervision they desire ?" *Journal of Educational Research*, No. 716, May 1947

Barr, A.S., Burton, William H. & Brueckner, Leo J., *Supervision*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1947

Barr, A. S. & Burton, W. H., *Supervision of Instruction*, Appleton Century Crofts, New York, 1926

Bartky, John A., *Supervision as Human Relations*, Heath and Co., Boston D. C., 1953

Boardman, Charles W., Douglass, Harl P. & Bent, Ruddyyard K., *Democratic Supervision in Secondary Schools*, Houghton Mifflin Co., New York, 1953

Briggs, Thomas H. & Justman, Hoseph, *Improving Instruction through Supervision*, Macmillan & Company, New York, 1952

Briggs, Leonard and Justman, *Secondary Education*, Macmillan & Co., New York, 1950

Burke, Arvid J., *Financing Public Schools in the United States*, Harper and Brothers, New York, 1951

Burnham, Reba M., & Martha, L. King, *Supervision in Action*, American Association for Supervision and Curriculum Development, NEA, Washington, 1961

Burton, W. H., *Supervision and the Improvement of Instruction*, Appleton Century Crofts, New York, 1922

Burton, William H., & Brueckner, Leo J., *Supervision—A Social Process*, Appleton Century Crofts, New York, 1955

Calvin Grieder and William Evertt Rosenstengal, *Public School Administration*, The Ronald Press Co., New York, 1954

Campbell, Clyde, *Practical Applications of Democratic Administration*, Harper and Brothers, New York, 1952

Campbell & Cregg, *Administrative Behaviour in Education*, Harper and Brothers, New York, 1957

Campbell, Ronald F. and John A. Ramseyer, *School Community Relationships*, Allyn and Bacon, nc., Boston, 1955

Campbell, Ronald F., John E. Corbally Jr. & John A. Ramseyer, *Introduction to Educational Administration*, Allyn and Bacon Inc. Boston, 1958

Carter V. Good (ed.), *Dictionary of Education*, McGraw Hill Book Co., New York, 1945

Cartwright, Dorwin & Zander, *Group Dynamics—Research and Theory*, Row, Peterson & Co., Illinois, 1953

Clapp, Garden D., "Toward a science of administration", *Public Administration Review*, 1 : 82-84-Autumn, 1940

Cocking, Walter D., "Goals of school administration", *School Executive*, 65, December 1945

Corey, Stephen M., "*Action Research to Improve School Practices*, Bureau of Publications, Teachers College, Columbia University, New York, 1953

Crasley Murial, *Supervision as Cooperative Action*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1957

Cubberley, Ellwood P., *State School Administration*, Houghton Mifflin Company, New York, 1927

Cubberley, Ellwood, P., *Public Education in the United States*, Hougton Mifflin Company, New York, 1927

Dabin, Robert & Others, "*Human Relationships in Administration*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1956

Davies, Daniel and Anderson, *Patterns of Educational Leadership*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliff, 1956

De-Young, *Introduction to American Public Education*, McGraw Hill Book Co., New York, 1955

Dent, H. C., *Change in English Education,* University of London Press Ltd., London, 1952

Department of Supervisors and Directors of Instruction, *Supervision and the Creative Teacher,* Washington D. C., NEA, 1932

Department of Superintendents, *Eighth Yearbook,* "The superintendent surveys supervision", Washington D. C., NEA, 1930

Diederich, P. B. & Til, W. V., *The Workshop,* Hinds, Haydenand Eldridge Inc., New York, 1945

Dreisbach, Dodson E., *A survey of opinions of the supervising principals, elementary principals, and elementary teachers concerning the in-service programs conducted in the joint school systems of Berks country Pennsylvania,* Doctoral Dissertation, Temple University, 1959

Duff, Lloyd W., *Criteria for evaluating the supervision program in school systems,* Doctoral dissertation, The Ohio State University, 1961

Edmonson, Roemer and Bacon, *Administration of the Modern Secondary School,* Macmillan & Co., New York, 1953

Engelhardt, N. L., Engelhadt, N. L. Jr. & Stauton Leggett, "*Planning Elementary School Building,* F. W. Dodge Corporation, New York, 1953

Engelhardt, N. L., Engelhadt, N. L. Jr. & Stauton Leggett, *Planning Secondary School Buildings,* Reinhold Publishing Corporation, New York, 1949

Fox, Bish, Ruffner, *School Administration—Principles and Procedures,* Prentice Hall Inc., New York, 1949

Franseth Jane, *Learning to Supervise Schools,* Federal Society Agency, U. S. Office of Education, Washington, D. C., Circular No. 289

Franseth Jane, "Improving the curriculum and teaching through action research", *School Life,* XLII, No. 4, December 1959

Franseth Jane, *Supervision as Leadership,* Row Peterson & Co., Evanston, Illinois, 1961

French, Hull, Dodds, *American High School Administration,* Rinehart & Co. Inc., New York, 1956

Funk & Livingston, *A tri-dimensional view of the job of educational administration,* CPEA—Mar. Teachers College, Columbia University, New York, 1951

Goslin, Orin B. & Calvin, M. Street, *Improving Competence in Educational Administration,* Harper and Brothers, New York, 1956

Grieder & Rosenstengel, *Public School Administration,* The Ronald Press Company, New York, 1954

Griffiths Daniel E., *Human Relations in School Administration,* Appleton Century Crofts Inc., New York, 1956

Gulick & Urwick, *Papers on the Science of Administration,* Institute of Public Administration, Columbia University, 1937

Gwynn J. Minor, *Theory and Practice of Supervision,* Dodd, Mead & Co., New York, 1961

Hammock and Owings, *Supervising Instruction in Secondary Schools*, McGraw Hill Book Co., New York, 1955

Hans, Nicholas, *Comparative Education*, Routledge & Kegan Paul Limited, London, 1949

Henery, N. B., "Conditions of Research in public administration to educational administration", Fiftieth Annual Conference for administrative officers of public and private schools, University of Chicago Press, Chicago, 1946

Herman, Allen C., *Supervision in Selected Secondary Schools*, Doctoral dissertation, University of Pennsylvania, 1947

Hicks, Hanne J., *Educational Supervision in Principle and Practice*, The Ronald Press Co., New York, 1960

Jordon, William C., *Elementary School Leadership*, McGraw Hill Book Co., New York, 1959

Kafauver, G. N., "Reorientation of educational administration", *Forty-fifth Yearbook*, National Society for the Study of Education, Part II, 1946

Kalsen, Palmer, J., *Practical Supervision*, McGraw Hill Book Co., New York, 1945

Kandal, I. L., *Studies in Comparative Education*, George Harrap & Co. Ltd., London, 1933

King Beatrice, *Soviet Russia goes to School*, People's Publishing House Ltd., Delhi, 1956

Kochher, S. K., *Secondary School Administration*, University Publishers, Delhi, Jullundur, 1964

Linn, H. H., *Practical School Economics*, Teacher's College, Columbia University, New York, 1934

Mackenzie & Corey, *Instructional Leadership*, Bureau of Publication, Teachers College, Columbia University, New York, 1954

Melchoir, William T., *Instructional Supervision*, Heath & Co., Boston D: C., 1950

Millar Ward I, *Democracy in Educational Administration*, Bureau of Publication, Teachers College, Columbia University, New York, 1942

Ministry of Education, Government of India, New Delhi, "The Report of the Education Commission, 1964-66", 1966

Misra, Atmanand, *The Financing of Indian Education*, Asia Publishing House, Bombay, 1967

Moehlman, Arthur B. & I. A. Vanzwold, *School Public Relations*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1957

Moorer, San H., *How Good is your Supervisory Program*, Florida State Dept. of Education, Florida

Moorer, San, H., *Supervision: the Keystone to Educational Progress*, Talla Prassee, Florida State Dept. of Education, 1952

Morphet, Johns & Reller, *Educational Administration—Concepts, Practices and Issues*, Prentice Hall Inc., New York, 1959

Mort, Paul R., *Principles of School Administration*, McGraw Hill Book Co., New York, 1946

Mort & Reusser, *Public School Finance*, McGraw Hill Book Co., New York, 1951

Mukerjee, L., *Problems of Administration of Education in India*, Kitab Mahal, Allahabad, 1960

Mukerjee, S. N., *Secondary School Administration and Functions in India*, Acharya Book Depot, Baroda, 1963

Myers, Roberts S., *The Development of Leadership for Leadership Education*, Doctoral dissertation, University of Florida, 1954

National Society for the Study of Education, "Inservice education for teachers, supervisors and administrators", *Fifty-sixth Yearbook*, Part I, University of Chicago Press, Chicago, 1957

NEA, Department of Rural Education—"Health, Physical education and Recreation in small schools", *The Association*, Washington D. C., 1948

Neagley, Ross L. & Evans, N. Dean, *Hand book for Effective Supervision of Instruction*, Prentice Hall Inc., Englewood Cliffs, 1964

Nurullah and Naik, *A Students History of Education in India*, Macmillan & Co., Bombay, 1964

Otto, H. J., *Promotion Policies and Practices in Elementary Schools*, Appleton Century Crofts Inc., New York, 1944

Parker, J. Cecil, "Guide lines for in-service education", *Fifty-sixth Yearbook*, National Society for the Study of Education, Part I, 1957

Pittenger, B. F., *Local Public School Administration*; McGraw Hill Book Co., New York, 1951

Ramnathan, G., *Educational Planning and National Integration*, Asia Publishing House, Bombay, 1965

Reeder, Edwin H., *Supervision in the Elementary School*, Houghton Mifflin Company, Boston, 1953

Richey, J. A., "Occasional reports", Report No.12, 1923

Roarer, John A., *Principles of Democratic Supervision*, Bureau of Publications of Teacher's College, New York, 1942

Robinson and Vaizey, *The Economics of Education*, Proceedings of a conference held by the International Economics Association, Macmillan & Co., New York, 1966

Sears, Jesse B., *The Nature of Administrative Process*, McGraw Hill Book Co., New York, 1950

Shane and McSwain, *Evaluation and the Elementary Curriculum*, Henry Hold and Co., New York, 1951

Shore, Shore, Maurics I., "Soviet Education", *Philosophical Library*, New York, 1947

Spears, Harold, *Improving the Supervision of Instruction*, Prentice Hall Inc., New York, 1955

The Society for the Promotion of Education in India, *World Trends in Education*, Madras-28

Thut & Adams, *Educational Patterns in Contemporary Societies*, McGraw Hill Book Co., New York, 1964

Tyler, Ralph S., *Training administrative officers for democratic leadership in democratic practices in school administration*, University of Chicago Press, Chicago, 1939

Udayshanker & Ahluwalia, *Development of Education in India*—1947-1966, Department of Education, Kurukshetra University, Kurukshetra, 1967

UNESCO, *Elements of Educational Planning*, Educational Studies and documents No. 45 (Paris: Workshop of UNESCO, 1963)

UNESCO, *Educational Planning*, Publication No. 242 (Paris: International Bureau of Education, 1962)

United States Office of Education, *Health Instruction in Secondary Schools*, Superintendent of Documents, Washington D. C., Pamphlet No. 110, 1951

Vaizey, John, *Costs of Education*, George, Allen and Unwin, London, 1958

Vaizey, John, *The Economics of Education*, Faber and Faber, London, 1962

Wallin, J. F. & C. L. Brownell, *Administration of Health Education and Physical Education*, W. B. Sannders Co., Philadelphia, 1951

Wiles, Kimball, *Supervision for Better Schools*, Prentice Hall Inc., New York, 1950

Yauch, Wilber A., *Improving Human Relations in School Administration*, Harper Brothers, New York, 1940

Yeager, W. A., *Administration and the Pupils*, Harper and Brothers, New York, 1949

Zelency, Leslie D., "Leadership", *Encyclopedia of Educational Research*, Macmillan & Co., New York, 1950

सुखिया, एस० पी०, **विद्यालय-प्रशासन एवं संगठन**, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६५

मलैया, के० सी०, **शिक्षा संगठन**, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-६, १९६४

मलैया, के० सी०, **तुलनात्मक शिक्षा**, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-१

नेहरू, जवाहरलाल द्वारा दिया गया भाषण, २९ मार्च, १९५४, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, नई दिल्ली

गर्ग, शोभा, **शिक्षा-प्रशासन एवं पर्यवेक्षण**, किताब महल, इलाहाबाद, १९६८